वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं. 24
ISBN 978-93-80353-58-6

# प्रवचन निर्देशिका

*–रचयित्री –*

**परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि**

## श्री ज्ञानमती माताजी

भगवान शांतिनाथ जन्म, दीक्षा व निर्वाणकल्याणक दिवस–ज्येष्ठ कृ. चतुर्दशी, 11 जून 2010 को जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा घोषित ''प्रथमाचार्य श्री शांतिसागर वर्ष'' के अन्तर्गत प्रकाशित

**-प्रकाशक-**

**दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान**
जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.
फोन नं.- (01233) 280184, 292943
**Website : www.jambudweep.org**
**E-mail : ravindrajain@jambudweep.org**

| चतुर्थ संस्करण | वीर निर्वाण संवत् 2537 | मूल्य |
|---|---|---|
| 500 प्रतियाँ | चैत्र कृ. एकम् | 60/-रु. |
| | 20 मार्च 2011 | |

**दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित**

**वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला**

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं वृहद् ग्रंथों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएं भी प्रकाशित होती रहती हैं।

*–: संस्थापिका एवं प्रेरणास्रोत :–*

**परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी**

*–: मार्गदर्शन :–*

**प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी**

*–: निर्देशन :–*

**धर्मदिवाकर पीठाधीश क्षुल्लकरत्न श्री मोतीसागर जी महाराज**

*–: सम्पादक :–*

**कर्मयोगी ब्र. रवीन्द्र कुमार जैन**

प्रथम संस्करण- सन् 1978-1100 प्रतियाँ, द्वितीय संस्करण-सन् 1979-2000 प्रतियाँ, तृतीय संस्करण-सन् 1991-2200 प्रतियाँ प्रकाशित

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

**कम्पोजिंग - ज्ञानमती नेटवर्क**
**जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.**

# सम्पादकीय

**–कर्मयोगी ब्र.रवीन्द्र कुमार जैन**

विद्वान समाज के दर्पण हैं। विद्वानों की आदर्श वाणी एवं उनके आदर्श जीवन से समाज को दिशा प्राप्त होती है।

सभी विद्वान संगठित होकर समाज को सही मार्गदर्शन दें, पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रंथों का आधार बनाकर प्रवचन करें, इसी भावना से भीण्डर रजत जयंती अधिवेशन में लिये गये निर्णयानुसार, 2 जुलाई 1978 को श्री भा. शांतिवीर दि. जैन सिद्धान्त संरक्षिणी सभा के महामंत्री श्री गणेशीलाल जी रानीवाला एवं गांधीवादी विचारधारा के कर्मठ कार्यकर्त्ता श्री त्रिलोकचंद जी कोठारी, कोटा आदि महानुभावों ने हस्तिनापुर पधारकर पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी के चरणकमलों में प्रशिक्षण शिविर के निर्देशन हेतु प्रार्थना की। पूज्य माताजी ने उपस्थित महानुभावों की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए प्रशिक्षण-शिविर का मार्गदर्शन दिया तथा उसकी सफलता हेतु अपना शुभ आशीर्वाद प्रदान किया।

पूज्य माताजी का आशीर्वाद प्राप्तकर उपस्थित सभी महानुभावों ने पूज्य माताजी के समक्ष ही बैठकर प्रशिक्षण शिविर का एक प्रारूप तैयार करके प्रथम प्रशिक्षण शिविर पूज्य माताजी के सान्निध्य में ही सम्पन्न हो, ऐसा निवेदन किया।

प्रशिक्षण शिविर के संयोजकों ने एक यह भावना भी व्यक्त की कि शिविर में प्रशिक्षण के आधारस्वरूप सम्यग्दर्शन आदि निर्णीत विषयों पर एक प्रामाणिक पुस्तक होनी चाहिए जिससे सभी प्रशिक्षार्थियों को एकरूपता से शिक्षण प्राप्त हो सके। इस महान कार्य के लिए भी शिविर संयोजकों ने पूज्य माताजी से निवेदन किया। पूज्य माताजी ने स्वास्थ्य विशेष अनुकूल न होते हुए भी निवेदन को स्वीकार किया। उसी के फलस्वरूप गागर में सागररूप यह ''प्रवचन निर्देशिका'' पुस्तक आप के हाथों में सादर प्रस्तुत है।

पूज्य आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी ने इस ग्रंथ के निर्माण में लगभग 68 ग्रंथों को आधार बनाकर बहुत ही अल्प समय (मात्र 2 माह) में इसका लेखन सम्पन्न कर दिया, जिसका अध्ययन करके सारा जैन समाज युग-युग तक पूज्य माताजी की आगमोक्त लेखनी से लाभान्वित होता रहेगा। साथ ही वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला के पुष्प के रूप में इस कृति को प्रस्तुत करते हुए दि.



जैन त्रिलोक शोध संस्थान अपार हर्ष का अनुभव करता है।

वास्तव में 'सम्यग्दर्शन' मोक्षमार्ग और मोक्ष का मूल है। इसके बिना चिच्चैतन्य, त्रिकाली ध्रुव ऐसी भगवान आत्मा के आनन्द का अनुभव प्राप्त नहीं हो सकता। प्रवचन निर्देशिका पुस्तक समस्त प्रबुद्ध वर्ग के समीचीन ज्ञानवर्द्धन में सहायक सिद्ध होगी ऐसा हमें पूर्ण विश्वास है और यही इस पुस्तक के लेखन की वास्तविक सफलता है।

इस पुस्तक के लेखन में निम्न ग्रंथों को आधार बनाया गया है–

1. कषायपाहुड़ सुत्त, 2. जयधवला पुस्तक, 3. धवला पुस्तक-1, 4. धवला पुस्तक-6, 5. धवला पुस्तक-8, 6. धवला पुस्तक-9, 7. समयसार, 8. प्रवचनसार, 9. नियमसार, 10. पंचास्तिकाय, 11. अष्टपाहुड़, 12. रयणसार, 13. मूलाचार (सटीक), 14. अष्टसहस्री, 15. आलाप पद्धति, 16. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 17. तत्त्वार्थवृत्ति, 18. तत्त्वार्थसूत्र, 19. देवागम स्तोत्र, 20. गोम्मटसार जीवकांड, 21. गोम्मटसार कर्मकांड, 22. श्लोकवार्तिक, 23. सर्वार्थसिद्धि, 24. द्रव्यसंग्रह, 25. आत्मानुशासन, 26. रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, 27. सागारधर्मामृत, 28. भगवतीआराधना, 29. उमास्वामी श्रावकाचार, 30. वसुनंदि श्रावकाचार, 31. अमितगति श्रावकाचार, 32. सावयधम्म दोहा, 33. चारित्रसार, 34. भावसंग्रह, 35. यशस्तिलकचम्पू, 36. प्रतिक्रमण ग्रंथत्रयी, 37. लब्धिसार (सटीक), 38. क्रियाकलाप, 39. यति प्रतिक्रमण, 40. क्षत्रचूड़ामणि, 41. स्तुतिविद्या, 42. स्वयंभूस्तोत्र, 43. ज्ञानार्णव, 44. आदिपुराण, 45. उत्तरपुराण, 46. पाण्डवपुराण, 47. धर्मामृत, 48. आराधना कथाकोश, 49. भद्रबाहु चरित, 50. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, 51. नंदिसंघ की पट्टावली, 52. नीतिसार, 53. पद्मनंदि पञ्चविंशतिका, 54. तिलोयपण्णत्ति, 55. आचार्य महावीरकीर्ति स्मृति ग्रंथ, 56. उपासकाध्ययन, 57. श्रेणिक चरित, 58. हरिवंश पुराण, 59. पद्म पुराण (मूल), 60. अनगार धर्मामृत, 61. प्रायश्चित्त चूलिका, 62. मूलाराधना सटीक, 63. गद्य चिंतामणि, 64. श्रुतावतार (इन्द्रनंदिकृत), 65. आचारसार, 66. मूलाचार उत्तरार्ध (सटीक), 67. मूलाचार (श्री कुंदकुंद कृत), 68. प्रतिष्ठातिलक।

# दो शब्द

**–ब्र. कु. इन्दू जैन (संघस्थ)**

प्र—प्रकृष्ट रूप से, वचन—हित, मित, प्रिय वचनों को बोलना, उसके द्वारा अपनी बात को सामने वाले को हृदयंगम करा देना भी एक कला है जिसे प्रवचन कहते हैं। वस्तुतः देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति हो या देश, धर्म, राज्य, राष्ट्र की सुरक्षा, यह एक ऐसी अद्भुत कला है जिसके द्वारा उपदेशक प्राणियों में नूतन चेतना का संचार कर सकता है, अचेतन में प्राण फूँक सकता है। इसके कई उदाहरण ग्रन्थ पुराणों, इतिहासों में पढ़ने को मिलते हैं। लोकव्यवहार में देखें तो भारत की आजादी में इस कला ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। चाहे वह गरम दल रहा है अथवा नरम दल, सबने अपने-अपने तरीके से इस कला का ही आश्रय लेकर भारत को आजाद कराने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

आर्षमार्ग में गुरुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ''भवाब्धेस्तारको गुरुः'' भवरूपी समुद्र को पार करने के लिए गुरु नौका के समान है और भी कहा है कि "Teacher is like a candle, which lights others by consuming itself" अर्थात् गुरु मोमबत्ती की तरह स्वयं जलकर दूसरों को प्रकाश देता है। वास्तव में गुरु प्रज्ञारूपी चक्षु प्रदान करने में समर्थ है।

यूँ तो आचार्यों ने प्रत्येक श्रावक के लिये षडावश्यक कर्त्तव्यों के बारे में बताया है जिसमें आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने दान और पूजा को मुख्य बताते हुए स्वाध्याय को परम तप कहा है परन्तु वर्तमान में शास्त्र-पुराणों को पढ़ने का समय आज की पीढ़ी के पास नहीं है। आज आवश्यकता है उन्हें नए रूप में धर्म से जोड़े रखने की, ऐसे भौतिकवादी तथाकथित आधुनिक युग में प्राचीन आदर्शों को सहेजते हुए नये आदर्श अपनाना और समयानुसार उनका प्रस्तुतीकरण करना आवश्यक है और ऐसे में रत्नत्रयधारी मुनि-आर्यिका आदि साधु ही हमारे लिए अवलम्बन हैं जिनकी वाणी, जिनका आचरण, जिनकी चर्या हमें मोक्षमार्ग में कल्याण के पथ पर अग्रसर करने में अचूक औषधि के समान है। लोक में वाणी का महत्त्वपूर्ण स्थान है, विश्व में जो महापुरुषों की श्रृंखला दिखाई पड़ती है वह वाणी का ही उपकार है क्योंकि हमारे पूज्य महापुरुष, सन्तगण, गुरुजन मात्र उस वाणी को प्राणी के लिए उपदेशित नहीं करते अपितु



उसे पहले निज में उतारते हैं फिर उसके परिपालन की जीवों को शिक्षा देते हैं अर्थात् ''यथा चित्तं तथा वाचो, यथा वाचस्तथा क्रिया'' इसलिए संसार में प्रत्येक प्राणी सन्तों की वाणी पर विश्वास करते हैं।

यह हमारा परम सौभाग्य है कि चहुँमुखी प्रतिभा की धनी इस युग की साक्षात सरस्वतीस्वरूपा जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी परम पूज्य गणिनी प्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी का वरदहस्त हमें प्राप्त हुआ है। जैन समाज को वह अनमोल निधि प्राप्त हुई है जिनके जीवन का प्रत्येक क्षण स्वपर कल्याण के साथ-साथ जिनधर्म, जिनागम की, देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति में बीतता है ऐसी परम वंदनीय, राष्ट्रगौरव माताजी के चरण जिस तीर्थ पर पड़े वह तीर्थ आकाश की ऊँचाईयों को प्राप्त हो गया। जिस भव्य जीव पर उनकी दृष्टि पड़ी वह मानो संसार सागर से ही पार हो गया। आज के युग में आचार्य अकलंक देव के समान धर्म का अलख जगाने वाली पूज्य ज्ञानमती माताजी ने अपने 270 से भी अधिक ग्रन्थों की श्रृंखला में ''प्रवचन निर्देशिका'' नामक ग्रन्थ को गागर में सागर के समान सजाकर विद्वत्वर्ग के समक्ष उस समय प्रस्तुत किया जब इसकी महती आवश्यकता थी। लगभग 68 ग्रन्थों को आधार बनाकर पूज्य माताजी ने इस पुस्तक का लेखन करके जैनागम का सार ही विद्वानों को प्रदान कर दिया जिसकी एक-एक पंक्ति हृदयंगम करने योग्य है। अगर विद्वान या विद्वान बनने, प्रवचन कला सीखने का इच्छुक व्यक्ति मात्र इस पुस्तक को ही आधार बनाकर इस पर अमल करे तो वह प्रखर वक्ता बन सकता है। स्वयं प्रखर व्यक्तित्व की धनी पूज्य माताजी जब 'आस्था चैनल' पर प्रवचन के माध्यम से भक्तों को सम्बोधित करती हैं तो आगम के गूढ़ विषयों को भी सरल रूप में श्रोता घर बैठे प्राप्त कर लेते हैं और उनकी तमाम शंकाओं का समाधान होकर देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति में दृढ़ता आ जाती है।

वस्तुतः ज्ञान की साक्षात् देवीस्वरूपा, ज्ञानसूर्य पूज्य माताजी की ज्ञानरश्मियाँ प्रत्येक ज्ञानपिपासु, आत्मजिज्ञासु और संसार जलधि से पार होने वाले भव्य जीवों के लिए सेतु के समान हैं।

इस पुस्तक के द्वारा विद्वान अथवा विद्वान बनने के इच्छुक प्राणी अपनी ज्ञानवृद्धि करते हुए प्रत्येक बिन्दु से निष्णात होकर अपने लक्ष्य में सफल होवें और एक दिन अपनी आत्मा को परमात्मा बनाते हुए मुक्ति पदवी की प्राप्ति में भी सक्षम हों, दूसरों को ज्ञान प्रदान करते-करते स्वयं भी कैवल्यधाम को प्राप्त करें यही शुभेच्छा है।

# *प्रस्तावना*

# प्रवचन निर्देशिका : एक दृष्टि में

**–प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती**

जिस प्रकार संसार में शिल्पकला, वास्तुकला, युद्धकला, लेखनकला आदि अनेक कलाएँ प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार प्रवचन – उपदेश करना भी एक विशेष कला का परिचय देना है।

"प्रवचन निर्देशिका" नामक यह पुस्तक प्रवचन की कुंजी है इसमें पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी ने आगमोक्त विषयों पर प्रवचन करने हेतु विद्वानों को अनेकों दिशा निर्देश दिए हैं। वे अपने युग की प्रभावक लेखिका एवं प्रवक्त्री हुई हैं। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि किसी एक ही विद्वान् में सभी गुण मिलने दुर्लभ होते हैं। कोई स्वाध्यायी होते हैं, कोई लेखक होते हैं, कोई चिन्तक और कोई मात्र प्रवचनकला में प्रवीण होते हैं किन्तु ज्ञानमती माताजी में ये सारे गुण एक साथ समाहित हो गये हैं। (1) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग आपके जीवन का प्रमुख अंग रहा है जिसका एक मात्र उदाहरण पर्याप्त है कि दिन में 8-8 घंटे तक अपने शिष्य-शिष्याओं को कठिन से कठिन विषयों का अध्ययन आपने पूर्व संस्कारवश कराया, जिससे स्वाध्याय नामक तप आपके हृदय में प्रखर रूप से प्रगट हुआ। (2) लेखन कला में तो इन्होंने नारी जाति का इतिहास ही परिवर्तित कर दिया, इस युग की प्रथम नारी के रूप में आपके द्वारा किया गया विशाल साहित्य सृजन प्राचीन नारियों के कृतित्व पर भी प्रश्नचिन्ह लगा देता है। अष्टसहस्री जैसे क्लिष्ट ग्रंथ का बिना गुरुमुख से पढ़े हिन्दी में अनुवाद कर देना आपके ज्ञानावरण कर्म के विशेष क्षयोपशम का परिचायक है। (3) इनके चिन्तन की विलक्षणता ने जम्बूद्वीप की अमरकृति संसार को प्रदान किया है। जो आज तक वेद-पुराणों के पन्नों पर ही सीमित था, उसे हस्तिनापुर की भूमि पर साकार करके विज्ञान को भी चुनौती देने का अप्रतिम साहस किया है। (4) प्रवचन कला में आप एक सिद्धहस्त कलाकार की भांति श्रोताओं में देव-शास्त्र-गुरु के प्रति श्रद्धा का स्रोत प्रवाहित कर देती हैं।

आपने अपने गहन अध्ययन के बल पर सन् 1978 में विशेषकर विद्वानों के लिए 'प्रवचन निर्देशिका' नामक यह पुस्तक लिखकर एक अमूल्य धरोहर के रूप में जैन समाज को प्रदान की जो कि तत्कालीन आयोजित प्रशिक्षण शिविर के लिए मानो वरदान ही सिद्ध हुई थी। लगभग 205 पृष्ठों में निबद्ध इस "प्रवचन निर्देशिका" ग्रंथ के बारे में यद्यपि कुछ भी लिखना मेरे लिए अशक्यानुष्ठान ही है तथापि किञ्चित परिचय प्रदान करती हूँ–



इस ग्रंथ में 9 अध्यायों में अलग-अलग विषयों पर प्रकाश डाला गया है, जिसमें सर्वप्रथम "प्रवचन पद्धति का निर्देश" नामक अध्याय में बताया है कि उत्कृष्टरूप से प्रवचन करने का अधिकार तो आचार्य परमेष्ठी को ही है। उन आचार्य का लक्षण भी आत्मानुशासन ग्रंथ के आधार से बताया है कि धर्मोपदेशक आचार्य में 12 गुण होने चाहिए। वे ही 12 गुण उस विद्वान प्रवक्ता में भी होने चाहिए, जो समाज में प्रवचन के लिए जाते हैं।

इसके अतिरिक्त लोकव्यवहार संबंधी अन्य 21 आवश्यक गुणों का भी वर्णन किया है अनंतर प्रवचन का प्रतिपाद्य विषय और उसके फल पर भी प्रकाश डाला है। यदि इस प्रथम अध्याय में वर्णित समस्त विषय विद्वान हृदयंगम कर लें तो वे समाज को निश्चितरूप से सत्यपंथ का मार्गदर्शन कराने में सक्षम हो सकते हैं।

द्वितीय परिच्छेद में सम्यग्दर्शन का अतिसुन्दर वर्णन नियमसार, गोम्मटसार, धवला आदि ग्रंथों के आधार से दिया है। आज सम्यग्दर्शन एक विवादित विषय बना हुआ है किन्तु चारों ही गतियों में विभिन्न कारणों से आज भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता है यह बात सप्रमाण प्रस्तुत की गई है अतः वक्ता के लिए अन्य तमाम ग्रंथ एकत्रित करने के बजाय एक ही जगह सारा विषय समाहित कर दिया गया है।

इसी अध्याय में सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए पाँच लब्धियाँ लब्धिसार एवं धवला, कर्मकांड, कसायपाहुड़ सुत्त, श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक आदि ग्रंथों के आधार से दर्शाई हैं। इसी अध्याय के अंत में यह भी बताया है कि काललब्धि मात्र कहने से पाँचों लब्धियाँ अन्तर्गर्भित ही समझी जाती हैं।

आज इस पंचमकाल में क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता है। उपशम और क्षयोपशम ये दो सम्यक्त्व ही होते हैं क्योंकि केवली-श्रुतकेवली का पादमूल आज प्राप्त नहीं है उसके बिना क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है।

तृतीय परिच्छेद में सम्यक्त्व के लक्षण दर्शाए गये हैं।

यह अध्याय विशेष पठनीय है क्योंकि भगवती आराधना, धवला, गोम्मटसार जीवकांड आदि के प्रमाणों से यह बतलाया गया है कि जिनेन्द्र भगवान की वाणी पर श्रद्धा करने वाला नियम से सम्यग्दृष्टि है किन्तु यदि अपने को सम्यग्दृष्टि कहने वाला प्राणी सूत्रनिर्दिष्ट वाङ्मय के एक पद का भी श्रद्धान करना छोड़ देता है तो वह मिथ्यादृष्टि बन जाता है। सम्यक्त्व के दश भेद भी आत्मानुशासन के अनुसार दिये है। इसी प्रकार बीसों ग्रंथों के आधार से सम्यग्दर्शन के लक्षण और भेद बताए हैं। इस अधिकार के अन्त में एक प्रकरण अत्यंत रोचक है कि सम्यग्दृष्टि जीव मरकर कहाँ कहाँ जन्म लेते हैं जिसे पढ़कर आप स्वयं चिन्तन करेंगे कि आपको आगे कहाँ जाना है। दूसरी विशेष बात यह है कि स्त्रियों के क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता है क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व की योग्यता उनमें नहीं पाई जाती है।

चतुर्थ परिच्छेद में व्यवहारनय निश्चयनय का विशद विवेचन आलाप पद्धति, पंचास्तिकाय, समयसार, धवला आदि ग्रंथों के आधार से किया है। यहाँ कई नयों की परस्पर में सापेक्षता दर्शाते हुए यह बताया है कि कोई भी नय असत्य नहीं होता यदि वह दूसरे की अपेक्षा रखता है। क्योंकि जैन सिद्धान्त अनेकांत धर्म पर टिका हुआ है।

नयों के अन्तर्गत व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग का भी प्रतिपादन किया है। श्रावक व्यवहार धर्म का ही पालन करते हैं उनके निश्चय का मात्र श्रद्धान ही हो सकता है क्योंकि उनके निश्चय चारित्र नहीं हो सकता है। श्री गौतम गणधर के साक्षात् शब्दों में भी व्यवहार चारित्र की उपादेयता बताई है जो उन्होंने भगवान महावीर की वाणी को सुनकर प्रतिपादन किया था। जैसे – सुदं मे आउस्संतो! इत्यादि कहकर महावीर स्वामी का संदेश सुनाया है।

पंचम परिच्छेद में "निमित्त-उपादान" पर प्रकाश डाला गया है। प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में निमित्त और उपादान दोनों की प्रधानता होती है। सहकारी कारण को निमित्त कहते हैं, अन्तरंग कारण को उपादान कहते हैं। जैसे – सम्यक्त्व की उत्पत्ति में बाह्य कारण जिनेन्द्र दर्शन, गुरु उपदेश आदि हैं और अन्तरंग कारण दर्शनमोह का उपशम, क्षय, क्षयोपशम हैं तथा उपादान स्वरूप आत्मा है जिसमें सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

मोक्ष और संसार के भी अनेक निमित्त कारण इस प्रकरण में बताये गये हैं। निमित्त की बलवत्ता के अन्तर्गत औषधि को रोग शांत करने में सहायक माना है एवं अकालमृत्यु में विषभक्षण आदि निमित्त हैं, इस अकालमृत्यु का कथन गोम्मटसार, धवला, भावपाहुड़ में आया है तथा तत्त्वार्थसूत्र की द्वितीय अध्याय के अन्तिम सूत्र "औपपादिक.....इत्यादि में कहा है कि देव-नारकियों की, चरमशरीरियों – तद्भवमोक्षगामियों की, भोगभूमिया जीवों की अकालमृत्यु नहीं होती है।

छठे परिच्छेद में चारों अनुयोगों की सार्थकता का विशद वर्णन किया है जिसका महत्व यह है कि प्रवचनकर्त्ता विद्वान को ही सर्वप्रथम चारों ही अनुयोगों के कतिपय ग्रंथों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए ताकि वह प्रथमानुयोग के सत्य उदाहरणों से श्रोताओं को पाप से भयभीत एवं पुण्यकर्म के प्रति रुचि उत्पन्न कर सके।

धर्म को कल्पवृक्ष की उपमा देते हुए इस अध्याय में बताया है कि द्वादशांग जिनवाणी माता चार अनुयोगों में निबद्ध मानी गई है उन चारों का ही क्रमपूर्वक अध्ययन करने सें जिनवाणी का सार प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि प्रथमानुयोग के बिना तीर्थंकर आदिकों का इतिहास पुण्य और पाप के फल तथा मोक्ष प्राप्त करने वालों के उदाहरण अन्यत्र नहीं मिल सकते हैं।

करणानुयोग से चतुर्गति के परावर्तन, लोक का स्वरूप आदि जानकर नरकगति



आदि से भय उत्पन्न होता है।

चरणानुयोग से चारित्र का लक्षण जानकर शक्ति के अनुसार उसे धारण किया जाता है।

द्रव्यानुयोग से छह द्रव्य, सात तत्त्व आदि को समझकर आत्मद्रव्य को पुद्गल द्रव्य से पृथक करने का बोध होता है।

इस परिच्छेद के अंत में यह भी बताया है कि चारों अनुयोगों के बिना ज्ञान अपूर्ण और एकांगी है अतः उपदेशकर्ताओं को सर्वप्रथम चारों अनुयोगों का तलस्पर्शी ज्ञान होना चाहिए जिससे कि उनके प्रवचन से प्रभावित होकर प्रत्येक श्रोता सभा में से स्वाध्याय का संकल्प लेकर ही उठें।

सातवें परिच्छेद में मुनियों की चर्या बतलाते हुए "पंचमकाल में मुनियों का अस्तित्व" नामक विषय पर प्रकाश डाला है। मुनियों के भेद में जिनकल्पी-स्थविरकल्पी ऐसे दो प्रकार किये हैं। भावसंग्रह, मूलाचार आदि ग्रंथों के उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं कि पंचमकाल के अन्त तक स्थविरकल्पी भावलिंगी साधु होते रहेंगे, जो लोग ऐसा नहीं मानते, वे अज्ञानी हैं।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द के शब्दों में इस प्रकरण के अन्तर्गत बताया है कि "संघ में शिष्यों का ग्रहण करना और उनका पोषण करना, दीक्षा, शिक्षा आदि देना आचार्य परमेष्ठी का कर्तव्य है।"

चतुर्विध संघ परम्परा में आर्यिकाओं की चर्या भी मुनि के समान मानी गई है इस प्रकरण का भी खुलासा किया है तथा श्रावकों से संबंधित आहार आदि चारों दान भी बताते हुए कहा है कि श्रावकों को आहार मात्र देने के लिए मुनियों की परीक्षा करने का अधिकार नहीं है, उन्हें पूर्व मुनि के सदृश समझकर आहार आदि देना चाहिए।

इस परिच्छेद के एक-एक शब्द को सूक्ष्मता से पढ़कर प्रवचनकर्ता विद्वान को श्रोताओं में वर्तमान के साधुओं के प्रति श्रद्धा का स्रोत प्रवाहित करना चाहिए क्योंकि देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति ही व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाती है।

आठवें परिच्छेद का विषय शिक्षण लेने और देने की शैली का बोध कराने वाला है। किसी भी शास्त्र का स्वाध्याय कर लेना ही पर्याप्त नहीं होता है किन्तु आद्योपान्त उसके अर्थ एवं रहस्य को समझना ही अध्ययन का फल होता है।

इसी प्रकार अध्यापन की शैली में बताया है कि जो विषय वक्ता के स्वयं हृदयंगम हो चुका है उसी को वह अच्छी तरह से श्रोताओं को समझा सकता है। चारों अनुयोगों में विशेष द्रव्यानुयोग के अध्यापन का तरीका इसमें समझाया है कि पूर्वापर संबंध जोड़े बिना इन ग्रंथों का अध्यापन शिष्यों को विपरीत मार्ग पर पहुँचा सकता है जैसा कि वर्तमान में हो रहा है। गुरु और शिष्य के लक्षण को

इसमें दर्शाया है कि गुरु के कठोर वचन भव्यों के मन को इस प्रकार से प्रफुल्लित करते हैं जैसे कि ''कठोर किरणें भी कमल को खिला देती हैं।'' इसलिए शिष्यों को दुराग्रह से रहित अनुशासित होकर गुरु के वचन ग्रहण करने चाहिए।

यदि रत्नत्रयधारी गुरु दिगम्बर मुनि या आर्यिका से अध्ययन करने का या सुनने का सुयोग मिले तब तो अच्छा है ही अन्यथा देव, शास्त्र, गुरु के प्रति श्रद्धावान और पापभीरु विद्वान पण्डितों से ही जैन ग्रंथों को पढ़ना या सुनना चाहिए।

एक मुख्य बात इस परिच्छेद में यह भी बतलाई गई है कि प्रवचन करते समय श्रोताओं की योग्यता का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। यदि सार्वजनिक सभा है, अन्य सम्प्रदाय के लोग भी सभा में बैठे हों तो वहाँ अहिंसा, सत्य आदि धर्म को प्रधान करके या सप्त व्यसन के त्याग पर विशेष बल देते हुए उपदेश करना चाहिए। इसी प्रकार पढ़ाते समय भी शिष्य की योग्यता का ध्यान रखना चाहिए, जैसे यदि शिष्य द्रव्यसंग्रह, तत्त्वार्थसूत्र और गोम्मटसार के ज्ञान से शून्य है तो वह धवला ग्रंथ या समयसार आदि पढ़ने का पात्र नहीं है।

वक्ता और अध्यापक के लिए यह परिच्छेद विशेष पठनीय है। क्योंकि इसमें अनेक ग्रंथों के पढ़ाने की शैली बताई गई है।

अन्तिम नवम परिच्छेद ''ध्यान की आवश्यकता'' को प्रकाशित करता है। अति संक्षिप्त शब्दों में यह अध्याय धर्मध्यान की उपयोगिता बताने वाला है वर्तमान में मुनियों को शुक्लध्यान की प्राप्ति नहीं हो सकती है अतः आर्त-रौद्र ध्यानों को हटाकर धर्मध्यान प्राप्ति का ही प्रयास सभी को करना चाहिए। पिण्डस्थ आदि ध्यान करने के लिए श्रावकों को प्रेरणा प्रदान की है क्योंकि इन ध्यानों के अभ्यास से कर्मों की निर्जरा तो होती ही है उसके साथ ही नाना प्रकार के रोग, शोक, संकट, भय, भूत, पिशाच और क्रूर ग्रह आदि भी शांत हो जाते हैं।

पुस्तक के अन्त में यह भी कह दिया है कि ''यदि किसी में ध्यान करने की क्षमता नहीं है तो महामंत्र आदि मंत्रों का जाप करना चाहिए।'' जाप के वाचिक, उपांशु और मानस ऐसे तीन भेद होते हैं। वाचिक तप में मंत्र के शब्दों का उच्चारण स्पष्ट रहता है। उपांशु में शब्द भीतर ही भीतर कंठ स्थान में गूंजते रहते हैं, बाहर नहीं निकल पाते हैं किन्तु मानस जप में बाहरी और भीतरी शब्दोच्चारण का प्रयास ही रुक जाता है। हृदय में ही मंत्राक्षरों का चिंतन चलता है। यह मानस जप ही एकाग्रचिंता निरोधरूप होने से ध्यान का रूप ले लेता है।

सन् 1979 तक इस प्रवचन निर्देशिका के दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। काफी लम्बे अरसे के बाद इसका तृतीय संस्करण प्रकाशित हुआ, जिसमें पूज्य



माताजी ने इसके विषय को 7 की बजाय 9 परिच्छेदों में विभक्त किया है। ''प्रवचन पद्धति का निर्देश'' नामक विषय पहले माताजी ने भूमिका रूप में दे दिया था किन्तु वह विषय अत्यन्त उपयोगी होने से हम लोगों के आग्रह पर उन्होंने इस बार उसे प्रथम परिच्छेद कर दिया, इसी प्रकार प्रथम परिच्छेद में जो सम्यग्दर्शन का प्रकरण बहुत लम्बा था उसमें सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारण और सम्यग्दर्शन के भेद इन दो विषयों को अलग-अलग परिच्छेदों में विभक्त कर दिया इसीलिए तृतीय संस्करण में 9 अधिकार हो गये।

दूसरी बात इस पुस्तक के पूर्व प्रकाशनों में मंगलाचरण में पूज्य माताजी ने सामूहिक रूप में 11 श्लोकों की रचना प्रस्तुत की थी उन श्लोकों को तृतीय संस्करण में प्रत्येक अध्याय के प्रारंभ में विभक्त कर दिया है।

इन नव परिच्छेदों में निबद्ध ''प्रवचन निर्देशिका'' ग्रंथ गागर में सागर के समान अपने में विशाल ज्ञान को समेटे हुए है। पूज्य माताजी ने इसमें 68 ग्रंथों के प्रमाण प्रस्तुत करके इसकी प्रामाणिकता सिद्ध कर दी है। केवल एक ग्रंथ के माध्यम से हमारे पाठक विद्वानों को 68 ग्रंथों के स्वाध्याय का लाभ प्राप्त हो रहा है। इस ग्रंथ के द्वारा सन् 1978 के हस्तिनापुर में आयोजित प्रशिक्षण शिविर में लगभग 100 विद्वानों को प्रशिक्षित किया गया था। उस समय शिविर के कुलपति पं. श्री मोतीचंद जी कोठारी-फलटण (महा.) ने इसे ''जैनधर्म की कुंजी'' की उपमा दी थी तथा पूज्य माताजी के प्रति अत्यन्त कृतज्ञता व्यक्त करते हुए उन्होंने स्वयं इसका आद्योपांत अध्ययन कर प्रमाणपत्र भी ग्रहण किया था।

इसके पश्चात् सन् 1979 में ही इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ। पुनः शीघ्र ही वे पुस्तकें भी समाप्त हो गईं, काफी दिनों से चारों ओर से इसकी मांग बढ़ती जा रही थी अतः सन् 1991 में इसका तृतीय संस्करण प्रकाशित किया गया और अब सन् 2010 में इसका चतुर्थ संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

आशा है समाज के विद्वान एवं सामान्य वर्ग इसका स्वाध्याय स्वयं करेंगे तथा दूसरों को भी इससे लाभान्वित करवायेंगे।

# मेरे उद्गार

**–पीठाधीश क्षुल्लक मोतीसागर**

भव्य जीवों के हेतु मोक्ष का मार्ग प्रदर्शित करने के लिए पूर्वाचार्य एवं मुनिगण प्रारंभ से ही ग्रंथों का सृजन करते आ रहे हैं। विगत कुछ शताब्दियों से विद्वान् पंडितों ने भी ग्रंथों का निर्माण किया किन्तु किन्हीं आर्यिकाओं या श्राविकाओं के द्वारा रचित कोई ग्रंथ भगवान महावीर के निर्वाण के बाद अब से 50-55 वर्ष पूर्व तक भारतवर्ष के किसी भी ग्रंथ भंडार में किसी भी भाषा में उपलब्ध नहीं हो पाये।

इस अवशेष कार्य की पूर्ति जम्बूद्वीप रचना निर्माण की पावन प्रेरिका पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी ने की। उसी शृँखला में इस 'प्रवचन निर्देशिका' ग्रंथ का निर्माण हुआ। शास्त्रों में वर्णित विषयों का जनमानस के समक्ष प्रवचनों के माध्यम से प्रस्तुतीकरण भी अपने आप में एक विशेष कला है।

भाषण तो बहुत लोग करते हैं किन्तु धर्मतत्त्वों को आगम के परिप्रेक्ष्य में समझाना सबके बस की बात नहीं होती। वैसे तो दिगम्बर जैन समाज में अनेक प्रवचनकर्त्ता हैं किन्तु उन्हें व्यवस्थित दिशा-निर्देश की आवश्यकता थी। पूज्य माताजी ने अथक परिश्रम करके उस दुरुह कार्य को सहज कर दिया।

वक्ता में क्या-क्या गुण होने चाहिए ? प्रवचन करते समय वक्ता के हाव-भाव कैसे रहना चाहिए ? सभा के अनुरूप विषय का प्रतिपादन कैसे करना चाहिए ? इत्यादि का प्रस्तुत पुस्तक में दिग्दर्शन कराया गया है। यदि वक्ता उन संकेतों का अनुसरण करेंगे, तो वे सभा में उपस्थित श्रोताओं को आकृष्ट करके धर्म के विविध तत्त्वों को हृदयंगम करा सकेंगे।

वक्ता का उद्देश्य केवल पांडित्य प्रदर्शन न होकर श्रोताओं की श्रद्धा जिनधर्म में किस प्रकार से प्रगाढ़ हो सके तथा चारित्र पालन में व चारित्र-धारियों की भक्ति में अभिरुचि हो, ऐसा विषय लेना चाहिए। वक्ता की वाणी का विशेष प्रभाव श्रोताओं पर तभी हो सकेगा, जब वह स्वयं चारित्रवान होगा। अतः वक्ताओं को भी चारित्र का पालन करना चाहिए।

यह ग्रंथ ''प्रवचन निर्देशिका'' समस्त पाठकों एवं श्रोताओं के लिए आत्महित में सहकारी हो, यही मंगल भावना है।



**पुस्तक की रचयित्री, राष्ट्रगौरव परम पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि**

# श्री ज्ञानमती माताजी का परिचय

**-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चंदनामती**

**कुन्दकुन्दान्वयो जीयात्, जीयात् श्री शांतिसागरः।**
**जीयात् पट्टाधिपस्तस्य, सूरिः श्री वीरसागरः।।**
**श्री ब्राह्मी गणिनी जीयात्, जीयादन्तिमचन्दना।**
**जीयात् ज्ञानमती माता, गणिन्यां प्रमुखा कलौ।।**

जैनशासन के वर्तमान व्योम पर छिटके नक्षत्रों में दैदीप्यमान सूर्य की भाँति अपनी प्रकाश-रश्मियों को प्रकीर्णित कर रहीं पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर उठी लेखनी की अपूर्णता यद्यपि अवश्यंभावी है, तथापि आत्मकल्याण की भावना से पूज्य माताजी के श्रीचरणों में उनके दीर्घकालीन त्यागमयी जीवन के प्रति विनम्र विनयांजलिरूप मेरा यह विनीत प्रयास है।

**1. जन्म, वैराग्य और दीक्षा–**22 अक्टूबर सन् 1934, शरदपूर्णिमा के दिन टिकैतनगर ग्राम (जि. बाराबंकी, उ.प्र.) के श्रेष्ठी श्री छोटेलाल जैन की धर्मपत्नी श्रीमती मोहिनी देवी के दांपत्य जीवन के प्रथम पुष्प के रूप में ''मैना'' का जन्म परिवार में नवीन खुशियाँ लेकर आया था। माँ को दहेज में प्राप्त 'पद्मनंदिपंचविंशतिका' ग्रन्थ के नियमित स्वाध्याय एवं पूर्वजन्म से प्राप्त दृढ़ वैराग्य संस्कारों के बल पर मात्र 18 वर्ष की अल्प आयु में ही शरद पूर्णिमा के दिन मैना ने आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज से सन् 1952 में आजन्म ब्रह्मचर्यव्रतरूप सप्तम प्रतिमा एवं गृहत्याग के नियमों को धारण कर लिया। उसी दिन से इस कन्या के जीवन में 24 घंटे में एक बार भोजन करने के नियम का भी प्रारंभीकरण हो गया।

जैनेश्वरी दीक्षा की कामना को अपनी हर साँस में संजोये ब्र. मैना सन् 1953 में आचार्य श्री देशभूषण जी से ही चैत्र कृष्णा एकम् को श्री महावीरजी अतिशय क्षेत्र में 'क्षुल्लिका वीरमती' के रूप में दीक्षित हो गईं। सन् 1955 में चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज की समाधि के समय कुंथलगिरी पर एक माह तक प्राप्त उनके सान्निध्य एवं आज्ञा द्वारा 'क्षुल्लिका वीरमती' ने आचार्य श्री के प्रथम पट्टाचार्य शिष्य-वीरसागर जी महाराज से सन् 1956 में 'वैशाख कृष्णा दूज' को माधोराजपुरा (जयपुर-राज.) में आर्यिका दीक्षा धारण करके **''आर्यिका ज्ञानमती''** नाम प्राप्त किया।

**2. अध्ययन और अध्यापन–**ज्ञानप्राप्ति की पिपासा माता ज्ञानमती जी के रोम-रोम में प्रारंभ से ही कूट-कूट कर भरी थी। दीक्षा लेते ही स्वाध्याय-मनन-चिंतन की धारा में ही उन्होंने स्वयं को निबद्ध कर लिया। ज्ञान प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ स्रोत बना-संघस्थ मुनियों, आर्यिकाओं एवं संघस्थ शिष्य-शिष्याओं को जैनागम का तलस्पर्शी अध्यापन। 'कातंत्र रूपमाला' रूपी बीज से पूज्य माताजी की ज्ञानसाधना रूप वृक्ष प्रस्फुटित हुआ, जिस पर जो पत्ते, फूल-फल इत्यादि लगे, उन्होंने समस्त संसार को सुवासित कर दिया। गोम्मटसार, परीक्षामुख, न्यायदीपिका, प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री, तत्त्वार्थराजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, अनगारधर्मामृत, मूलाचार, त्रिलोकसार आदि अनेक ग्रंथों को अपनी शिष्याओं और संघस्थ साधुओं को पढ़ा-पढ़ाकर आपने अल्प समय में ही विस्तृत

ज्ञानार्जन कर लिया। हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, मराठी इत्यादि भाषाओं पर आपका पूर्ण अधिकार हो गया।

**3. लेखनी का प्रारंभीकरण संस्कृत भाषा से**—भगवान महावीर के पश्चात् 2500 वर्ष के जिस इतिहास में जैन साध्वियों के द्वारा शास्त्र लेखन की कोई मिसाल दृष्टिगोचर नहीं होती थी, वह इतिहास जागृत हो उठा जब क्षुल्लिका वीरमती जी ने सन् 1954 में सहस्रनाम के 1008 मंत्रों से अपनी लेखनी का प्रारंभ किया। यही मंत्र सरस्वती माता का वरदहस्त बनकर पूज्य माताजी की लेखनी को ऊँचाइयों की सीमा तक ले गये। सन् 1969-70 में न्याय के सर्वोच्च ग्रंथ 'अष्टसहस्री' के हिन्दी अनुवाद ने उनकी अद्वितीय विद्वत्ता को संसार के सामने उजागर कर दिया। कितने ही ग्रंथों की संस्कृत टीका, कितनी ही टीकाओं के हिंदी अनुवाद, संस्कृत एवं हिन्दी में अनेक मौलिक ग्रंथों की रचना मिलकर आज लगभग 250 से भी अधिक संख्या हो चुकी है। पूज्य माताजी द्वारा लिखित समयसार, नियमसार इत्यादि की हिन्दी-संस्कृत टीकाएँ, जैनभारती, ज्ञानामृत, कातंत्र व्याकरण, त्रिलोक भास्कर, प्रवचन निर्देशिका इत्यादि स्वाध्याय ग्रंथ, प्रतिज्ञा, संस्कार, भक्ति, आदिब्रह्मा, आटे का मुर्गा, जीवनदान इत्यादि जैन उपन्यास, द्रव्यसंग्रह-रत्नकरण्डश्रावकाचार इत्यादि के हिन्दी पद्यानुवाद व अर्थ, बाल विकास, बालभारती, नारी आलोक आदि का अध्ययन किसी को भी वर्तमान में उपलब्ध जैन वाङ्मय की विविध विधाओं का विस्तृत ज्ञान कराने में सक्षम है।

अध्यात्म, व्याकरण, न्याय, सिद्धांत, बाल साहित्य, उपन्यास, चारों अनुयोगोंरूप विविध विधाओं के अतिरिक्त पूज्य माताजी की लेखनी से विपुल भक्ति साहित्य उद्भूत हुआ है। इन्द्रध्वज, कल्पद्रुम, सर्वतोभद्र, तीन लोक, सिद्धचक्र, विश्वशांति महावीर विधान इत्यादि अनेकानेक भक्ति विधानों ने देश के कोने-कोने में जिनेन्द्र भक्ति की जो धारा प्रवाहित की है, वह अतुलनीय है। पूज्य माताजी का चिंतन एवं लेखन पूर्णतया जैन आगम से संबद्ध है, यह उनकी महान विशेषता है।

धन्य हैं ऐसी महान प्रतिभावान् सरस्वती माता!

**4. सिद्धांत चक्रेश्वरी**—पूज्य माताजी ने जैनशासन के सर्वप्रथम सिद्धांत ग्रंथ 'षट्खण्डागम' के सूत्रों की संस्कृत टीका 'सिद्धांत चिंतामणि' का लेखन करके महान कीर्तिमान स्थापित किया है। समस्त 16 पुस्तकों की टीका आप लिख चुकी हैं, जिसमें से पाँच पुस्तकें हिन्दी टीका सहित प्रकाशित भी हो चुकी हैं। आज से लगभग 1000 वर्ष पूर्व आचार्य श्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने जिस प्रकार छह खण्डरूप द्वादशांगरूप जिनवाणी को परिपूर्ण आत्मसात करके साररूप में द्रव्य संग्रह, गोम्मटसार, लब्धिसार इत्यादि ग्रंथ अपनी लेखनी से प्रसवित किये थे, उसी प्रकार इस बीसवीं सदी की माता ज्ञानमती जी ने समस्त उपलब्ध जैनागम का गहन अध्ययन-मनन-चिंतन करके इस सिद्धांतचिंतामणिरूप संस्कृत टीका लेखन के महत्तम कार्य से 'सिद्धांत चक्रेश्वरी' के पद को साकार कर दिया है। आचार्य श्री वीरसेन स्वामी द्वारा 1000 वर्ष पूर्व लिखित 'धवलाटीका' के पश्चात् इस महान ग्रंथ की सरल टीका लेखन का कार्य प्रथम बार हुआ है।

**5. शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर**—जैन सिद्धांतों का मर्म विद्वत् वर्ग समझ सके, इस भावना से कितने ही शिक्षण-प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन पूज्य माताजी की प्रेरणास्वरूप किया गया।



सन् 1969 में जयपुर चातुर्मास के मध्य 'जैन ज्योतिर्लोक' पर प्रशिक्षण शिविर आयोजित किया गया, जिसमें पूज्य माताजी द्वारा 'जैन भूगोल एवं खगोल' का विशेष ज्ञान विद्वत्वर्ग को कराया गया। अक्टूबर सन् 1978 में हस्तिनापुर में पं. मक्खनलाल जी शास्त्री, पं. मोतीचंद जी कोठारी, डा. लाल बहादुर शास्त्री सहित जैन समाज के उच्चकोटि के लगभग 100 विद्वानों का विद्वत् प्रशिक्षण शिविर आयोजित किया गया, जिसमें पूज्य माताजी ने विद्वत्समुदाय को यथेष्ट मार्गदर्शन प्रदान किया। समय-समय पर आज तक यह श्रृंखला चल रही है।

**6. राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार**—सन् 1985 में 'जैन गणित एवं त्रिलोक विज्ञान' पर अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में सम्पन्न हुआ, पुनः अनेक संगोष्ठियाँ सम्पन्न होती रहीं और सन् 1998 में 'भगवान ऋषभदेव राष्ट्रीय कुलपति सम्मेलन' के भव्य आयोजनद्वारा देशभर के विश्वविद्यालयों से पधारे कुलपतियों को भगवान ऋषभदेव को भारतीय संस्कृति एवं जैनधर्म के वर्तमानयुगीन प्रणेता पुरुष के रूप में जानने का अवसर प्राप्त हुआ। 11 जून 2000 को 'जैनधर्म की प्राचीनता' विषय पर आयोजित इतिहासकारों के सम्मेलन द्वारा पाठ्य पुस्तकों में जैनधर्म संबंधी भ्रांतियों के सुधार के लिए विशेष दिशा-निर्देश 'राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद' (NCERT) तक पहुँचाये गये। इनके अतिरिक्त अनेक अन्य सेमिनार भी समय-समय पर सम्पन्न हुए हैं, जिनके प्रतिफल में देश के समक्ष समय-समय पर साहित्यिक कृतियाँ प्रस्तुत हो चुकी हैं।

**7. दिगम्बर समाज की साध्वी को प्रथम बार डी.लिट्. की उपाधि प्रदान कर विश्वविद्यालय भी गौरवान्वित हुआ**—किसी महाविद्यालय, विश्वविद्यालय आदि में पारम्परिक डिग्रियों को प्राप्त किये बिना मात्र स्वयं के धार्मिक अध्ययन के बल पर विदुषी माताजी ने अध्ययन, अध्यापन, साहित्य निर्माण की जिन ऊँचाइयों को स्पर्श किया, उस अगाध विद्वत्ता के सम्मान हेतु अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद द्वारा 5 फरवरी 1995 को डी.लिट्. की मानद् उपाधि से पूज्य माताजी को सम्मानित करके स्वयं को गौरवान्वित अनुभव किया गया तथा दिगम्बर जैन साधु-साध्वी परम्परा में पूज्य माताजी यह उपाधि प्राप्त करने वाली प्रथम व्यक्तित्व बन गईं।

इसी प्रकार से समय-समय पर विभिन्न आचार्यों एवं सामाजिक संस्थाओं द्वारा पूज्य माताजी को न्याय प्रभाकर, आर्यिकारत्न, आर्यिकाशिरोमणि, गणिनीप्रमुख, वात्सल्यमूर्ति, तीर्थोद्धारिका, युगप्रवर्तिका, चारित्रचन्द्रिका, राष्ट्रगौरव, वाग्देवी इत्यादि अनेक उपाधियों से अलंकृत किया गया है, किन्तु पूज्य माताजी इन सभी उपाधियों से निस्पृह होकर अपनी आत्मसाधना को प्रमुखता देते हुए निर्दोष आर्यिका चर्या में निमग्न रहने का ही अपना मुख्य लक्ष्य रखती हैं।

**8. पूज्य माताजी की प्रेरणा से त्याग में बढ़े कदम**—त्यागमार्ग में अग्रसर सम्यग्दृष्टी जीव की यह विशेषता रहती है कि वह संसार परिभ्रमण से आक्रान्त अन्य भव्यजीवों को भी मोक्षमार्ग का पथिक बनाने हेतु विशेषरूप से प्रयासरत रहता है। इसी भावना की परिपुष्टी करते हुए पूज्य माताजी ने अनेकानेक शिष्य-शिष्याओं का सृजन किया।

संघस्थ साधुओं-मुनिजनों एवं आर्यिकाओं को अध्ययन कराते हुए सन् 1956-57 में ब्र. राजमल जी को राजवार्तिक आदि अनेक ग्रंथों का अध्ययन कराकर पूज्य माताजी ने उन्हें मुनिदीक्षा लेने की प्रेरणा प्रदान की। पुनश्च ब्र. राजमल जी कालांतर में आचार्य अजितसागर जी महाराज के रूप में चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज की परम्परा में चतुर्थ

पट्टाचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

सन् 1967 में सनावद चातुर्मास के मध्य पूज्य माताजी ने ब्र. मोतीचंद एवं युवा यशवंत कुमार को घर से निकाला, उन्हें खूब विद्याध्ययन कराया तथा अंततः यशवंत कुमार को मुनिदीक्षा दिलवायी, जो वर्तमान में आचार्यश्री वर्धमानसागर के नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हैं। ब्र. मोतीचंद जी भी क्षुल्लक मोतीसागर बनकर जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के पीठाधीश के रूप में प्रतिष्ठित हैं तथा निरंतर धर्मप्रभावना में संलग्न हैं।

वर्तमान पट्टाचार्यश्री अभिनंदनसागर जी महाराज ने भी पूज्य माताजी से राजवार्तिक, गोम्मटसार आदि ग्रंथों का अध्ययन किया था। मुनि श्री भव्यसागर जी महाराज, मुनि श्री संभवसागर जी महाराज इत्यादि ने भी पूज्य माताजी से विद्याध्ययन किया तथा उनकी प्रेरणा से ही मुनि दीक्षा प्राप्त की। वर्तमान में पूज्य माताजी के अनन्य शिष्य कर्मयोगी ब्र.रवीन्द्र कुमार जैन अत्यंत कर्मठ व्यक्तित्व के रूप में समस्त समाज में प्रसिद्धि को प्राप्त हैं।

आर्यिका माताओं की शृँखला में आर्यिका श्री पद्मावती माताजी, आर्यिका श्री जिनमती माताजी, आर्यिका श्री आदिमती माताजी, आर्यिका श्री श्रेष्ठमती माताजी, आर्यिका श्री अभयमती माताजी, आर्यिका श्री श्रुतमती माताजी, आर्यिका श्री सम्मेदशिखरमती माताजी, आर्यिका श्री कैलाशमती माताजी, मैं स्वयं (आर्यिका चंदनामती) एवं अन्य कई माताजी पूज्य माताजी से प्राप्त वैराग्यमयी संस्कारों एवं अध्यापन का ही प्रतिफल हैं। पूज्य माताजी से सर्वांगीण ग्रंथों का अध्ययन करके पूज्य जिनमती माताजी ने प्रमेयकमलमार्तण्ड, पूज्य आदिमती माताजी ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड का हिन्दी अनुवाद किया है। मुझे भी षट्खण्डागम एवं अन्य महान ग्रंथों की हिन्दी टीका का सुअवसर पूज्य माताजी की अनुकम्पा से प्राप्त हो रहा है।

58 वर्षों की सुदीर्घ अवधि में कितने ही भव्य जीवों ने पूज्य माताजी से आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत, पंच अणुव्रत, शक्ति अनुसार प्रतिमाएँ इत्यादि ग्रहण करके संयम के मार्ग को आत्मसात किया है। वर्तमान में पूज्य माताजी के साक्षात् सानिध्य में रहकर अनेक ब्रह्मचारिणी बहनें त्यागमार्ग में संलग्न हैं।

**9. तीर्थ विकास की भावना**—तीर्थंकर भगवन्तों की कल्याणक भूमियों एवं विशेष रूप से जन्मभूमियों के विकास की ओर पूज्य माताजी की विशेष आंतरिक रुचि सदा से रही है। पूज्य माताजी का कहना है कि हमारी संस्कृति का परिचय प्रदान करने वाली ये कल्याणक भूमियाँ हमारी संस्कृति की महान धरोहर हैं अतः इनका संरक्षण-संवर्धन-विकास अत्यंत आवश्यक है।

सर्वप्रथम भगवान शांतिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ की जन्मभूमि 'हस्तिनापुर' में पूज्य माताजी की प्रेरणा से निर्मित जैन भूगोल की अद्वितीय रचना 'जम्बूद्वीप' आज विश्व के मानस पटल पर अंकित हो गयी है, उ.प्र. सरकार के पर्यटन विभाग ने जम्बूद्वीप से हस्तिनापुर की पहचान बताते हुए उसे एक अतुलनीय 'मानव निर्मित स्वर्ग' (A Man Made Heaven of Unparallel Superlatives And Natural Wonders) की संज्ञा प्रदान की है। सन् 1993 से 1995 तक शाश्वत जन्मभूमि 'अयोध्या' में 'समवसरण मंदिर' और 'त्रिकाल चौबीसी मंदिर' का निर्माण करवाकर उसका विश्वव्यापी प्रचार, अकलूज (महाराष्ट्र) में नवदेवता मंदिर निर्माण की प्रेरणा, सनावद (म.प्र.) में णमोकार धाम, प्रीत विहार-दिल्ली में कमलमंदिर,



मांगीतुंगी (महाराष्ट्र) में सहस्रकूट कमल मंदिर, अहिच्छत्र में ग्यारह शिखर वाला तीस चौबीसी मंदिर और भगवान ऋषभदेव की दीक्षा एवं केवलज्ञान कल्याणक भूमि-प्रयाग (इलाहाबाद) में 'तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ' का भव्य निर्माण पूज्य माताजी की ही प्रेरणा के सुफल हैं।

कितने ही अन्य स्थानों पर भी जैसे-खैरवाड़ा में कैलाशपर्वत निर्माण की प्रेरणा, पिड़ावा में समवसरण रचना की प्रेरणा, सोलापुर (महा.) में भगवान ऋषभदेव की विशाल प्रतिमा की स्थापना, श्री महावीर जी के शांतिवीर नगर में मंदारवृक्ष की स्थापना, अतिशयक्षेत्र श्री त्रिलोकपुर में पारिजातवृक्ष की स्थापना आदि अनेकानेक निर्माण पूज्य माताजी के निर्देशन द्वारा सम्पन्न हुए और हो रहे हैं। भगवान महावीर स्वामी की जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा-बिहार) के विकास हेतु भगवान महावीर स्वामी कीर्तिस्तंभ, भगवान महावीर की विशाल खड्गासन प्रतिमा सहित विश्वशांति महावीर मंदिर, नवग्रह शांति जिनमंदिर, त्रिकाल चौबीसी मंदिर एवं नंद्यावर्त महल आदि अनेक निर्माण आपकी प्रेरणा से इस क्षेत्र पर हुए हैं तथा कुण्डलपुर तीर्थ विश्वभर के लिए आकर्षण का केन्द्र बन गया है।

भगवान मुनिसुव्रतनाथ की जन्मभूमि 'राजगृही' में 'मुनिसुव्रतनाथजिनमंदिर'एवं विपुलाचल पर्वत की तलहटी में मानस्तंभ रचना, भगवान महावीर की निर्वाणस्थली पावापुरी में जलमंदिर के समक्ष पाण्डुकशिला परिसर में भगवान की खड्गासन प्रतिमा सहित 'भगवान महावीर जिनमंदिर', गौतम गणधर स्वामी की निर्वाणस्थली गुणावां जी में गौतम स्वामी की खड्गासन प्रतिमा सहित जिनमंदिर, श्री सम्मेदशिखर जी में भगवान ऋषभदेव मंदिर इत्यादि समस्त निर्माण भी पूज्य माताजी की संप्रेरणा से ही सम्पन्न हुए हैं।

वर्तमान में तीर्थंकर जन्मभूमि विकास की शृँखला में भगवान पुष्पदंतनाथ की जन्मभूमि काकंदी में 'पुष्पदंतनाथ जिनमंदिर' का निर्माणकार्य पूर्ण होकर वेदी पर भगवान पुष्पदंतनाथ की विशाल सवा 9 फुट उत्तुंग पद्मासन प्रतिमा विराजमान हो चुकी है, जिसकी पंचकल्याणक प्रतिष्ठा जून 2010 में सम्पन्न होकर इस विस्मृत जन्मभूमि का परिचय भी विश्व को प्रदान कर रही है।

उल्लेखनीय है कि पूज्य माताजी के आर्यिका दीक्षास्थल—माधोराजपुरा (राज.) में भी वहाँ की जैन समाज द्वारा 'दीक्षा तीर्थ' के विकास का कार्य सम्पन्न किया जा रहा है।

**10. विश्व में अनोखी 108 फुट मूर्ति निर्माण की प्रेरणा**—विश्व के अप्रतिम आश्चर्य के रूप में 108 फुट उत्तुंग भगवान ऋषभदेव की खड्गासन प्रतिमा के निर्माण का कार्य मांगीतुंगी (महा.) के पर्वत पर पूज्य माताजी की प्रेरणा से अनवरतरूप से चल रहा है। युगों-युगों तक जिनशासन की महिमा को विकसित करने वाली यह प्रतिमा जैन संस्कृति के विशाल व्यक्तित्व का परिचय भी जनमानस को प्रदान करेगी।

**11. शिरडी (महाराष्ट्र) में ज्ञानतीर्थ**—शिरडी (महाराष्ट्र) को जैन संस्कृति केन्द्र के रूप में स्थापित करने हेतु महाराष्ट्र के कार्यकर्ताओं द्वारा वहाँ पर 'ज्ञानतीर्थ' के निर्माण की योजना मूर्त रूप ले रही है, जिसमें पूज्य माताजी के निर्देशानुसार भगवान पार्श्वनाथ की विशाल प्रतिमा विराजमान करके विशेष निर्माण सम्पन्न किया जा रहा है।

**12. धर्मप्रभावना के विविध आयाम**—जम्बूद्वीप रचना के निर्माण का प्रमुख लक्ष्य लेकर 'दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान' नामक संस्था का राजधानी दिल्ली में पूज्यमाताजी की प्रेरणा

से सन् 1972 में गठन किया गया। इसी संस्थान ने विविध धर्मप्रभावना के कार्यों का निष्पादन किया है। संस्थान स्थित 'वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला' द्वारा लाखों की संख्या में ग्रंथ प्रकाशन, चारों अनुयोगों के ज्ञान से समन्वित 'सम्यग्ज्ञान' मासिक पत्रिका का प्रकाशन, णमोकार महामंत्र बैंक इत्यादि कितनी ही कार्ययोजनाएँ जिनशासन की कीर्ति को निरंतर प्रसारित कर रही हैं।

पूज्य माताजी की प्रेरणा से सन् 1982 में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा राजधानी दिल्ली में उद्घाटित 'जम्बूद्वीप ज्ञान ज्योति' ने तीन वर्ष तक सम्पूर्ण भारतवर्ष में जैनधर्म के सिद्धांतों का प्रचार-प्रसार किया और अंत में यह ज्योति अखण्ड रूप से तत्कालीन केन्द्रीय रक्षामंत्री श्री-श्री पी.वी. नरसिंहाराव द्वारा जम्बूद्वीप स्थल पर स्थापित कर दी गयी। इसी प्रकार अप्रैल सन् 198 में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने 'भगवान ऋषभदेव समवसरण श्रीविहार' का राजधानी दिल्ली से प्रवर्तन किया, जो समस्त प्रांतों में प्रवर्तन के पश्चात् दीक्षास्थली-प्रयाग तीर्थ पर निर्मित 'केवलज्ञान कल्याणक मंदिर' में स्थापित होकर युगों-युगों तक भगवान ऋषभदेव के वास्तविक समवसरण की याद दिलाता रहेगा। भगवान महावीर जन्मभूमि-कुण्डलपुर (नालंदा) से सन् 2003 में 'भगवान महावीर ज्योति' का विविध प्रांतों में सफल प्रवर्तन भी इसी शृँखला की विशिष्ट कड़ी है।

जैनधर्म की प्राचीनता तथा भगवान ऋषभदेव के नाम एवं सिद्धांतों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए पूज्य माताजी ने राजधानी दिल्ली में विशाल 'चौबीस कल्पद्रुम महामण्डल विधान' आयोजित कराया, साथ ही 'भगवान ऋषभदेव जन्मजयंती वर्ष' तथा 'भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव वर्ष' (तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटल जी द्वारा उद्घाटित) भी उनकी प्रेरणा द्वारा विविध धर्मप्रभावना के कार्यक्रमों सहित सम्पन्न हुए। जैन टी.वी. चैनल द्वारा पूज्य माताजी के 'तीर्थंकर जीवन दर्शन (सचित्र)' एवं अन्य विषयों पर प्रभावक प्रवचन लम्बे समय तक प्रसारित किये गये। पुनश्च आस्था चैनल पर पिछले कई वर्षों से प्रतिदिन प्रसारित, जैनधर्म के मौलिक सिद्धांतों एवं सार से ओत-प्रोत प्रभावक प्रवचनों के माध्यम से पूज्य माताजी जैन समाज के घर-घर में समाहित हुई हैं, जैनेतर समाज में भी इस प्रवचन शृँखला का व्यापक प्रभाव देखने में आ रहा है। पूज्य माताजी की प्रेरणा से स्थापित 'अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महिला संगठन' अपनी सैकड़ों ईकाइयों द्वारा दिगम्बर जैन समाज की नारी शक्ति को सृजनात्मक कार्यों हेतु संगठित किये हुए है।

इसके अतिरिक्त कितने ही अन्य धर्मप्रभावना के कार्य पूज्य माताजी ने सम्पन्न किये हैं जिनका यहाँ लेखन तो संभव नहीं है, किन्तु आज पूरा समाज उनके कार्यकलापों से परिचित होकर उन्हें कर्मठता की मूर्ति के रूप में पहचानता है।

**13. संघर्ष विजेत्री**—पूज्य माताजी ने प्रारंभ से अपना प्रमुख लक्ष्य बनाया- प्रत्येक कार्य आगमानुकूल ही करना। पुनः उन कार्यों के निष्पादन में जो भी विघ्न आते हैं, उन्हें बहुत ही शांतिपूर्वक झेलकर पूरी तन्मयता के साथ उस कार्य को परिपूर्ण करना उनकी विशेषता रही है। उनका पूरा जीवन आर्ष परम्परा का संरक्षण करते हुए अपने मूलगुणों में बाधा न आने देकर जिनधर्म की अधिकाधिक प्रभावना के साथ व्यतीत हुआ है। किसी भी संस्था, तीर्थ, चंदे आदि की दानराशि को अपनी संघ व्यवस्था में समाहित न करने का उनका नियम है। 54 वर्षों से इस नियम का पालन करते हुए अपने कर्तव्य पथ पर वे अडिग हैं। यही कारण है कि उन्हें लम्बी-लम्बी यात्राएं कराने में अपना कर्तव्यपालन करने वाले संघपति श्रावक भी अपना सौभाग्य समझते हैं।



**14. भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव का आयोजन**—23वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की जन्मभूमि वाराणसी में 6 जनवरी 2005 को पूज्य माताजी की प्रेरणा एवं ससंघ सानिध्य में 'भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव' का उद्घाटन किया गया। भगवान की केवलज्ञान कल्याणक भूमि 'अहिच्छत्र', निर्वाणभूमि 'श्री सम्मेदशिखर जी' इत्यादि अनेकानेक तीर्थों पर विविध आयोजनों के साथ यह वर्ष मनाया गया। वर्ष 2006 को ''सम्मेदशिखर वर्ष'' के रूप में मनाने की प्रेरणा पूज्य माताजी ने प्रदान की, ताकि तन-मन-धन से दिगम्बर जैन समाज अपने महान तीर्थराज 'श्री सम्मेदशिखर जी' के प्रति समर्पित हो सके। पुनः दिसम्बर 2007 में अहिच्छत्र में आयोजित 'सहस्राब्दि महामस्तकाभिषेक' के साथ इस त्रिवर्षीय महोत्सव का समापन किया गया।

**15. शताब्दी का अभूतपूर्व अवसर : दीक्षा स्वर्ण जयंती** —वैशाख कृष्णा दूज, वी.नि.सं. 2532 अर्थात् 15 अप्रैल 2006 को अपनी आर्यिका दीक्षा के 50 वर्ष पूर्ण करने वाली पूज्य माताजी वर्तमान दिगम्बर जैन साधु परम्परा में सर्वाधिक प्राचीन दीक्षित होने के गौरव से युक्त होकर हम सभी के लिए अतिशयकारी प्राचीन प्रतिमा के सदृश बन गईं। जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में 14 से 16 अप्रैल 2006 तक **'गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी आर्यिका दीक्षा स्वर्ण जयंती महोत्सव'** का भव्य आयोजन करके समस्त समाज ने पूज्य माताजी के श्रीचरणों में अपनी विनम्र विनयांजलि अर्पित की।

**16. अमृतमय हों वर्ष तुम्हारे**—जिनकी दीर्घकालिक तपस्या के वर्षों की गिनती जानकर अनेक आचार्य, मुनि, आर्यिकाएँ इत्यादि भी इस बात को कहते हुए गौरव का अनुभव करते हैं कि आज जितनी मेरी उम्र भी नहीं है उससे अधिक तो पूज्य माताजी की दीक्षा आयु है, अर्थात् 18 वर्ष की उम्र से त्याग मार्ग पर जिन्होंने कदम रखा, उन्होंने अपनी जन्मतिथि-शरदपूर्णिमा को भी त्याग से सार्थक कर उस त्यागमयी जीवन के 58 वर्ष भी उन्होंने निर्विघ्नतापूर्वक पूर्ण किये हैं। इसलिए इनके 75वें जन्मदिवस पर 12 से 14 अक्टूबर 2008 को राष्ट्रीय स्तर पर हीरक जयंती महोत्सव मनाया गया।

**17. विश्वशांति अहिंसा सम्मेलन का उद्घाटन किया राष्ट्रपति जी ने**—21 दिसम्बर 2008 को जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में पूज्य माताजी की प्रेरणा से आयोजित विश्वशांति अहिंसा सम्मेलन का उद्घाटन भारत की प्रथम महिला राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह पाटील के करकमलों से हुआ। पुनः सन् 2009 ''शांति वर्ष'' में पूरे देश में विश्व की शांति के लिए धार्मिक अनुष्ठान एवं संगोष्ठियों के कार्यक्रम आयोजित किए गए।

**18. 'प्रथमाचार्य श्री शांतिसागर वर्ष' मनाने की प्रेरणा**—बीसवीं सदी के प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर जी महाराज के महान उपकारों से जन-जन को परिचित कराने के उद्देश्य से पूज्य माताजी ने वर्ष 2010 को ''प्रथमाचार्य श्री शांतिसागर वर्ष'' के रूप में मनाने की प्रेरणा समस्त समाज को प्रदान की है। इस वर्ष का उद्घाटन ज्येष्ठ कृ. चतुर्दशी, 11 जून 2010 को जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में भगवान शांतिनाथ जन्म-दीक्षा एवं निर्वाणकल्याणक के शुभ दिवस किया गया तथा अगले वर्ष ज्येष्ठ कृ. चतुर्दशी, 31 मई 2011 तक यह वर्ष विभिन्न आयोजनोंपूर्वक मनाया जाएगा।

ऐसी महान चतुर्मुखी प्रतिभा की धनी पूज्य माताजी के चरणों में भावभीना कोटिशः नमन है तथा भगवान जिनेन्द्र से यही प्रार्थना है कि उनके इस पवित्र त्यागमयी जीवन का हमें शताब्दी महोत्सव भी मनाने का लाभ प्राप्त हो तथा आपके द्वारा नया-नया साहित्य जनता को प्राप्त होता रहे, यही मंगलकामना है।

## एक अद्वितीय जैन केन्द्र

# दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान - जम्बूद्वीप

**–कर्मयोगी ब्र.रवीन्द्र कुमार जैन**

पिछले तीन दशकों से राजधानी दिल्ली की उत्तर दिशा में उत्तरप्रदेश के जिला मेरठ स्थित पौराणिक तीर्थ **हस्तिनापुर** में 'जम्बूद्वीप' नाम से एक राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय आकर्षण का केन्द्र अवस्थित है। 200 फुट के व्यास में निर्मित जैन भूगोल की अद्वितीय रचना **'जम्बूद्वीप'** के अन्दर हल्के गुलाबी संगमरमर से निर्मित 101 फुट ऊँचे **सुमेरु पर्वत** की शोभा आज किसके मन को आकर्षित नहीं करती है?

प्राचीन जैन साहित्य एवं भूगोल के परिचायक, वैज्ञानिकों के लिए शोध केन्द्र, आध्यात्मिक उन्नयन के लिए पवित्र स्थान, मानसिक शांति एवं जिनेन्द्र भगवान की पूजन-भक्ति के सम्पूर्ण साधनों तथा समस्त आधुनिक सुविधाओं की उपलब्धता सहित इस अनुपम तीर्थ की जनक संस्था का नाम है-**दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान (रजि.)।** जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी की पावन प्रेरणा से 1972 में इस संस्थान का सूत्रपात किया गया। दिगम्बर जैन इंस्टीट्यूट ऑफ कॉस्मोग्राफिक रिसर्च **(Digambar Jain Institute of Cosmographic Research)** के नाम से प्रसिद्ध इस संस्थान का आधारभूत लक्ष्य था-जम्बूद्वीप का निर्माण और यह जम्बूद्वीप ही अंततः संस्थान का मुख्य कार्यालय बन गया।

जंबूद्वीप की 30 एकड़ पवित्र भूमि पर संस्थान के द्वारा संचालित विभिन्न योजनाओं/रचनाओं का संक्षिप्त विवरण निम्नांकित है-

**1. जंबूद्वीप रचना**-जिनेन्द्र भगवान की 207 प्रतिमाओं से पावन भारतीय शिल्प और जैन भूगोल का अद्वितीय उदाहरण, आधुनिक आकर्षणों-बिजली के फौव्वारे, नौकविहार इत्यादि सहित।

**2. कमल मंदिर**-भगवान महावीर की अतिशयकारी खड्गासन प्रतिमा इस मंदिर में विराजमान हैं।

**3. ध्यान मंदिर**-24 तीर्थंकर भगवन्तों की प्रतिमाओं सहित **'ह्रीं'** रचना इस मंदिर में विराजमान हैं, जो कि 'ध्यान' (Meditation) करने हेतु उत्तमोत्तम माध्यम हैं।

**4. त्रिमूर्ति मंदिर**-भगवान आदिनाथ, भरत एवं बाहुबली की खड्गासन प्रतिमाओं से इस मंदिर का नाम सार्थक है। कमल पर विराजमान भगवान नेमिनाथ एवं पार्श्वनाथ से इस मंदिर की शोभा द्विगुणित हो गयी है।

**5. वासुपूज्य मंदिर**-इस मंदिर में 12वें तीर्थंकर-वासुपूज्य स्वामी की खड्गासन प्रतिमा विराजमान हैं।

**6. शांतिनाथ मंदिर**-जिन भगवन्तों के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान कल्याणकों से हस्तिनापुर की भूमि परम-पावन हुई है, उन शांति-कुंथु और अरहनाथ भगवंतों की खड्गासन प्रतिमाएँ इस मंदिर में विराजमान हैं।

**7. ॐ मंदिर**-अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठियों की प्रतिमाओं



सहित **ॐ** (ओम) रचना इस मंदिर में विराजित है।

**8. विद्यमान बीस तीर्थंकर मंदिर**-इस मंदिर में विदेह क्षेत्र के विद्यमान 20 तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ बीस कमलों पर विराजमान हैं।

**9. सहस्रकूट मंदिर**-जिनेन्द्र भगवान की 1008 प्रतिमाओं सहित।

**10. भगवान ऋषभदेव मंदिर**-धातु निर्मित भगवान ऋषभदेव की मूलनायक प्रतिमा एवं अन्य जिन प्रतिमाओं सहित।

**11. भगवान ऋषभदेव कीर्तिस्तंभ**-'भगवान ऋषभदेव अन्तर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव वर्ष' में निर्मित, भगवान के जीवन चरित्र को प्रदर्शित करने वाला, 8 प्रतिमाओं से समन्वित 31 फुट ऊँचा कीर्तिस्तंभ।

**12. तेरहद्वीप जिनालय**-इस मंदिर के अंदर मध्यलोक के तेरहद्वीपों की अकृत्रिम रचना का अति सुन्दरता के साथ दिग्दर्शन कराया गया है, जिसमें पंचमेरु पर्वतों के साथ-साथ कुल 2127 प्रतिमाएँ विराजमान हैं।

**13. अष्टापद दिगम्बर जैन मंदिर**-इस मंदिर के अंदर प्रथम जैन तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की निर्वाणभूमि अष्टापद-कैलाशपर्वत की आकर्षक प्रतिकृति विराजमान है। कैलाशपर्वत का ही दूसरा नाम अष्टापद है। 4 फरवरी 2000 को लाल किला मैदान, दिल्ली में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा इस प्रतिकृति के समक्ष निर्वाणलाडू चढ़ाकर इसका उद्घाटन किया गया।

**14. नवग्रह शान्ति जिनमंदिर–**पूज्य माताजी की पावन प्रेरणा से उत्तर भारत में प्रथम बार निर्मित इस नवग्रहशांति जिनमंदिर में नवग्रह अरिष्ट निवारक नव तीर्थंकरों की धातु निर्मित सुन्दर प्रतिमाएँ विराजमान हैं, जिनके दर्शन-पूजन करके भक्तगण अपने ग्रहों की शांति करते हुए देखे जाते हैं।

**15. तीर्थंकरत्रय की विशाल प्रतिमाएँ–**हस्तिनापुर में जन्मे तीर्थंकर श्री शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरहनाथ भगवान की 31-31 फुट की खड्गासन प्रतिमाएँ पूज्य माताजी की प्रेरणा से जम्बूद्वीप स्थल पर विराजमान हुई हैं, जिनका विशाल मंदिर भी प्रस्तावित है।

**16. तीनलोक की भव्य रचना–**त्रिलोकसार, तिलोयपण्णत्ति आदि करणानुयोग ग्रंथों के अनुसार तीन लोक की सुन्दर रचना का निर्माण भी पूज्य माताजी की प्रेरणा का ही सुफल है। इसमें अत्याधुनिक सुविधा के लिए लिफ्ट लगाई गई है, जिससे सभी भक्तगण सिद्धशिला तक के दर्शन प्राप्त कर सकते हैं।

**17. जम्बूद्वीप पुस्तकालय–**प्राचीन हस्तलिखित एवं प्रकाशित लगभग 15000 ग्रंथों एवं पुस्तकों के संग्रह सहित।

**18. जम्बूद्वीप औषधालय**

**19. ज्ञानमती कला मंदिरम्–**हस्तिनापुर के पौराणिक इतिहास को प्रदर्शित करने वाली झांकियों सहित।

**20. ज्ञानमती हीरक जयंती एक्सप्रेस–**विशेष कृत्रिम रेल, जिसमें चौबीसों तीर्थंकरों की 16 जन्मभूमियों का विविध झाँकियों एवं चित्रावली के माध्यम से मनमोहक प्रस्तुतीकरण किया गया है।

**21. वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला–**1972 में संस्थापित इस ग्रंथमाला द्वारा अब तक लाखों की संख्या में लगभग 300 ग्रंथों एवं पुस्तकों के संस्करणों का प्रकाशन हो चुका है।

**22. सम्यग्ज्ञान मासिक पत्रिका–**यह पत्रिका सन् 1974 से लगातार प्रकाशित हो रही है, जिसमें

जैन शास्त्रों के साररूप लेखों एवं अन्य महत्वपूर्ण कार्यक्रमों का संकलन एक स्थान पर प्राप्त होता है।

**23. राजा श्रेयांस भोजनशाला**—आने वाले दर्शनार्थियों को प्रतिदिन शुद्ध (जैनचर्या के अनुरूप) भोजन उपलब्ध कराने वाला यह दिगम्बर जैन समाज का प्रथम भोजनालय है, जहाँ एक साथ 500 लोग बैठकर भोजन कर सकते हैं।

**24. धर्मशालाएँ**—200 से अधिक फ्लैट, बंगले इत्यादि, जिनमें ठहरने संबंधी सभी आधुनिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

**25. मनोरंजन के साधन**—तरह-तरह के झूले, बच्चों की रेल, हँसी के गोलगप्पे, नौका विहार, फौव्वारे, हरे-भरे लॉन, पूरे कैम्पस में घूमने के लिए ऐरावत हाथी (मोटर से संचालित), बिजली की आकर्षक व्यवस्था, सुन्दर प्राकृतिक दृश्य इत्यादि बरबस ही दर्शनार्थियों को इस भव्य रचना की तुलना 'स्वर्ग' से करने के लिए प्रेरित करते हैं।

## दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा आयोजित सामाजिक एवं शैक्षणिक कार्यक्रम

**अक्टूबर 1981**-जम्बूद्वीप (हस्तिनापुर) स्थल पर **'जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति सेमिनार'**।

**31 अक्टूबर 1982**-फिक्की ऑडिटोरियम-दिल्ली में **'जम्बूद्वीप सेमिनार'** जिसका उद्घाटन श्री राजीव गांधी, तत्कालीन संसद सदस्य द्वारा किया गया।

**अप्रैल 1985**-जम्बूद्वीप (हस्तिनापुर) स्थल पर **'जैन गणित और त्रिलोक विज्ञान'** विषय पर अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार, जिसका उद्घाटन उ.प्र. के तत्कालीन मंत्री प्रोफेसर वासुदेव सिंह द्वारा किया गया।

**जून 1982 से अप्रैल 1985**-लालकिला मैदान, दिल्ली से तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरागांधी द्वारा 4 जून, 1982 को पूरे देश में भ्रमण करने हेतु **'जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति'** रथ का उद्घाटन किया गया। जनसाधारण में अहिंसा, चारित्र-निर्माण तथा विश्व बन्धुत्व के संदेश का प्रचार-प्रसार करते हुए 1045 दिन तक देश भर में भ्रमण करने के पश्चात् यह ज्ञान ज्योति तत्कालीन रक्षामंत्री श्री पी.वी. नरसिम्हा राव (भूतपूर्व प्रधानमंत्री) द्वारा जम्बूद्वीप के मुख्य द्वार के समक्ष सदैव के लिए स्थापित कर दी गई।

**1992**-**'अंतर्राज्यीय चरित्र निर्माण संगोष्ठी'** का जंबूद्वीप स्थल पर श्री नेमीचंद जैन, विधायक (मध्यप्रदेश) की अध्यक्षता में आयोजन किया गया।

**'जैन गणित'** एवं **'चारित्र निर्माण'** आदि विषयों पर हुई संगोष्ठियाँ **मेरठ विश्वविद्यालय एवं दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान के संयुक्त तत्वावधान में** आयोजित की गईं।

**1993**-अयोध्या में अवध विश्वविद्यालय-फैजाबाद के संयुक्त तत्वावधान में **'भारतीय संस्कृति के आद्य प्रणेता भगवान ऋषभदेव'** विषय पर संगोष्ठी।

**अक्टूबर 1995**-मेरठ विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्वावधान में पंचदिवसीय **'गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती साहित्य संगोष्ठी-95'**।

**मार्च-अप्रैल 1998**-तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा 9 अप्रैल 1998 को तालकटोरा स्टेडियम, दिल्ली से देश भर में भ्रमण करने हेतु **'भगवान ऋषभदेव समवसरण श्रीविहार रथ'** का उद्घाटन। 3 वर्ष तक देशभर में तीर्थंकर भगवन्तों के सर्वोदयी सिद्धांतों एवं जैनधर्म की प्राचीनता का प्रचार-प्रसार करने के पश्चात् यह समवसरण इलाहाबाद उच्च



न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश द्वारा तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली प्रयाग तीर्थ (इलाहाबाद) में स्थापित कर दिया गया।

**अक्टूबर 1998**-जम्बूद्वीप स्थल पर **'राष्ट्रीय कुलपति सम्मेलन'**, जिसका उद्घाटन किया गया-स्वर्गीय श्री राजेश पायलट (तत्कालीन संसद सदस्य द्वारा)।

**फरवरी 2000**-तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा 4 फरवरी 2000 को लाल किला मैदान, दिल्ली में एक वर्ष तक चलने वाले **'भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव वर्ष'** का उद्घाटन किया गया।

इस युग में जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव पर 1008 संगोष्ठियों की श्रृंखला, भगवान ऋषभदेव कीर्तिस्तंभों का निर्माण तथा अन्य अनेक सामाजिक एवं शैक्षणिक कार्यक्रम राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इस वर्ष के अंतर्गत आयोजित किये गये।

टोरण्टो, कनाडा, न्यूजर्सी आदि विदेश की भूमियों पर भी इन्हीं प्रेरणाओं के माध्यम से 4 फरवरी 2000 को निर्वाण महामहोत्सव मनाया गया।

**जून 2000**-जम्बूद्वीप स्थल पर 11 जून 2000 को **'जैनधर्म की प्राचीनता'** विषय पर राष्ट्रीय सेमिनार आयोजित किया गया।

**फरवरी 2001**-भगवान ऋषभदेव की दीक्षाभूमि-प्रयाग (इलाहाबाद) में **'तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ'** का नवनिर्माण। इस तीर्थ पर भगवान के दीक्षा कल्याणक के प्रतीकस्वरूप धातु के वटवृक्ष के नीचे ध्यान में लीन महायोगी ऋषभदेव की सवा पांच फुट उत्तुंग पिच्छी-कमण्डलु सहित खड्गासन प्रतिमा, केवलज्ञान कल्याणक के प्रतीकस्वरूप भगवान की चतुर्मुखी प्रतिमा सहित दिव्य समवसरण रचना तथा निर्वाण कल्याणक के प्रतीक स्वरूप 51 फुट उत्तुंग 'कैलाशपर्वत' की भव्य रचना पर भगवान ऋषभदेव की 14 फुट उत्तुंग अत्यंत मनोहारी लालवर्णी पद्मासन प्रतिमा तथा तीन चौबीसी के प्रतीक स्वरूप 72 जिन प्रतिमाएँ विराजमान हैं। 'ऋषभदेव कीर्तिस्तंभ' भी स्थापित है। 4 से 8 फरवरी 2001 तक 'भगवान ऋषभदेव पंचकल्याणक प्रतिष्ठा' एवं 1008 महाकुंभों से कैलाशपर्वत पर प्रतिष्ठित भगवान ऋषभदेव का 'महाकुंभमस्तकाभिषेक' कार्यक्रम।

**सन् 2003-2004**-भगवान महावीर की जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा) में **'नंद्यावर्त महल तीर्थ'** का निर्माण। भगवान महावीर मंदिर, भगवान ऋषभदेव मंदिर, नवग्रहशांति जिनमंदिर, त्रिकाल चौबीसी मंदिर और नंद्यावर्त महल (भगवान महावीर का जन्म महल) एवं उसमें स्थापित भगवान शांतिनाथ जिनालय इस तीर्थ के मुख्य आकर्षण हैं। महावीर की जन्मभूमि के प्रचार-प्रसार हेतु **भगवान महावीर ज्योति रथ** सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रवर्तन कर चुका है।

**सन् 2005-2007-भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव**6 जनवरी 2005 को जन्मभूमि वाराणसी से इसका भव्य उद्घाटन होकर पूरे एक वर्ष तक (27 दिसम्बर 2005 तक) इसे विभिन्न आयोजनों के साथ मनाया गया।

पुनः सन् 2006 में पूज्य माताजी ने भगवान पार्श्वनाथ निर्वाणभूमि ''सम्मेदशिखर वर्ष'' घोषित किया तथा दिसम्बर 2007 में केवलज्ञान भूमि अहिच्छत्र तीर्थ पर भगवान पार्श्वनाथ सहस्राब्दि महोत्सव का राष्ट्रीय कार्यक्रम आयोजित करके 4 जनवरी 2008 को भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव का समापन किया।

**विशेषरूप से इस संस्थान द्वारा 21 दिसम्बर 2008 को जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में**

**'विश्वशांति अहिंसा सम्मेलन' का आयोजन किया गया, जिसका उद्घाटन पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी ससंघ के सानिध्य में भारत गणतंत्र की राष्ट्रपति महामहिम श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह पाटील के करकमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर राष्ट्रपति जी अपने पति डॉ. देवीसिंह शेखावत के साथ सम्मेलन में पधारीं। कार्यक्रम में उत्तरप्रदेशके राज्यपाल श्री टी.वी. राजेश्वर तथा स्वास्थ्य मंत्री श्री अनंत कुमार मिश्रा भी पधारे। इसी अवसर पर पूज्य माताजी द्वारा वर्ष 2009 को ''शांति वर्ष'' के रूप में मनाने की घोषणा की गई। यह 'शांति वर्ष-2009' वर्तमान में समस्त जैन समाज द्वारा भारत के विभिन्न प्रान्तों में अनेक कार्यक्रमों के माध्यम से मनाया गया।**

इस संस्थान के द्वारा समय-समय पर विविध पंचकल्याणक प्रतिष्ठाएं एवं धार्मिक कार्यक्रम सम्पन्न होते रहते हैं। संस्थान के अद्भुत कार्यकलाप की श्रेणी में है-**णमोकार महामंत्र बैंक,** जहाँ प्रतिवर्ष श्रद्धालु भक्तों द्वारा लाखों की संख्या में णमोकार मंत्र लिखकर जमा कराए जाते हैं, तुमकूर (कर्नाटक) से एक करोड़ मंत्र एवं उदयपुर (राज.) से एक करोड़मंत्र सन् 2006 में इस बैंक में जमा हुए अतः उन्हें विशेष रूप से सम्मानित किया गया। करोड़ों महामंत्र विश्वशांति की किरणें प्रसारित करने में अतिशय धरोहरस्वरूप हैं।

## संस्थान द्वारा दिये जाने वाले पुरस्कार

**गणिनी ज्ञानमती पुरस्कार**-सन् 1995 से प्रत्येक पाँच वर्ष में यह पुरस्कार जैन धर्म पर उच्चस्तरीय शोध तथा संस्थान की शैक्षणिक गतिविधियों में सहयोग हेतु किसी भी जैन विद्वान या समर्पित कार्यकर्ता को 1,00,000/-(एक लाख) रुपये की नगद राशि, प्रशस्ति-पत्र इत्यादि के साथ प्रदान किया जाता था। अप्रैल 2006 में ''गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी आर्यिका दीक्षा स्वर्ण जयंती महोत्सव'' के अवसर पर संस्थान द्वारा प्रतिवर्ष इस पुरस्कार को देने का निर्णय लिया गया अतः अब यह पुरस्कार प्रतिवर्ष किसी वरिष्ठ विद्वान अथवा विशिष्ट समाजसेवी को प्रदान किया जाता है।

**आर्यिका रत्नमती पुरस्कार**-सन् 1999 में स्थापित 11,000/- रुपये की नगद राशि सहित प्रतिवर्ष प्रदान किया जाने वाला पुरस्कार।

**जम्बूद्वीप पुरस्कार**-सन् 2000 में स्थापित 25,000/- रुपये की नगद राशि सहित प्रतिवर्ष प्रदान किया जाने वाला पुरस्कार।

**श्री छोटेलाल जैन पुरस्कार**-सन् 2003 में स्थापित 11,000/-रुपये की नगद राशि सहित प्रतिवर्ष प्रदान किया जाने वाला पुरस्कार।

**नंद्यावर्त महल पुरस्कार**-सन् 2004 से प्रारंभ 25000/-रुपये की नगद राशि सहित प्रतिवर्ष प्रदान किया जाने वाला पुरस्कार।

उपरोक्त पुरस्कारों के अतिरिक्त 'भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महोत्सव वर्ष' के अवसर पर घोषित **'भगवान ऋषभदेव नेशनल अवार्ड', 'ब्राह्मी पुरस्कार', 'भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर पुरस्कार', 'गणिनी ज्ञानमती दीक्षा स्वर्ण जयंती पुरस्कार' एवं 'हीरक जयंती पुरस्कार'** भी संस्थान द्वारा प्रदान किये जा चुके हैं।



## इलाहाबाद-उ.प्र. में तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली प्रयाग तीर्थ का निर्माण

सन् 2001 में संस्थान के अन्तर्गत भगवान ऋषभदेव दीक्षा एवं केवलज्ञानकल्याणक भूमि प्रयाग (उ.प्र.) में इस तीर्थ का निर्माण इलाहाबाद-बनारस हाइवे पर किया गया है। इस तीर्थ परिसर में ''ऋषभदेव दीक्षाकल्याणक तपोवन'' एवं समवसरण रचना मंदिर के साथ-साथ भगवान की निर्वाणभूमि के प्रतीक में विशाल कैलाशपर्वत का भी निर्माण हुआ। इसमें 72 चैत्यालय हैं तथा पर्वत के नीचे गुफा मंदिर में भगवान ऋषभदेव की अतिशयकारी धातु प्रतिमा (सवा तीन फुट पद्मासन) विराजमान है। पर्वत के ईशान कोण में निर्मित 31 फुट ऊँचे कीर्तिस्तंभ में ऋषभदेव-महावीर स्वामी की 8 प्रतिमाएँ हैं। क्षेत्र पर यात्रियों के आवास-भोजन आदि की सम्पूर्ण आधुनिक व्यवस्था उपलब्ध है। इस तीर्थ का संचालन संस्थान के अंतर्गत गठित उपसमिति के द्वारा किया जा रहा है।

## भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर तीर्थ का विकास

भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा-बिहार) का विकास करने हेतु संस्थान के अन्तर्गत भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर दिगम्बर जैन समिति नाम से एक उपसमिति बनाई गई, जिसके माध्यम से वहाँ 'नंद्यावर्त महल' तीर्थ परिसर का निर्माण किया गया। वहाँ नंद्यावर्त महल तीर्थ परिसर में भगवान शांतिनाथ चैत्यालय के अतिरिक्त विश्वशांति महावीर मंदिर, भगवान ऋषभदेव मंदिर, नवग्रहशांति मंदिर तथा तीन मंजिल का त्रिकाल चौबीसी मंदिर है। वहाँ यात्रियों के लिए आधुनिक सुविधायुक्त आवास एवं भोजन की समुचित व्यवस्था है।

उपरोक्त सभी निर्माण योजनाएं, सामाजिक, धार्मिक तथा शैक्षणिक कार्यक्रम **पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी** की पावन प्रेरणा से उनके ससंघ सानिध्य में इस संस्थान द्वारा आयोजित किये गये हैं। संघस्थ**प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी**का मार्गदर्शन एवं **पीठाधीश क्षुल्लकरत्न श्री मोतीसागर जी महाराज** का निर्देशन इन समस्त कार्यों में अत्यन्त महत्वपूर्ण रहता है।

## भगवान पुष्पदंतनाथ जन्मभूमि काकंदी तीर्थ का विकास

पूज्य माताजी की प्रेरणा से गठित ''अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थंकर जन्मभूमि विकास कमेटी'' द्वारा भगवान पुष्पदंतनाथ की जन्मभूमि काकन्दी (निकट गोरखपुर-उ.प्र.) का विकासकार्य सम्पन्न किया गया है। तीर्थ पर भगवान पुष्पदंतनाथ की सवा 9 फुट पद्मासन प्रतिमा सुन्दर जिनमंदिर में विराजमान होकर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा से प्रतिष्ठित हो चुकी हैं तथा भगवान पुष्पदंतनाथ कीर्तिस्तंभ तीर्थ की कीर्ति को दिग् दिगन्तव्यापी ख्याति प्राप्त कराने में निमित्तभूत है।

इस प्रकार यह संस्थान अपनी विभिन्न समर्पित कार्य योजनाओं द्वारा समाज की सेवा में प्रतिक्षण संलग्न है। मानसिक शांति, आध्यात्मिक विकास, प्राकृतिक सौन्दर्यएवं अन्य अनेक लाभ एक साथ प्राप्त करने हेतु यह संस्थान जंबूद्वीप दर्शन के लिए आपको सादर आमन्त्रित करता है।

# वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला के सहयोगी

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान के अन्तर्गत "वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला" की स्थापना सन् 1972 में हुई। तब से अब तक लाखों की संख्या में ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है और निरन्तर हो रहा है। ग्रंथमाला से पाठकों को ग्रन्थ कम कीमत में प्राप्त हो सकें, इस दृष्टि से ग्रन्थमाला में एक संरक्षक योजना अगस्त सन् 1990 से प्रारंभ की गई है। इस योजना के अन्तर्गत निम्न महानुभाव अब तक संरक्षक बनकर अपना सहयोग प्रदान कर चुके हैं।

## शिरोमणि संरक्षक

**1. श्रीमती निर्मला जैन ध.प. स्व. श्री प्रेमचन्द्र जैन, तत्पुत्र प्रदीप कुमार जैन, खारी बावली, दिल्ली-6।**
**2. श्रीमती सुमन जैन ध.प. श्री दिग्विजय सिंह जैन, इंदौर।**
**3. श्री महावीर प्रसाद जैन संघपति, जी-19, साऊथ एक्सटेन्शन, नई दिल्ली।**
**4. श्री महेन्द्र पाल हरेन्द्र कुमार जैन, सूरजमल विहार, दिल्ली।**
**5. श्रीमती मोहनी जैन ध.प. श्री सुनील जैन, प्रीत विहार, दिल्ली।**
**6. श्री देवेन्द्र कुमार जैन (धारूहेड़ा वाले) गुड़गाँव (हरि.)।**
**7. श्रीमती शारदा रानी जैन ध.प. स्व. रिखबचंद जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-92।**
**8. डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन, भोपाल (म.प्र.)**
**9. श्रीमती संगीता जैन ध.प. श्री संजीव कुमार जैन, शेरकोट (बिजनौर) उ.प्र.**
**10. श्री अनिल कुमार जैन, दरियागंज, दिल्ली**
**11. श्री बी.डी. मदनाइक, मुम्बई**
**12. श्री धनकुमार जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-92।**
**13. श्री जितेन्द्र कुमार जैन एवं श्रीमती सुनीता जैन कोटड़िया, फ्लोरिडा, यू.एस.ए.**
**14. श्रीमती विमला देवी जैन ध.प. श्री ओमप्रकाश जैन, स्वालिक नगर, हरिद्वार (उत्तराखंड)।**
**15. श्री अमित जैन एवं संभव जैन सुपुत्र श्रीमती अनीता जैन ध.प. श्री मूलचंद जैन पाटनी, दिसपुर (कामरूप) आसाम।**
**16. श्रीमती अजित कुमारी जैन ध.प. श्री महेन्द्र कुमार जैन, ओबेदुल्लागंज (रायसेन) म.प्र.।**
**17. श्री नाभिकुमार जैन, जैन बुक डिपो, सी-4, पी.वी.आर. प्लाजा के पीछे, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली।**

## परम संरक्षक

**1. श्री माँगीलाल बाबूलाल पहाड़े, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)।**
**2. डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन, 792 विवेकानंदपुरी, सिविल लाइन, सीतापुर (उ.प्र.)।**
**3. श्री सुमत प्रकाश जैन, गज्जू कटरा, शाहदरा, दिल्ली।**
**4. श्री सुनील कुमार जैन, द्वारा-सुनील टैक्सटाईल्स, सरधना (मेरठ) उ.प्र.।**
**5. श्री प्रकाश चंद अमोलक चंद जैन सर्राफ, सनावद (म.प्र.)।**
**6. श्री प्रद्युम्न कुमार जवेरी, रोकड़ियालेन, बोरीवली (वेस्ट) मुंबई।**
**7. श्रीमती उर्मिला देवी ध.प. श्री कान्ती प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।**
**8. श्रीमती उषा जैन ध.प. श्री विमल प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।**
**9. श्री आनन्द प्रकाश जैन (सौरम वाले) , गांधीनगर, दिल्ली।**
**10. श्रीमती सरिता जैन ध.प. श्री राजकुमार जैन, किदवई नगर, कानपुर।**
**11. स्व. श्रीमती कैलाशवती ध.प. श्री कैलाश चन्द्र जैन , तोपखाना बाजार, मेरठ।**
**12. श्री भानेन्द्र कुमार जैन, द्वारा-श्री विद्या जैन, भगत सिंह मार्ग, जयपुर।**
**13. श्री प्रदीप कुमार शान्तिलाल बिलाला, अनूपनगर, इंदौर, (म.प्र.)।**
**14. श्री सुरेशचंद पवन कुमार जैन, बाराबंकी (उ.प्र.)।**



**15. श्री नथमल पारसमल जैन, कलकत्ता-7।**
**16. श्रीमती स्व. शांताबाई ध.प. श्री कमलचंद जैन, सनावद (म.प्र.)।**
**17. श्री रूपचंद जैन कटारिया, दिल्ली**
**18. श्री आशु जैन, कालका जी, नई दिल्ली**

## संरक्षक

1. स्व. श्री अनन्तवीर्य जैन एवं स्व. श्रीमती आदर्श जैन के सुपुत्र श्री मनोज कुमार जैन, मेरठ।
2. श्रीमती राजूबाई मातेश्वरी श्री शिखर चन्द भाई देवेन्द्र कुमार लखमी चन्द जैन, सनावद (म.प्र.)।
3. श्री चिमनलाल चुन्नीलाल दोशी, कीका स्ट्रीट, मुम्बई।
4. श्रीमती अरुणाबेन मन्नूभाई कोटड़िया, सी.पी. टैंक रोड, मुम्बई।
5. श्रीमती ताराबेन चन्दूलाल दोशी, फ्रेन्च ब्रिज, मुम्बई।
6. श्री रतिलाल चुन्नीलाल दोशी, मुम्बई।
7. स्व. श्रीमती मथुराबाई खुशाल चन्द्र जैन, द्वारा-श्री रतन चन्द खुशाल चन्द्र गाँधी के सुपुत्र श्री धन्य कुमार, अशोक कुमार, शिरीश कुमार, धर्मराज गाँधी फलटन (महा.)।
8. श्री शांतिलाल खुशाल चन्द गाँधी, फलटन (सातारा) महा.।
9. श्री अनन्त लाल फूलचन्द फड़े, अकलूज (सोलापुर) महा.।
10. श्री हीरालाल माणिकलाल गाँधी, अकलूज (सोलापुर) महा.।
11. श्री जयकुमार खुशालचंद गाँधी, अकलूज (सोलापुर) महा.।
12. श्रीमती बदामी देवी मातेश्वरी श्री पदम कुमार जैन गंगवाल, कानपुर (उ.प्र.)।
13. श्रीमती कमलादेवी ध.प. स्व. श्री महेन्द्र कुमार जैन, घण्टे वाले हलवाई, दरियागंज, नई दिल्ली।
14. श्रीमती उषादेवी ध.प. श्री श्रवण कुमार जैन, चावड़ी बाजार, दिल्ली।
15. श्री मुकेश कुमार जैन, कटरा शहंशाही, चाँदनी चौक, दिल्ली।
16. श्री हुकमीचंद मांगीलाल शाह, धानमंडी, उदयपुर (राज.)
17. श्री किरण चन्द्र जैन, कटरा धूलियान, चाँदनी चौक, दिल्ली।
18. श्रीमती विमलादेवी ध.प. श्री महावीर प्रसाद जैन इंजी. विवेक विहार, दिल्ली
19. श्रीमती उषादेवी ध.प. श्री अशोक कुमार जैन (खेकड़ा निवासी), बहराइच (उ.प्र.)।
20. श्रीमती लीलावती ध.प. श्री हरीश चन्द्र जैन, शकरपुर, दिल्ली।
21. श्री दुलीचन्द जैन, बाहुबली एन्कलेव, दिल्ली।
22. श्री रतिलाल केवलचन्द गाँधी की पुण्य स्मृति में, पापुलर परिवार, सूरत (गुज.)।
23. श्रीमती भंवरीदेवी ध.प. श्री सदासुख जैन पांड्या की समृति में इन्दर चन्द सुमेरमल जैन पांड्या शिलांग (मेघालय)।
24. श्रीमती सोहनीदेवी ध.प. श्री तनसुखराय सेठी, फैन्सी बाजार, गौहाटी (आसाम)।
25. श्रीमती धापूबाई ध.प. श्री कस्तूर चन्द जैन, रामगंज मण्डी (राज.)।
26. श्री मिट्ठनलाल चन्द्रभान जैन, कविनगर गाजियाबाद (उ.प्र.)।
27. श्रीमती शकुन्तलादेवी ध.प. श्री सुरेशचंद जैन (बर्तन वाले), खुड़बुड़ा मोहल्लका, देहरादून (उ.प्र.)।
28. श्री देवेन्द्र कुमार गुणवन्त कुमार टोंग्या, बड़नगर (म.प्र.)।
29. श्री दिगम्बर जैन समाज, तहसील फतेहपुर (बाराबंकी) उ.प्र.।
30. श्री मन्नालाल रामलाल जैन डूंगरवाला, भानपुरा (मन्दसौर) म.प्र.।
31. श्री इन्दर चन्द कैलाश चंद चौधरी, सनावद (म.प्र.)।
32. श्री प्रकाश चन्द अमोलक चन्द जैन सर्राफ, सनावद (म.प्र.)।
33. स्व. श्री विमल चन्द जैन, रखबचन्द दसरथ सा, सनावद (म.प्र.)।
34. श्री आजाद कुमार जैन शाह (सनावद वाले), इन्दौर (म.प्र.)।
35. श्रीमती सुषमा जैन ध.प. श्री राकेश कुमार जैन, मवाना (मेरठ) उ.प्र.।

36. श्रीमती कुसुम जैन ध.प. श्री रमेशचन्द जैन, किशनपुरी, बागपत रोड, मेरठ।
37. श्रीमती किरण जैन ध.प. श्री पदम प्रसाद जैन एडवोकेट, मेरठ (उ.प्र.)।
38. श्रीमती विमलादेवी ध.प. श्री जिनेन्द्रप्रसाद जैन ठेकेदार, टोडरमल रोड, नई दिल्ली।
39. श्रीमती क्षमादेवी जैन, मधुबन, दिल्ली।
40. श्रीमती कमलादेवी ध.प. श्री राजेन्द्र कुमार जैन टोडरका, ठाणे (महा.)।
41. श्री अजित प्रसाद जैन बब्बेजी, श्री राजकुमार श्रवण कुमार जैन, लखनऊ।
42. श्री प्रभा चन्द गोधा, 45 भगत वाटिका, सिविल लाइन, जयपुर-6 (राज.)।
43. श्री गोपीचन्द विपिन कुमार जैन, सरधना टैन्ट हाउस, गंजमंडी, सरधना।
44. श्रीमती रतनसुन्दरी देवी ध.प. श्री वीरचन्द जैन (चिकन वाले), चूड़ीवाली गली,चौक बाजार, लखनऊ।
45. डॉ. सुभाषचन्द जैन, रातानाड़ा क्लीनिक, रातानाड़ा बाजार, जोधपुर (राज.)।
46. श्री प्रमोद कुमार जैन (मुजफ्फरनगर वाले) 35 एच.वी.रोड, न्यू मार्केट, थरपकना, रांची (बिहार)।
47. श्री विजेन्द्र कुमार जैन, के.-1/20 मॉडल टाउन, दिल्ली।
48. श्री कैलाश चंद जैन, 45 भगत वाटिका, सिविल लाइन, जयपुर (राज.)।
49. श्री सुभाषचंद जैन, श्री दि. जैन पार्श्वनाथ चैत्यालय, 405 डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली।
50. श्री सुभाष चन्द जैन सर्राफ, टिकैतनगर (बाराबंकी) उ.प्र.।
51. श्री चन्द्रसेन जैन, द्वारा-सुमेरचन्द, चन्द्रसेन जैन, सब्जी मण्डी, नहटौर (बिजनौर)।
52. श्री सुधीर कुमार जैन जे.ई., नन्द किशोर जैन, शारदा नहर खण्ड, शाहजहाँपुर।
53. श्री सुकुमालचंद जैन, मोती ट्रेडिंग कम्पनी, टी.आर. फुकन रोड, फैन्सी बाजार, गौहाटी।
54. श्री अनिल पुलकित सेठी, बी 1/122, फेज-2, अशोक विहार, दिल्ली-110052।
55. श्री चन्द्रमोहन बंसल, 11, पूसा रोड, करोलबाग, नई दिल्ली-5।
56. श्री गिरधर प्रसाद आमोद प्रसाद जैन, जैन वस्त्रालय, काली मार्केट, सिवान (बिहार)।
57. श्री सतीश चन्द जैन, 31 सिविल लाइन, म.नं.-10, सेक्टर-2, टाइप-5 झांसी।
58. श्री स्वरूप चन्द कासलीवाल, नया बाजार, अजमेर (राज.)।
59. श्री हुलास चन्द सेठी, अयोध्या शुगर मिल्स, राजा का सहसपुर, बिलारी (उ.प्र.)।
60. श्रीमती किरण देवी जैन ध.प. श्री नरेन्द्र कुमार जैन, सिविल लाइन, सीतापुर (उ.प्र.)।
61. श्रीमती संतोष जैन ध.प. श्री प्रवीण कुमार जैन, बाराबंकी (उ.प्र.)।
62. श्री सूरजमल पुत्र श्री विनीत कुमार जैन, मोहल्ला गंजकटरा पूरणटरा पूरणजाट, जैन विला, मुरादाबाद (उ.प्र.)।
63. स्व. श्री शिखर चन्द जैन, 'टिम्बर कमीशन एजेन्ट', शंकरगंज, हापुड़ (उ.प्र.)।
64. श्रीमती राजेश्वरी जैन मातेश्वरी श्री राकेश जैन 31, सिविल लाईन, सीतापुर।
65. श्री राजकुमार जैन, मैसर्स रविदत्त प्रेमचन्द जैन बारदाने वाले, श्यामगंज, बरेली।
66. श्री बलवीर जैन, द्वारा-जानकी एक्सटेंशन रिफाइनरी, गाँधीगंज, शाहजहाँपुर।
67. श्री पन्नालाल सेठी, डीमापुर (नागालैंड)।
68. श्री वीरेन्द्र कुमार जैन, ईदगाह कालोनी, आगरा (उ.प्र.)।
69. श्री पोखपाल जैन, द्वारा-नावेल्टी मेटल इंडिया, मानसिंह गेट, अलीगढ़ (उ.प्र.)।
70. श्रीमती रश्मि जैन ध.प. श्री विजय कुमार जैन, दरियागंज, नई दिल्ली।
71. श्रीमती विमला देवी ध.प. श्री प्रमोद कुमार जैन इंजी., शाहजहाँपुर (उ.प्र.)।
72. स्व. श्रीमती कैलाशवती जैन ध.प. श्री कैलाश चन्द जैन इंजी., तोपखाना बाजार, मेरठ।
73. श्रीमती अरुण कुमार नांद्रेकर ध.प. भाऊ साहेब नांद्रेकर, मुलुन्ड (वेस्ट) मुम्बई।
74. श्री भागचन्द मनीष कुमार ठोलिया, द्वारा-किरन एजेंसी, पो. बुरहानपुर, (म.प्र.)।
75. श्री कैलाशचन्द राजकुमार जैन रावंका, पो. बिसवां (सीतापुर) उ.प्र.।
76. श्रीमती विद्यावती जैन, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली।
77. श्री आनन्द प्रकाश जैन (सौरम वाले) एवं सुपुत्र श्री मदन कुमार, प्रदीप कुमार एवं प्रवीण कुमार जैन, धर्मपुरा, गाँधीनगर, दिल्ली।



78. श्रीमती अरुणा जैन, ध.प. प्रवीन्द्र कुमार जैन, प्रीतमपुरा, दिल्ली।
79. श्रीमती पुष्पादेवी, ध.प. महेन्द्र कुमार जैन, पुष्पांजली एन्क्लेव, दिल्ली।
80. श्री बाबूलाल तोताराम जैन, भुसावल (महा.)।
81. डॉ. अनुपम जैन, सुदामा नगर, इंदौर (म.प्र.)।
82. श्री विनय कुमार जैन, ज्वैलर्स, दरीबाकलां, दिल्ली।
83. स्व. श्री आनन्द प्रकाश जैन 'शान्तिप्रिय', जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.।
84. श्रीमती राजुलबाई ध.प. श्री नेमीचन्द जैन लोहाड़े, पो. कोपरगाँव (महा.)।
85. श्री धन्नालाल गोधा, मल्हारगंज, इंदौर (म.प्र.)।
86. श्री सुनील कुमार मनोज कुमार जैन, झिलमिल कालोनी, दिल्ली।
87. श्रीमती आशा जैन ध.प. श्री राजेश कुमार जैन बरुआ सागर (उ.प्र.)।
88. श्री पारसमल डूंगरमल जी पाटनी पो. मेड़तासिटी, नागौर (राजस्थान)।
89. श्री अनिल कुमार जैन (गुड़गांव वाले) प्रियदर्शनी विहार, दिल्ली-92।
90. श्रीमती कृष्णा बाई नेमीनाथ जैन, पी. वाले, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)।
91. श्रीमती मंजूलता जैन ध.प. श्री प्रभात चन्द गोधा, नया बाजार, अजमेर (राज.)।
92. श्री प्रमोद कुमार जैन, पारस प्रिन्टर्स, शाहदरा-दिल्ली।
93. श्री चांदमल अनिल कुमार सरावगी, किशनगंज (बिहार)।
94. कुमारी अदिती सुपुत्री श्री अपोलो जी जैन सौगानी, इंदौर।
95. श्रीमती मंजूलता ध.प. प्रभाचन्द गोधा-नया बाजार, अजमेर।
96. श्री सुचेद्र कुमार शैलेन्द्र कुमार जैन, डाल्टनगंज (झारखंड)।
97. श्रीमती जतनदेवी लक्ष्मीचंद जैन, चेन्नई (तमिलनाडु)।
98. श्रीमती सखाई जैन ध.प. श्री जीतमल जैन, मड़ाना (कोटा) राज.।
99. श्री मोहित जैन पुत्र मुकेश जैन, जगन्नाथ जैन पहाड़िया, फतेहपुर (शेखावटी) राज.।
100. श्री नरेश जैन बंसल, गुड़गाँवा (हरि.)।
101. श्रीमती रतनबाई ध.प. राजेन्द्र प्रकाश कोठिया, कोटा (राज.)।
102. श्रीमती संतोष जैन ध.प. श्री अजीत कुमार जैन, भिवाड़ी (राज.)।
103. श्रीमती प्रेमलता जैन ध.प. श्री सुशील कुमार जैन, मलाड़ (मुम्बई)।
104. श्री राजेन्द्र कुमार पंचौलिया, इंदौर (म.प्र.)।
105. स्व. श्री मोहनलाल हेमचंद गांधी, सतारा (महा.)।
106. श्रीमती आरती जैन ध.प. श्री प्रकाशचंद जैन 'शीशे वाले', इलाहाबाद (उ.प्र.)
107. डॉ. विमला जैन "विमल" ध.प. श्री प्रकाशचंद जैन, फिरोजाबाद (उ.प्र.)

# विषय सूची


| क्र.सं. | विषय | पृष्ठ |
|---|---|---|
| 1. | मंगलाचरण | 1 |
| 2. | प्रवचन पद्धति | 2 |
| 3. | सम्यग्दर्शन के कारण | 8 |
| 4. | सम्यग्दर्शन | 33 |
| 5. | व्यवहारनय-निश्चयनय | 56 |
| 6. | निमित्त उपादान | 90 |
| 7. | चारों अनुयोगों की सार्थकता | 124 |
| 8. | पंचमकाल में मुनियों का अस्तित्व | 142 |
| 9. | ग्रंथों के अध्ययन-अध्यापन की शैली | 171 |
| 10. | ध्यान की आवश्यकता | 193 |
| 11. | सरस्वती स्तोत्र | 201 |
| 12. | प्रशस्तिः | 202 |
| 13. | भजन | 203 |
| 14. | भजन | 204 |




# शास्त्र स्वाध्याय का प्रारंभिक मंगलाचरण

**ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः**

**ओंकारं विन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।**
**कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमो नमः।।1।।**

**अविरलशब्दघनौघ-प्रक्षालितसकलभूतलमलकलंका।**
**मुनिभिरुपासिततीर्था-सरस्वती हरतु नो दुरितान्।।2।।**

**अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानांजनशलाकया।**
**चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः।।3।।**

**श्री परमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरवे नमः। सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, पापप्रणाशकं, पुण्यप्रकाशकं भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं इदं शास्त्रं श्री प्रवचन निर्देशिका[1] नामधेयं, अस्य मूलग्रंथकर्तारः श्री सर्वज्ञ देवाः, तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्री गणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवाः तेषां वचोनुसारमासाद्य गणिनी आर्यिकाश्री ज्ञानमतीमात्रा विरचितं[2]। श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु।**

**मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।**
**मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।4।।**

---

1. जिस ग्रंथ का स्वाध्याय करना हो उसका नाम लेना चाहिए।
2. उस ग्रंथ के जो रचयिता हों उनका नाम लेना चाहिए।

# प्रवचन-निर्देशिका

## मंगलाचरणम्

**सर्वज्ञो वीतरागोऽर्हन्, श्रेयोमार्गस्य शासकः।**
**नमस्करोमि तं भक्त्या, स पुष्यात् मे समीहितम्।।1।।**

**अर्हतां दिव्यवाणी या, स्याद्वादामृतगर्भिणी।**
**सा मे चित्ते सदा तिष्ठेत्, वाणीं च विमलीक्रियात्।।2।।**

**सिद्धं जैनं प्रकृष्टत्वाद् वचः प्रवचनाभिधम्।**
**तन्मे चित्ते सदा स्थेयात्, सत्पथं चापि निर्दिशेत्।।3।।**

**उपदिश्युः जनान् सन्तः, आनुपूर्व्या ह्यतो मया।**
**तेषां प्रवचनस्यैषा, निर्देशिका प्रवक्ष्यते।।4।।**

अर्हंत भगवान सर्वज्ञ हैं, वीतरागी हैं और मोक्षमार्ग के उपदेष्टा हैं। मैं उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ वे मेरे मनोरथ को सफल करें। अर्हंत भगवान की जो दिव्यवाणी स्याद्वादरूपी अमृत से सहित है, वह मेरे हृदय में सदा स्थित रहे और मेरे वचनों को विमल–निर्दोष करे।।1-2।।

जिनेन्द्र भगवान के वचन प्रकृष्ट–सर्वश्रेष्ठ होने से 'प्रवचन' इस नाम से सिद्ध हैं। वे वचन सदैव मेरे हृदय में स्थित रहें और मुझे सत्पथ का निर्देश करें।।3।।

सज्जन लोग गुरु परम्परा से लोगों को उपदेश देवें अतः उन विद्वानों के लिए यह प्रवचन की ''निर्देशिका'' मेरे द्वारा कही जायेगी।।4।।



## (1)

# प्रवचन पद्धति

प्रवचनकर्ता विद्वान् को पहले निम्नलिखित चार बातों को समझ लेना अति आवश्यक है–प्रवचनकर्ता, प्रवचन का विषय, प्रवचन और प्रवचन का फल। अर्थात् प्रवचनकर्ता कैसा होना चाहिए ? उसमें क्या-क्या गुण आवश्यक हैं ? प्रवचन का विषय क्या है ? प्रवचन किसे कहते हैं ? और प्रवचन का फल क्या है ?

इन चारों को समझकर प्रवचन करने वाला विद्वान् स्वपर हितकारी होता है।

## 1. प्रवचनकर्ता

रत्नत्रय से विभूषित आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन प्रकार के दिगम्बर मुनि ही मुख्य रूप से प्रवचनकर्ता होते हैं, किन्तु गौण रूप से विद्वान् श्रावक भी हो सकते हैं।

श्री गुणभद्रसूरि ने प्रवक्ता आचार्य के गुणों का वर्णन बहुत ही सुंदर किया है–

**प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः,**
**प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।**
**प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिंदया,**
**ब्रूयाद् धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः।।5।।**

**अर्थ**–बुद्धिमान्, समस्त शास्त्रों के रहस्य का ज्ञाता, लोक व्यवहार से परिचित, आशारहित, प्रतिभावान्, शांतचित्त, पहले ही उत्तर को देखकर रखने वाला, प्रायः प्रश्नों को सहन करने वाला, प्रभावशाली, पर को मनोज्ञ, पर की निंदा नहीं करने वाला, स्पष्ट और मधुर वचन बोलने वाला तथा गुणों का निधान ऐसा आचार्य धर्म का उपदेश देता है।

इस श्लोक में धर्मोपदेशक आचार्य के प्रमुख 12 गुण माने गये हैं। ये ही गुण विद्वान्, प्रवक्ता में भी होने चाहिए। यद्यपि इन सामान्य गुणों में सभी विशेष गुण अंतर्भूत हो जाते हैं तो भी वर्तमान की स्थिति के अनुसार वक्ता के कुछ आवश्यक गुणों का चयन निम्नानुसार है–

## आवश्यक गुण

1. प्रवचनकर्ता विद्वान् को सच्चे देव, शास्त्र और गुरु पर दृढ़ श्रद्धान होना चाहिये।
2. चारों अनुयोगों का स्वाध्याय करके उनका तलस्पर्शी ज्ञान होना चाहिये।
3. कम से कम पाँच अणुव्रतों का पालन, सप्त व्यसन, रात्रि भोजन और अभक्ष्यभक्षण का त्याग अवश्य होना चाहिए। पर्व के दिनों में शुद्ध भोजन करने वाला तथा कुलीन और शीलवान होना चाहिये।
4. नित्य ही देव पूजा, गुरुभक्ति आदि करने वाला होना चाहिए। कम से कम देवदर्शन का नियम तो अवश्य ही होना चाहिये।
5. स्वाध्यायप्रेमी, शांतचित्त और गम्भीर होना चाहिये।
6. पूर्वाचार्यों के ग्रंथों को साक्षात् भगवान की वाणी बताते हुये उन ग्रंथों के प्रति व उनके रचयिता आचार्यों के प्रति सभा में श्रद्धा का स्रोत प्रवाहित कर देना चाहिए।
7. चारित्र की दुर्लभता और उपादेयता का वर्णन करते हुए वर्तमान के चारित्रधारी त्यागी-व्रतियों के प्रति श्रद्धालु बनाते हुये श्रावकों को उनकी भक्ति करने की व शक्त्यनुसार देशचारित्र ग्रहण करने की प्रेरणा देनी चाहिए।
8. निश्चयनय और व्यवहारनय के विषय को सही समझाकर व्यवहार कहाँ तक उपादेय है और निश्चय कहाँ से प्रारंभ होता है ? इस पर विशद प्रकाश डालना चाहिये।
9. 'मैं एक भी शब्द यदि आगम के विरुद्ध बोल दूँगा, तो निगोद का भागी हो जाऊँगा, ऐसे भय से सहित होकर जिनेन्द्रदेव की आज्ञा के भंग से सदैव डरते रहना चाहिये।
10. किसी के दबाव से या ख्याति, लाभ, पूजादि की लालसा से कभी भी आगम विरुद्ध प्रतिपादन नहीं करना चाहिये और न आगम विरुद्ध कथन का समर्थन ही करना चाहिये।
11. उपदेश की सभा में प्रश्नोत्तर न रखकर उससे अतिरिक्त समय में प्रश्नों के लिये समय देना चाहिये क्योंकि सभा के मध्य प्रश्नोत्तर से उपदेश का क्रम भंग हो जाता है।



12. यदि कदाचित् सभा में प्रश्न आ भी जावें तो शांति से उनका आगम के अनुकूल उत्तर देना चाहिये। कैसे ही प्रश्न क्यों न हों, किन्तु उत्तेजित नहीं होना चाहिये। शांति से यदि समस्या न सुलझे तो मौनपूर्वक सभा विसर्जित कर देनी चाहिये। पुनः वार्तालाप करना चाहिये, किन्तु उपदेश की गद्दी से अतिचर्चा या विसंवाद नहीं करना चाहिए।
13. उपदेश में ग्राम्य, अश्लील या हल्के शब्दों का तथा ऐसे ही हीन उदाहरणों का प्रयोग नहीं करना चाहिये।
14. उपदेश में उदाहरण प्रायः अपने प्रथमानुयोग से ही लेना चाहिये। इससे श्रोताओं को अपने सही इतिहास का ज्ञान भी हो जाता है और प्रामाणिकता भी रहती है। यदि कदाचित् अन्य कोई श्वेताम्बर कथायें या अन्य सम्प्रदाय की कथायें कहें भी तो उन्हें स्पष्ट कर देना चाहिये कि यह कथा श्वेताम्बर मत के आधार से है अथवा अन्य सम्प्रदाय की है।
15. तेरहपंथ-बीसपंथ की चर्चा उपदेश में नहीं लाना चाहिये। यदि कोई समझना चाहता है तो उसे पृथक् से आगम के प्रमाण दिखा देना चाहिये। चूँकि इस पंथभेद का उल्लेख आगम में तो है नहीं, वर्तमान में मात्र यह पूजन पद्धति से ही संबंध रखता है। अतः इस विषय को सभा में मुख्य नहीं करना चाहिये।
16. सभा में श्रीमन्तों आदि के बार-बार नाम नहीं लेना चाहिए, प्रायः इससे पक्षपात का वातावरण बन जाता है।
17. वर्तमान के विवादास्पद विषयों में किसी का व्यक्तिगत नाम लेकर उसकी निंदा सभा में नहीं करनी चाहिये। किसी के प्रति आक्षेप, किसी की भर्त्सना या आलोचना सभा में नहीं करना चाहिये।
18. उपदेश करते समय भौहें नहीं चलाना चाहिए, न उँगलियाँ चटकाना चाहिये। गंभीर मुद्रा में बैठकर या खड़े होकर न अति उच्च और न अति धीमे किन्तु मध्यम स्वर से मधुर शब्दों में उपदेश करना चाहिये। कदाचित् बड़ी सभा में उच्च स्वर से भी बोलना पड़े तो बोल सकते हैं किन्तु शब्दों में कर्कषता (कठोरता) नहीं होनी चाहिये।

19. शुभभाव कब छूटते हैं ? किस नय से या किस गुणस्थान में वे हेय हैं ? श्रावकों का कर्त्तव्य क्या है ? इन विषयों पर स्पष्ट विवेचन करना चाहिये।
20. सार्वजनिक सभाओं में मद्य, माँस, मधु त्याग, सप्त व्यसन त्याग, अहिंसा का पालन और पाँच अणुव्रत ग्रहण आदि का उपदेश प्रधान रखना चाहिये। सम्यक्त्व व मिथ्यात्व की चर्चा गौण रखनी चाहिए।
21. उपदेश के विषय का चयन प्रायः श्रोताओं की योग्यता के अनुरूप होना चाहिये, उनकी इच्छा के अनुरूप नहीं।

## 2. प्रवचन का विषय

जिनेन्द्रदेव की वाणी ही प्रवचन का विषय है। अतः कम से कम निम्नलिखित ग्रंथों का स्वाध्याय प्रवचनकर्त्ता को अवश्य ही होना चाहिए।

1. प्रथमानुयोग में – महापुराण, उत्तरपुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, पांडवपुराण, आराधनाकथाकोश, पुण्यास्रवकथाकोश, बृहत्कथाकोश, जम्बूस्वामी चरित, धन्यकुमार चरित, महावीर चरित, श्रेणिक चरित आदि।
2. करणानुयोग में – जैन ज्योतिर्लोक, त्रिलोकभास्कर, जम्बूद्वीप, गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, पंचसंग्रह आदि। यदि लब्धिसार, त्रिलोकसार, जम्बूद्वीपपण्णत्ति, तिलोयपण्णत्ति, धवला, जयधवला, महाबंध आदि ग्रंथ भी पढ़ लेवें तो विशेषता ही रहेगी।
3. चरणानुयोग में – रत्नकरण्ड श्रावकाचार, वसुनंदि श्रावकाचार, उमास्वामी श्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, सागारधर्मामृत, भावसंग्रह, आत्मानुशासऩ पद्मनंदिपंचविंशतिका आदि आवश्यक हैं। पुनः हो सके तो मुद्रित हुए सभी श्रावकाचार, मूलाचार, अनगार धर्मामृत, भगवती आराधना आदि भी पढ़ लेवें।
4. द्रव्यानुयोग में – द्रव्यसंग्रह, तत्त्वार्थसूत्र, बृहद्द्रव्यसंग्रह, सर्वार्थसिद्धि, समाधिशतक, आलापपद्धति, नयचक्र,सप्तभंगीतरंगिणी, परमात्मप्रकाश, नियमसार, प्रवचनसार, समयसार आदि ग्रंथों को क्रम से पढ़ना चाहिए।

इन ग्रंथों में से किसी भी ग्रंथ को प्रवचन का विषय बनाना चाहिए। जिस ग्रंथ पर प्रवचन करना है उसे पुनः एक बार आद्योपांत पढ़ लेना चाहिए। यदि



अकस्मात् बीच में से किसी विषय पर बोलना है तो भी इन्हीं के आधार से कोई विषय लेना चाहिए। आचार्य कुंदकुंद के ग्रंथों का व उनके पूर्ववर्ती आचार्य गुणधर, यतिवृषभ, पुष्पदंत और भूतबली के ग्रंथों के भी प्रमाण उद्धृत करके बोलना चाहिए तथा कुंदकुंददेव के उत्तरवर्ती आचार्य उमास्वामी, समंतभद्र, अमृतचंद्रसूरि आदि के वचन भी प्रस्तुत करना चाहिए। चूँकि आर्षवाणी ही प्रवचन का विषय है।

## 3. प्रवचन

रत्नत्रय का उपदेश देना या उनसे संबंधित महापुरुषों का इतिहास सुनाना, जीवादि सात तत्त्वों का विवेचन करना, आत्मा के – बहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्मा आदि भेदों को कहना, इसका नाम प्रवचन है।

## 4. प्रवचन का फल

प्रवचन सुनकर श्रोता मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद और कषाय से डरकर उनसे यथाशक्ति हटकर मोक्षमार्ग में – सम्यक्त्व, संयम और समभाव में प्रवृत्त हो जावे यही प्रवचन का फल है। इसी फल के साक्षात् और परम्परा ऐसे दो भेद हो जाते हैं।

### 1. साक्षात् फल

(क) वक्ता का उपदेश ऐसा होना चाहिए कि श्रोतागण मिथ्यात्व को छोड़कर देव, शास्त्र, गुरु के परम भक्त बन जावें। उनमें पूज्य पुरुषों के प्रति आदरभाव और विनय प्रवृत्ति आ जावे तथा उद्दंड व अनर्गल प्रवृत्ति छूट जावे।

(ख) वर्तमान के उपलब्ध जिनागम के प्रति अकाट्य श्रद्धा व वर्तमान के साधुवर्गों के प्रति असीम भक्ति उमड़ आवे।

(ग) शक्त्यनुसार चारित्र ग्रहण करने में प्रवृत्त हो जावें। अन्याय, अभक्ष्य और दुर्व्यसनों को छोड़ देवें तथा देवपूजा, आहारदान, स्वाध्याय आदि आवश्यक क्रियाओं में प्रमाद छोड़कर तत्पर हो जावें।

### 2. परम्परा फल–व्यवहाराभास और निश्चयाभास क्या है ?

पूर्वोक्त प्रकार से प्रवचनकर्त्ता आदि चार बातों को संक्षेप से कहा गया है। उसी प्रकार से व्यवहाराभासी-निश्चयाभासी के लक्षण भी समझ लेना चाहिए।

प्रवचन का परम्परा फल स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त कर लेना ही है।

## व्यवहाराभासी

जो मुनि या श्रावक व्यवहार चारित्र का पालन करते हैं, अपनी छह आवश्यक क्रियाओं में तत्पर रहते हैं वे व्यवहाराभासी हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनको आत्मतत्त्व का श्रद्धान नहीं है अथवा वे निश्चयनय या शुद्धात्म तत्त्व को उपादेय नहीं समझते हैं ऐसा भी नहीं माना जा सकता है। चूँकि किसी के अंतरंग का निर्णय करना बहुत ही कठिन है, यह बात तो सर्वज्ञगम्य ही है। तत्त्ववेत्ता आत्मज्ञानी और तत्त्वशून्य दोनों की बाह्य चर्या समान भी देखने को मिल सकती हैं। हाँ! जो ख्याति, लाभ या प्रतिष्ठा के लिए ही चारित्र ग्रहण करते हैं अथवा यह व्यवहार चारित्र परम्परा से मोक्ष का कारण है ऐसा न समझकर साक्षात् इसी को मोक्ष का कारण मान लेते हैं, आत्मज्ञान से सर्वथा पराङ्मुख हैं, वे व्यवहाराभासी हैं।

## निश्चयाभासी

जो परिग्रह और भोगों में आसक्त रहते हुए भी अपनी आत्मा को सर्वथा शुद्ध, सिद्धस्वरूप मानते हैं, चारित्र से पराङ्मुख हैं और चारित्रधारी मुनि, आर्यिका आदि की मखौल उड़ाते हैं, उन्हें आत्मज्ञान से शून्य, द्रव्यवेषी, पाखण्डी व क्रियाकाण्डी कहते हैं। सदा गर्व से उन्मत्त रहते हैं, त्यागी पुरुषों को देखकर उनका अनादर व अपमान करते हैं, उनकी निंदा करते हैं, उनके चारित्र को सर्वथा सदोष ही समझते हैं और स्वयं चारित्र धारण करते नहीं हैं, ऐसे लोग ही निश्चयाभासी हैं।

प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन में निश्चय और व्यवहार का समन्वय करके इन एकांत दुराग्रहों को जलांजलि दे देनी चाहिए। चूँकि ये निश्चयाभास अथवा व्यवहाराभास अपनी आत्मा के ही घातक हैं।

इस प्रकार इस पुस्तक में प्रवचनकर्त्ता को संक्षेप में मार्गदर्शन दिया गया है। जिसका उद्देश्य केवल वर्तमान के संघर्ष को दूर कर श्रोताओं का सही मार्ग प्रदर्शन करना ही है। प्रत्येक विद्वान् दुराग्रह को छोड़कर आगम के आधार से सही तत्त्व का प्रतिपादन करके मोक्षमार्ग को अक्षुण्ण बनाते रहें, ऐसी मेरी भावना है।

(इस प्रकार प्रवचन पद्धति को कहने वाला यह प्रथम परिच्छेद पूर्ण हुआ।)

## (2)

# सम्यग्दर्शन के कारण

**क्षायिकदृष्टिलब्ध्यै या, सामग्र्यार्षे प्ररूपिता।**
**सा मे भूयात्त्वरं देव!, युष्मत्पादप्रसादतः।।1।।**

क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये जो सामग्री आर्षग्रंथों में कही गई है। हे भगवन्! आपके चरण कमल के प्रसाद से वह मुझे शीघ्र ही प्राप्त होवे।

मार्ग और मार्ग का फल ये दो प्रकार ही जिनशासन में कहे गए हैं। मोक्ष के उपाय का नाम मार्ग है और निर्वाण उसका फल है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इनकी एकता ही मोक्ष का उपाय है। अपने-अपने स्वरूप के अनुसार पदार्थों का जो श्रद्धान होता है वह सम्यग्दर्शन है। जिस-जिस प्रकार से जीवादि पदार्थ व्यवस्थित हैं उस-उस प्रकार से उनका जानना सम्यग्ज्ञान है। जो ज्ञानी पुरुष संसार के कारणों को दूर करने के लिए उद्यत है उसके कर्मों के ग्रहण करने में निमित्तभूत क्रिया के त्याग को सम्यक्चारित्र कहते हैं। इन तीनों की पूर्णता से होने वाला जो फल है उसी का नाम निर्वाण है जो कि अक्षय, अनंत, अतीन्द्रिय, ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यस्वरूप है। इस निर्वाण के विषय में प्रायः किसी को विसंवाद नहीं है क्योंकि सभी लोग सामान्य से सर्व दुःखों से छूट जाने को ही निर्वाण या मोक्ष कहते हैं।

मोक्ष का उपाय अर्थात् मार्ग, साधन, हेतु या कारण ये सब पर्यायवाची हैं। अनादिकाल से यह 'मार्ग' दुर्लभ ही रहा है अन्यथा सभी को मोक्ष हो जाता। इस मार्ग के विषय में 'विसंवाद' भी सदैव होता रहा है। कोई मात्र दर्शन से, कोई ज्ञान से, कोई चारित्र से या कोई किसी दो के संयोग से इत्यादि। यह मोक्ष के कारण का विसंवाद प्रायः नाना सम्प्रदाय का रूप लिए हुए है। जैसे कि सांख्यदर्शन वाले ज्ञान से मोक्ष मानते हैं, मीमांसक क्रियाकाण्ड से इत्यादि।

इन तीनों कारणों में सबसे प्रथम कारण 'सम्यग्दर्शन' है जो कि ज्ञान और चारित्र को भी समीचीन बनाने वाला है। वर्तमान के युग में इस सम्यग्दर्शन के विषय में ही विवाद चल रहा है। और आश्चर्य इस बात का है कि वह विवाद अपने को दिगम्बर जैन मानने वाले 'दिगम्बर सम्प्रदाय' के भीतर ही चल रहा है। इसलिए सम्यग्दर्शन के बारे में ही भली प्रकार से जान लेना आवश्यक हो जाता है।

यह सम्यग्दर्शन किसको, कब और कैसे होता है ? ये तीन बातें ही मुख्यतया ज्ञातव्य हैं।

वह भव्य जीव को ही होता है, अभव्य को नहीं। काललब्धि आदि के मिलने पर ही होता है, उसके बिना नहीं और अंतरंग तथा बहिरंग कारणों से ही होता है बिना कारण के नहीं।

हम और आप भव्य हैं या अभव्य ? काललब्धि आई है या नहीं ? इसका निर्णय तो सर्वज्ञ के सिवाय अन्य कोई कर नहीं सकता। क्योंकि कोई अभव्य जीव ग्यारह अंग का ज्ञानी और निर्दोष-निरतिचार चारित्र का पालन करने वाला महातपस्वी मुनि होकर ही नवमें ग्रैवेयक में जा सकता है। हम और आप जैसे आज के साधारणजन नहीं। उसमें किस रूप से मिथ्यात्व रहता है उसका निर्णय साधारणजन नहीं कर सकते। वह तो सर्वज्ञगम्य ही है।

हाँ, काललब्धि आदि कारणों को आगम से जान लेने की जिज्ञासा अवश्य होनी चाहिए। उसमें से काललब्धि का वर्णन आगे पाँच लब्धियों में आ जाएगा।

यहाँ सर्वप्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारणों पर प्रकाश डाला जाता है।

## सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारण

[ सम्यक्त्व की प्राप्ति के उपाय, साधन या हेतु को 'कारण' कहते हैं। आजकल यह 'कारण' ही विसंवाद का मूल कारण हो रहा है।

जिसके होने पर कार्य हो जावे अथवा नहीं भी होवे किन्तु जिसके बिना नहीं होवे वह कारण है। जैसे–मुनिमुद्रा के होने पर मोक्ष होवे अथवा नहीं भी होवे किन्तु उसके बिना नहीं हो सकता है।

तथा जिसके होने पर नियम से कार्य हो जावे वह कारण, कारण न कहलाकर 'करण' कहलाता है और वह साधकतम माना जाता है जैसे कि अधःकरण आदि तीन करणरूप करणलब्धि के होने पर नियम से सम्यक्त्वरूप कार्य प्रकट हो जाता है।

कुछ लोग कारणों को अत्यंत हेय अथवा उपेक्षा बुद्धि से देखते हैं। वे इन्हें कार्य की उत्पत्ति में नगण्य अथवा अकिंचित्कर मानते हैं किन्तु ऐसी बात नहीं है। आगम में तो कारणों के बिना 'करणलब्धि' का होना ही असंभव बतलाया है। इन्हीं बातों का इस प्रकरण में सप्रमाण वर्णन किया जायेगा।

यहाँ पर यह बात भी समझ लेने की है कि जिस प्रकार से हमें श्री कुंदकुंद आचार्य के वचन प्रमाण हैं उसी प्रकार से श्री गुणधर आचार्य, श्री पुष्पदंत और



श्री भूतबलि आचार्य के वचन भी प्रमाण होने चाहिये क्योंकि श्री गुणधर आचार्य का 'कषायपाहुड़'[1] नामक सिद्धांत ग्रंथ तो द्वादशांग का अंश है जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है कि–

**पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे वत्थुम्मि पाहुडे तदिये।**
**पेज्जं पाहुडम्मि दु हवदि कसायाणं पाहुडं णाम।।1।।**

पाँचवें (ज्ञानप्रवाद) पूर्व की दसवीं वस्तु में 'पेज्जपाहुड़' नामक तीसरा अधिकार है उससे यह 'कषायपाहुड़' उत्पन्न हुआ है।

ऐसे ही 'षट्खंडागम' सिद्धांत ग्रंथ भी द्वितीय अग्रायणीय पूर्व के चयनलब्धि नामक पाँचवें अर्थाधिकार के चौथे प्राभृत से निकला हुआ है। इसका नाम 'कर्मप्रकृतिमहाप्राभृत' है।

इन दोनों ग्रंथों की धवला-जयधवला नाम की टीका श्री वीरसेनाचार्य कृत है। वर्तमान में ये धवल, जयधवल ग्रंथ सर्वोपरि होने से सर्वमान्य हैं। इसी तरह से उमास्वामी आचार्य कृत तत्त्वार्थसूत्र भी महाशास्त्र के नाम से ही सर्वमान्य है। ऐसे ही और भी अनेक प्रमुख ग्रंथों के विषय में समझ लेना चाहिए।

यहाँ सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति यह कार्य है, उसके लिये गुरु उपदेश आदि बहिरंग कारण हैं तथा दर्शनमोहनीय आदि का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होना सो अंतरंग कारण या करण है। ]

अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यजीव संज्ञी पंचेन्द्रिय और पर्याप्त हो तो वह चारों गतियों में भी प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्रकट कर सकता है।

धवला की छठी पुस्तक में सम्यक्त्व के कारणों का बहुत ही सुंदर विवेचन है। उसी को यहाँ देखिये–

नारकी मिथ्यादृष्टि जीव तीन कारणों से प्रथम[2] सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं।।7।।

**शंका–**यह प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति रूप कार्य तीन कारणों से किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है ?

**समाधान–**ऐसा नहीं कहना, क्योंकि मुद्गर, लकड़ी, दंड, स्तम्भ, शिला, भूमि व घटरूप विरोधरहित करणों से खप्पड़ों की उत्पत्तिरूप कार्य देखा जाता है। ऐसा ही यहाँ समझना।

**शंका–**वे तीन कारण कौन से हैं ?

---

1. कषायपाहुड़ सुत्त पृ. 1। 2. प्रथमोपशम सम्यक्त्व।

**समाधान**—कितने ही नारकी जीव जातिस्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही वेदना से अभिभूत होकर सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं।।8।।

**शंका**—धर्मोपदेश सुनकर सम्यक्त्व हो जावे सो ठीक है किन्तु जातिस्मरण कारण समझ में नहीं आया, चूँकि सभी नारकी जीव विभंगज्ञान के द्वारा एक, दो या तीन आदि भवों को जानते हैं, इसलिये सभी के जातिस्मरण होता है पुनः सभी के सम्यक्त्व प्रकट हो जाना चाहिये ?

**समाधान**—ऐसी बात नहीं है, सामान्य रूप से भवस्मरण के द्वारा सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु यदि किसी ने पूर्वभव में धर्मबुद्धि से कुछ अनुष्ठान किये थे और वे वास्तविक धर्मरूप न होने से उनका फल नहीं मिल सका ऐसा जानकर ही कदाचित् किसी को सम्यक्त्व उत्पन्न हो गया हो तो वह जातिस्मरणनिमित्तक कहलाता है और इस प्रकार की बुद्धि सब नारकी जीवों के होती नहीं है, क्योंकि तीव्र मिथ्यात्व के उदय के वशीभूत नारकी जीवों के पूर्वभवों का स्मरण होते हुए भी उक्त प्रकार के उपयोग का अभाव है। अतः इस प्रकार जातिस्मरण प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण है।

**शंका**—नारकी जीवों के धर्मश्रवण किस प्रकार संभव है, क्योंकि वहाँ तो ऋषियों के गमन का अभाव है ?

**समाधान**—कोई-कोई सम्यग्दृष्टि देव किसी नारकी को अपने पूर्वभव का सम्बंधी जान लेते हैं और यदि उसको धर्म में लगाना चाहते हैं तो वे वहाँ नरकों में जाकर धर्मोपदेश देकर सम्यक्त्व ग्रहण करा देते हैं।

**शंका**—वेदना का अनुभवन सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह अनुभवन तो सब नारकियों के साधारण होता है। यदि वह अनुभवन कारण हो तो सभी नारकी जीव सम्यग्दृष्टि हो जावेंगे ?

**समाधान**—वेदना सामान्य तो सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण नहीं है। किन्तु जिन जीवों के ऐसा उपयोग होता है कि अमुक वेदना अमुक मिथ्यात्व के कारण या अमुक असंयम से उत्पन्न हुई है, उन्हीं जीवों की वेदना सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण होती है अर्थात् पूर्वभव में मैंने अमुक पाप किया जिसके फलस्वरूप मुझे आज यहाँ इस नरक में यह घोर वेदना मिल रही है ऐसा भाव हो जाने से उस पाप और मिथ्यात्व से भय उत्पन्न होता है पुनः सम्यक्त्व प्रगट हो जाता है परन्तु अन्य जीवों की वेदना वहाँ सम्यक्त्व का कारण नहीं बनती है।



ऊपर की तीन पृथ्वियों के नारकी जीवों के लिये ये तीन कारण होते हैं। किन्तु नीचे की चार पृथ्वियों में कितने जीव जातिस्मरण से और कितने ही वेदना से अभिभूत होकर सम्यक्त्व उत्पत्ति करते हैं। चूँकि वहाँ देवों के गमन का अभाव होने से धर्मश्रवण कारण असंभव है।

**शंका**—वहाँ के सम्यग्दृष्टि नारकी जीव ही अन्य दूसरों को धर्मश्रवण क्यों नहीं करा देते ?

**समाधान**—भवसम्बन्ध से या पूर्ववैर के संबंध से परस्पर विरोधी हुये नारकी जीवों के अनुगृह्य-अनुग्राहक भाव उत्पन्न होना असम्भव है अर्थात् नारकी परस्पर में एक दूसरे के प्रति उपकार का भाव ही नहीं कर पाते हैं ऐसा कुछ उस नरक पर्याय का ही प्रभाव है।

तिर्यंचों में एकेन्द्रिय, दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय इनके सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता है तथा सम्मूर्च्छन तिर्यंचों के भी प्रथम उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने की योग्यता नहीं है। अतः गर्भ से जन्म लेने वाले पर्याप्तक संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही इस सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं।

वे बहुत से दिवस पृथक्त्व के व्यतीत हो जाने पर तीन कारणों से सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं। कितने ही जातिस्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही जिनबिम्बों के दर्शन करके।

**शंका**—जिनबिम्ब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण किस प्रकार से है ?

**समाधान**—जिनबिम्ब के दर्शन से निधत्त और निकाचितरूप भी मिथ्यात्व आदि कर्मसमूह का क्षय देखा जाता है, जिससे जिनबिम्ब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है।[1]

कहा भी है—

**''दर्शनेन जिनेन्द्राणां पापसंघातकुंजरम्।**
**शतधा भेदमायाति गिरिर्वज्रहतो यथा।।[2]''**

जिनेन्द्रों के दर्शन से पापसंघातरूपी कुंजर के सौ टुकड़े हो जाते हैं, जिस प्रकार कि वज्र के आघात से पर्वत के सौ टुकड़े हो जाते हैं।

---

1. कधं जिणबिंबदंसणं पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं ? जिणबिम्बदंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो। (धवला पृ.6, पृ. 427)। 2. धवला पु. 6, पृ. 427।।

मनुष्यों में गर्भज पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि मनुष्य ही इस प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं, सम्मूर्च्छन और अपर्याप्तक नहीं। ये मनुष्य आठ वर्ष की उम्र से लेकर किसी भी काल में तीन कारणों से सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकते हैं, उसके नीचे के काल में नहीं।

कितने ही मनुष्य जातिस्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही जिनबिम्ब के दर्शन करके सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेते हैं।

**शंका**—जिनमहिमा को देखकर भी कितने ही मनुष्य प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं।[1] इसलिए चार कारण कहना चाहिए ?

**समाधान**—जिनमहिमादर्शन का जिनबिम्बदर्शन में अंतर्भाव हो जाता है अथवा मिथ्यादृष्टि मनुष्यों के आकाश में गमन करने की शक्ति न होने से उनके चतुर्विध देवनिकायों के द्वारा किये जाने वाले नंदीश्वरद्वीपवर्ती जिनेन्द्र प्रतिमाओं के महामहोत्सवों का देखना सम्भव नहीं है, इसलिए उनके जिनमहिमादर्शनरूप कारण का अभाव है। किन्तु मेरुपर्वत पर किये जाने वाले जिनेन्द्र महोत्सवों को विद्याधर मिथ्यादृष्टि देखते हैं, इसलिये उपर्युक्त अर्थ नहीं कहना चाहिए, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। अतएव पूर्वोक्त अर्थ ही ग्रहण करना योग्य है।

**शंका**—लब्धिसम्पन्न ऋषियों का दर्शन भी तो प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण होता है, पुनः इस कारण को यहाँ पृथक रूप से क्यों नहीं कहा ?

**समाधान**—नहीं, क्योंकि लब्धिसंपन्न ऋषियों के दर्शन का भी जिनबिम्ब दर्शन में ही अंतर्भाव हो जाता है।

ऊर्जयंत पर्वत तथा चंपापुर व पावापुर आदि के दर्शन को भी जिनबिम्ब दर्शन के भीतर ही ग्रहण कर लेना चाहिये। क्यों ? क्योंकि उक्त प्रदेशवर्ती जिनबिम्बों के दर्शन तथा जिन भगवान के मोक्षगमन के कथन के बिना प्रथम सम्यक्त्व का ग्रहण नहीं हो सकता।

तत्त्वार्थसूत्र में नैसर्गिक प्रथम सम्यक्त्व का भी कथन किया गया है, उसका भी पूर्वोक्त कारणों से उत्पन्न हुये सम्यक्त्व में ही अंतर्भाव कर लेना चाहिए क्योंकि जातिस्मरण और जिनबिम्बदर्शन के बिना उत्पन्न होने वाला

1. लद्धिसंपण्णरिसिदंसणं पि पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं होदि तमेत्थ पुध किण्ण भण्णदे ? ण, एदस्सं वि जिणबिम्बदंसणे अंतब्भावादो। उज्जयंतचंपा-पावाणयरादि दंसणं पि एदेणेव घेत्तव्वं। कुदो ? तत्थतणजिणबिम्बदंसणजिणणिव्वुइगमणकहणेहि विणा पढमसम्मत्तगहणाभावा। णइसग्गियमवि पढमसम्मत्तं तच्चट्ठे उत्तं, तं हि एत्थेव दट्ठव्वं, जाइस्सरण-जिणबिम्बदंसणेहि विणा उप्पज्जमाण-णइसग्गियपढमसम्मत्तस्स।



निसर्गज नामक प्रथम सम्यक्त्व असंभव है।[1]

**भावार्थ**—निसर्गज सम्यक्त्व के लिये भी जातिस्मरण अथवा जिनबिम्बदर्शन निमित्त होना ही चाहिये, अन्यथा यह सम्यक्त्व भी प्रगट नहीं हो सकता। हाँ! इसमें धर्मोपदेश की अपेक्षा नहीं है। धर्मोपदेश निमित्त से हुआ सम्यक्त्व अधिगमज कहलायेगा।

देवों में पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि देव अंतर्मुहूर्त काल से लेकर ऊपर कभी भी प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं, अंतर्मुहूर्त से पहले नहीं। देव चार कारणों से सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं—कितने ही जातिस्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर, कितने ही जिनमहिमा देखकर और कितने ही देवों की ऋद्धि देखकर।

**शंका**—यहाँ जिनबिम्बदर्शन को कारणरूप से क्यों नहीं कहा ?

**समाधान**—क्योंकि जिनबिम्बदर्शन का जिनमहिमादर्शन में ही अंतर्भाव हो जाता है। कारण कि जिनबिम्ब के बिना जिनमहिमा की उपपत्ति (व्यवस्था) बनती नहीं है।

**शंका**—स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक और परिनिष्क्रमणरूप जिनमहिमायें जिनबिम्ब के बिना की गई देखी जाती हैं, इसलिए जिनमहिमादर्शन में जिनबिम्बदर्शन का अविनाभाव नहीं है ?

**समाधान**—ऐसा नहीं है, क्योंकि स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक और परिनिष्क्रमणरूप जिनमहिमाओं में भी भावी जिनबिम्ब का दर्शन पाया जाता है अथवा इन महिमाओं में उत्पन्न होने वाला प्रथम सम्यक्त्व जिनबिम्बदर्शन निमित्तक नहीं है, किन्तु जिनगुणश्रवण निमित्तक है।

**शंका**—देवर्द्धिदर्शन का जातिस्मरण में समावेश क्यों नहीं होता ?

**समाधान**—नहीं होता, क्योंकि अपनी अणिमादिक ऋद्धियों को देखकर जब यह विचार उत्पन्न होता है कि ये ऋद्धियाँ जिन भगवान उपदिष्ट धर्म के अनुष्ठान से उत्पन्न हुई हैं। तब प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति जातिस्मरणनिमित्तक होती है। किन्तु जब सौधर्मेन्द्र आदिक देवों की महाऋद्धियों को देखकर यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि ये ऋद्धियाँ सम्यग्दर्शन से संयुक्त संयम पालन करने के फल से प्राप्त हुई हैं, किन्तु मैं सम्यक्त्व से रहित द्रव्य संयम के फल से इन वाहन आदि नीच देवों में उत्पन्न हुआ हूँ तब प्रथम सम्यक्त्व का ग्रहण देवर्द्धिदर्शन निमित्तक होता है। इससे जातिस्मरण और देवर्द्धिदर्शन ये दोनों कारण एक

1. असंभवादो। (धवला पु. 6, पृ. 430)

नहीं हो सकते तथा जातिस्मरण वहाँ पर उत्पन्न होने के प्रथम समय से लगाकर अंतर्मुहूर्त काल के भीतर ही होता है किन्तु देवर्द्धिदर्शन उत्पन्न होने के समय से अंतर्मुहूर्त काल के पश्चात् ही होता है इसलिये भी उन दोनों कारणों में एकत्व नहीं है।

ये सम्यक्त्व के चार कारण भवनवासी, व्यंतरवासी, ज्योतिर्वासी और प्रथम स्वर्ग से लेकर बारहवें स्वर्गपर्यंत के देवों में होते हैं। आगे आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन चार स्वर्गों के देवों में देवर्द्धिदर्शन को छोड़कर शेष तीन कारण ही होते हैं।

**शंका**—यहाँ देवर्द्धिदर्शन कारण क्यों नहीं होता ?

**समाधान**—उन चार स्वर्गों में महर्द्धि से संयुक्त ऊपर के देवों का आगमन नहीं होता, अतः वहाँ यह कारण नहीं होता है और उन्हीं कल्पों में स्थित देवों की महर्द्धि का देखना वहाँ सम्यक्त्व में निमित्त नहीं हो सकता क्योंकि उसी ऋद्धि को बार-बार देखने से विस्मय नहीं होता अथवा वहाँ शुक्ल लेश्या के सद्भाव के कारण महर्द्धि के दर्शन से कोई संक्लेश भाव उत्पन्न नहीं होते।

नव ग्रैवेयक के मिथ्यादृष्टि देवों में कितने ही देव जातिस्मरण से और कितने ही धर्मोपदेश सुनकर, इन दो कारणों से प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं। यहाँ जिनमहिमा दर्शन कारण नहीं है, क्योंकि यहाँ के देव नंदीश्वरादि के महोत्सव देखने नहीं जाते।

**शंका**—ग्रैवेयकवासी अहमिन्द्रों में धर्मश्रवण किस प्रकार सम्भव है ?

**समाधान**—नहीं, क्योंकि उनमें परस्पर संलाप होने पर अहमिन्द्रत्व से विरोध नहीं आता अतएव वह संलाप ही धर्मोपदेशरूप से सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण हो जाता है।

अनुदिशों से लगाकर सवार्थसिद्धि तक के देव सभी नियम से सम्यग्दृष्टि ही होते हैं।

जिस महान् परमागम ग्रंथ षट्खंडागम के सूत्रों का भगवान महावीर स्वामी की वाणी से सीधा संबंध है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। उस ग्रंथ के सूत्रों में सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिए ये निमित्तकारण माने गये हैं। ये निमित्तकारण अकिंचित्कर भी नही हैं क्योंकि इनमें से किसी एक निमित्त के बिना सम्यक्त्वोत्पत्ति असम्भव है। धवलाकार ने तो यहाँ तक कह दिया है कि निसर्गज सम्यक्त्व में भी जातिस्मरण अथवा जिनबिम्बदर्शन इन दोनों में से कोई एक कारण



अवश्य ही चाहिये अन्यथा निसर्गज प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति असम्भव है–**''जाइस्सरणजिणबिम्बदंसणेहि विणा उप्पज्जमाणणइसग्गिय-पढमसम्मत्तस्स असम्भवादो।''** इसमें जो 'असंभवादो' पद है उस पर विद्वानों को लक्ष्य देना चाहिये।

लब्धिसंपन्न मुनिराजों को 'जिनबिम्बदर्शन' कारण में गर्भित करना भी बहुत ही महत्त्व की बात है। इससे जिनमुद्राधारी महर्षियों की महत्ता का स्पष्टीकरण सहज ही हो जाता है। इसी प्रकार से अचेतन पर्वत, भूमि, नगर आदि जो कि जिनकल्याणक से पवित्र हो चुके हैं उनकी महिमा भी अचिन्त्य है तभी तो इसमें कहा है कि–**''उज्जयंतचंपा-पावाणयरादिदंसणं पि एदेणेव घेत्तव्वं''** ऊर्जयंत पर्वत, चंपापुरी, पावापुरी नगरी आदि का दर्शन भी जिनबिम्ब दर्शन में ही गर्भित है। यह तीर्थदर्शन भी प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण है।

इस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन बहिरंग कारणों के मिलने पर ही अंतरंग में दर्शनमोहनीय का उपशम या क्षयोपशम आदि होता है अन्यथा नहीं, चूँकि जब निसर्गज सम्यक्त्व में भी बाह्य कारण के बिना 'असंभवादो' शब्द कह दिया है तो फिर इससे और अधिक निमित्तकारणों की विशेषता के लिये क्या प्रमाण हो सकेगा ?

श्री कुंदकुंददेव भी सम्यक्त्व के अंतरंग और बहिरंग हेतु को बताते हुए कहते हैं–

**सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।**
**अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी।।**

जिनसूत्र और उसके जानने वाले पुरुष (महर्षि) सम्यक्त्व के लिये बाह्य निमित्त हैं और दर्शनमोहनीय का क्षय, क्षयोपशम आदि अंतरंग हेतु है।

द्वादशांग या उसके अंशरूप सूत्र तथा उन सूत्रों के जानने वाले महर्षिगण–आचार्य, उपाध्याय, साधु ये तो बाह्य हेतु हैं एवं दर्शनमोहनीय का क्षय आदि अंतरंग हेतु हैं। इस गाथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि परम आध्यात्मिक महर्षि श्री कुंदकुंददेव भी सम्यक्त्व उत्पत्ति के लिये बहिरंग निमित्तकारण और अंतरंग निमित्तकारण को मानते हैं। चूँकि इन अंतरंग-बहिरंग निमित्तों के बिना सम्यक्त्व असंभव है।

**शंका**—जिनबिम्बदर्शन आदि बाह्य कारणों में इतनी सामर्थ्य हो जावे कि

वे दर्शनमोह आदि सात प्रकृतियों का उपशम आदि करा देंवे, यह कुछ समझ में नहीं आता है ?

**समाधान**–यह बात तो 'षट्खंडागम' ग्रंथ के सूत्रों से ही स्पष्ट है और आगम को प्रमाण सिद्ध करने के लिये युक्ति आदि की आवश्यकता नहीं रहती है क्योंकि आगम तो स्वयं सर्वज्ञदेव के मुखकमल से निर्गत होने से सर्वोपरि प्रमाण है।

फिर भी युक्ति से भी इस बात को अच्छी तरह से समझा जा सकता है। देखो! बाह्य वातावरण–जलवायु आदि का अंतरंग पर कितना प्रभाव पड़ता है। स्वच्छ जल, वायु, औषधि आदि से स्वास्थ्य लाभ होता है और गंदे जल, वायु या अपथ्य सेवन आदि से मलेरिया, हैजा आदि अनेकों रोगों के प्रकोप उत्पन्न हो जाते हैं। फूलों के बगीचे में प्रवेश करने से बिना इच्छा के भी फूलों की सुगंधि नाक में प्रवेश कर जाती है तथा मिट्टी के तेल, पेट्रोल आदि की दुर्गन्धि से प्रायः बहुत से लोगों को वमन तक हो जाता है।

इष्ट वस्तु के वियोग आदि से चिन्ता होकर मन में क्षोभ बना रहता है, प्रिय वस्तु के संयोग से हृदय आनंद से विभोर हो जाता है।

अचेतन वस्तुयें अचेतन पर भी अपना विशेष प्रभाव डाल देती हैं। चुंबक लोहे को अपनी ओर खींच लेता है। विष मारणशक्ति को रखते हुये भी कुछ उचित वस्तुओं के मिश्रण से रसायन बन जाता है। जब ऐसे-ऐसे अगणित उदाहरण लोकव्यवहार में देखे जाते हैं तब पुनः जिनबिम्बदर्शन आदि बाह्य कारण अंतरंग के दर्शनमोह आदि के उपशम में निमित्त बन जावें इसमें क्या आश्चर्य है ?

आचार्यदेव ने तो बलपूर्वक कहा है कि 'जिनबिम्बदर्शन' में मिथ्यात्व जैसे कर्म के नष्ट कर देने की सामर्थ्य है, उसे क्यों न माना जाय ?

**शंका**–तब तो जिनबिम्ब के दर्शन करने वाले सभी को सम्यक्त्व हो जाना चाहिये ?

**समाधान**–यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि कारण के होने पर कार्य होता है; नहीं भी होता है, किन्तु कारण के बिना कार्य का होना असंभव है। अतः ये सब बाह्य कारण ही हैं न कि करण।

हाँ, जिनबिम्बदर्शन' निरर्थक नहीं हो सकता है इससे कदाचित् सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं भी हुई तो भी अनंत-अनंत जन्म के संचित पापकर्म समूह का



नाश होकर महान् पुण्य कर्म का संचय होना पाया ही जाता है। कहा भी है–

**अनंतानंत संसार संततिच्छेद कारणम्।**
**जिनराजपदाम्भोजस्मरणं शरणं मम।।**
**एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुं।**
**पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः।।**

जिनेन्द्रदेव के चरणों का स्मरण अनंत-अनंत संसार की परम्परा को समाप्त करने में समर्थ है, वही मेरे लिये शरण है।

यह एक जिनभक्ति ही विद्वानों के दुर्गति का निवारण करने में, पुण्य को परिपूर्ण करने में और मुक्तिलक्ष्मी को देने में समर्थ है।

ऐसे ही अन्य जो भी कारण हैं वे दर्शनमोह आदि के उपशम में निमित्त बन जाते हैं इसलिये श्री पुष्पदंत आचार्य ने इन्हें सूत्र में कहा है।

## सम्यक्त्व प्राप्ति के लिये पाँचलब्धि

### औपशमिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारण

सबसे पहले अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को उपशम सम्यक्त्व ही उत्पन्न होता है। कषायपाहुड़ नामक परमागम में कहते हैं–''दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम करने वाला जीव चारों ही गतियों में जानना चाहिए। वह जीव नियम से पंचेन्द्रिय, संज्ञी और पर्याप्तक होता है। इंद्रक, श्रेणीबद्ध आदि सर्व नरकों में, सर्व प्रकार के भवनवासी देवों में, सर्वद्वीप और समुद्रों में, व्यंतर देवों में, समस्त ज्योतिषी देवों में, सौधर्म स्वर्ग से लेकर नव ग्रैवेयक तक के सर्व विमानवासी देवों में, आभियोग्य अर्थात् वाहन आदि कुत्सित कर्म में नियुक्त वाहन देवों में, उनसे भिन्न किल्विषक आदि अनुत्तम तथा पारिषद आदि उत्तम देवों में दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम होता है''[1] ।।95-96।।

**भावार्थ**–'सर्वद्वीप और समुद्रों में' इस वाक्य से ऐसा समझना कि अढ़ाई द्वीपवर्ती संख्यात या असंख्यात वर्ष की आयु वाले गर्भज मनुष्य और तिर्यंचों के प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न करने की योग्यता है किन्तु आगे के द्वीप- समुद्रों में यदि यहाँ के तिर्यंचों को कोई पूर्वभव का वैरी देव उठाकर डाल देवे, तो उन जीवों के सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता है।

धवलाकार सम्यक्त्व के लिए पाँच प्रकार की लब्धियों का निरूपण

1. कषायपाहुड़ गाथा 95, 96।

करते हैं–"क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि ये पाँच लब्धियाँ होती हैं। इनमें पहली चार तो सामान्य हैं अर्थात् भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीवों के होती हैं किन्तु करणलब्धि सम्यक्त्व होने के समय ही होती है।"[1]

**क्षयोपशमलब्धि**–पूर्वसंचित कर्मों के मलरूप पटल के अनुभाग स्पर्धक जिस समय विशुद्धि के द्वारा प्रतिसमय अनंतगुणहीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त किये जाते हैं, उस समय क्षयोपशमलब्धि होती है।

**भावार्थ**–कर्मों के मैलरूप जो अशुभ ज्ञानावरणादि समूह उनका अनुभाग जिस काल में समय-समय अनंतगुणा क्रम से घटता हुआ उदय को प्राप्त होता है उस काल में क्षयोपशमलब्धि होती है।

**विशुद्धिलब्धि**–प्रतिसमय अनंतगुणित हीन क्रम से उदीरित अनुभाग स्पर्धकों से उत्पन्न हुआ साता आदि शुभ कर्मों के बंध का निमित्तभूत और असाता आदि कर्मों के बंध का विरोधी जो जीव का परिणाम है उसे विशुद्धि कहते हैं। उसकी प्राप्ति का नाम विशुद्धिलब्धि है।

**भावार्थ**–पहली क्षयोपशम लब्धि से उत्पन्न हुआ जो जीव के साता आदि शुभ प्रकृतियों के बंधने का कारणरूप शुभ परिणाम उसकी जो प्राप्ति वह विशुद्धिलब्धि है क्योंकि अशुभ कर्म का अनुभाग घटने से संक्लेश की हानि और उसके विपक्षी विशुद्धि की वृद्धि होना स्वाभाविक ही है।

**देशनालब्धि**–छह द्रव्य और नव पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशना से परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारण की शक्ति के समागम को देशनालब्धि कहते हैं।

**विशेषार्थ**–लब्धिसार में कहते हैं कि–"छह द्रव्य और नव पदार्थों का उपदेश देने वाले आचार्य का लाभ मिलना देशनालब्धि है अथवा उनके द्वारा उपदेशित पदार्थों के धारण करने का लाभ होना यह तृतीय लब्धि है। आचार्य, उपाध्याय आदि छह द्रव्यादि का उपदेश करने वाले हैं उनका जो मिलना है वही देशना की प्राप्ति है अथवा चिर अतीत काल में उपदेशित पदार्थ के धारण करने का लाभ होना वह देशनालब्धि होती है। गाथा में 'तु' शब्द है उससे यह अर्थ समझना कि उपदेश करने वालों से रहित नरक आदि पर्यायों में पूर्वभव में सुनकर धारण किया हुआ जो तत्त्वों का अर्थ है उसके संस्कार के बल से

1. धवला पु. 6, पृ. 203।



सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। ऐसा यहाँ सूचित किया गया है[1]।"

**प्रायोग्यलब्धि**–सर्व कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग को घात करके अंतःकोड़ाकोड़ी स्थिति में और द्विस्थानीय अनुभाग में अवस्थान करने को प्रायोग्यलब्धि कहते हैं। क्योंकि इन अवस्थाओं के होने पर करण अर्थात् पाँचवीं करणलब्धि के योग्य भाव पाये जाते हैं।

**विशेषार्थ**–यहाँ पर 'अनुभाग को घात करके द्विस्थानीय अवस्थान करना, ऐसा जो कहा है उसका अभिप्राय यह है कि घातिया कर्मों की अनुभाग शक्ति लता, दारु, अस्थि और शैल सदृश चार प्रकार की होती है। अघातिया कर्मों में दो विभाग हैं–पुण्यप्रकृतिरूप और पापप्रकृतिरूप।

पुण्यप्रकृतियों की अनुभाग शक्ति गुड़, खांड, शक्कर और अमृत के समान होती है और पापरूप अघातिया कर्मों की अनुभाग शक्ति नीम, कांजीर, विष और हलाहल के समान हीनाधिकता लिये हुए होती है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख जीव प्रायोग्यलब्धि के द्वारा घातिया कर्मों के अनुभाग को घटाकर लता और दारु इन दो स्थानों में तथा अघातिया कर्मों की पापरूप प्रकृतियों के अनुभाग को नीम और कांजीर इन दो स्थानों में अवस्थित करता है। इसी को द्विस्थानीय अनुभाग में अवस्थान कहते हैं[2]।

लब्धिसार में कहते हैं कि पूर्वोक्त तीन लब्धि से संयुक्त जीव प्रतिसमय विशुद्धि को बढ़ाता हुआ आयु के बिना सात कर्मों की अंतःकोड़ाकोड़ी मात्र स्थिति अवशेष कर देता है।....पूर्व में अनुभाग था उसमें अनंत का भाग देने से बहुत भागमात्र अनुभाग को छेदकर अवशेष रहे अनुभाग में प्राप्त करा देता है। इस कार्य को करने की योग्यता की प्राप्ति ही प्रायोग्यलब्धि है। **'विशुद्ध्याया प्रशस्तप्रकृतीना मनुभाग खंडनं नास्ति[3]।'** चूँकि विशुद्धि से शुभ प्रकृतियों का अनुभाग खंडन नहीं होता है।

संक्लेश परिणाम वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव के जिस समय कर्मों

1. छद्दव्वणवपयत्थोपदेसयरसूरिपहुदिलाहो जो।
   देसिदपदत्थधारणलाहो वा तदियलद्धी दु।।6।।
   टीका.....सप्ततत्त्वान्यत्रैवांतर्भूतानि तेषामुपदेशकराः आर्चोपाध्यायादयः, तेषां लाभो यस्तद्देशनाप्राप्तिः चिरातीतकाले उपदेशितपदार्थधारणलाभो वा स देशनालब्धिर्भवति तु शब्देनोपदेशरहितेषु नारकादिभवेषु पूर्वभवश्रुतधारिततत्त्वार्थस्य संस्कारबलात् सम्यग्दर्शनप्राप्तिर्भवति, इति सूच्यते (लब्धिसार)
2. इन चार लब्धियों का वर्णन धवला पु.6, पृ.204 के आधार से है।
3. लब्धिसार टीका, गाथा 7।

का उत्कृष्ट स्थितिबंध हो रहा है और उत्कृष्ट स्थिति अनुभाग प्रदेश का सत्त्व है उस समय उसके प्रथमोपशम सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता नहीं है। ऐसे जघन्य स्थितिबंध आदि तो क्षपक श्रेणी में होते हैं अतः वहाँ तो क्षायिक सम्यक्त्व है पुनः इस सम्यक्त्व की बात ही नहीं उठती। अतः प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सन्मुख होता हुआ यह मिथ्यादृष्टि जीव विशुद्धि की वृद्धि करता हुआ प्रायोग्यलब्धि के पहले समय से लेकर पूर्वस्थिति बंध के संख्यातवें भाग ऐसी अंतःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण आयु के बिना सात कर्मों की स्थिति बाँधता है। इस प्रायोग्यलब्धि में बहुत सी प्रक्रियाएँ होती हैं उन्हें लब्धिसार तथा धवला ग्रंथ आदि से विस्तारपूर्वक समझना चाहिये।

**शंका**—सूत्र में केवल काललब्धि ही कही गई है, उसमें इन शेष लब्धियों का होना कैसे संभव है ?

**समाधान**—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि प्रतिसमय अनंतगुणा हीन अनुभाग की उदीरणा का होना, अनंतगुणित क्रम द्वारा वृद्धिंगत विशुद्धि का होना और आचार्य के उपदेश की प्राप्ति का होना उसी एक काललब्धि में सम्भव है। अर्थात् उक्त चारों लब्धियों की प्राप्ति एक काललब्धि के ही आधीन है[1]।

चतुर्थ प्रायोग्यलब्धि में ही प्रकृति बंधापसरण के चौंतीस स्थान क्रम से होते हैं। उन चौंतीस स्थानों में कौन-कौन सी प्रकृतियों का व्युच्छेद होता है, उनके नाम देखिये–

1. नरकायु का बंधापसरण,
2. तिर्यंचायु,
3. मनुष्यायु,
4. देवायु,
5. नरकगति व नरकगत्यानुपूर्वी,
6. संयुक्तरूप से सूक्ष्म अपर्याप्त, साधारण,
7. संयुक्त सूक्ष्म, अपर्याप्त प्रत्येक,
8. संयुक्त बादर, अपर्याप्त साधारण,
9. संयुक्त बादर, अपर्याप्त प्रत्येक,
10. संयुक्त द्वीन्द्रिय जाति अपर्याप्त,
11. संयुक्त त्रींद्रिय अपर्याप्त,

1. धवला पु. 6, पृ. 205।



12. संयुक्त चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त,
13. संयुक्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त,
14. संयुक्त संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त,
15. संयुक्त सूक्ष्म पर्याप्त साधारण,
16. संयुक्त सूक्ष्म पर्याप्त प्रत्येक,
17. संयुक्त बादर पर्याप्त साधारण,
18. संयुक्त बादर पर्याप्त प्रत्येक एकेन्द्रिय आतप स्थावर,
19. संयुक्त द्वीन्द्रिय पर्याप्त,
20. संयुक्त त्रीन्द्रिय पर्याप्त,
21. संयुक्त चतुरिन्द्रिय पर्याप्त,
22. संयुक्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त,
23. संयुक्त तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, उद्योत,
24. नीच गोत्र,
25. अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय,
26. हुंडकसंस्थान, असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन,
27. नपुंसकवेद,
28. वामन संस्थान, कीलकसंहनन,
29. कुब्जकसंस्थान, अर्द्धनाराचसंहनन,
30. स्त्रीवेद,
31. स्वातिसंस्थान, नाराचसंहनन,
32. न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान वज्रनाराचसंहनन,
33. मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, औदारिक शरीर, औदारिकआंगोपांग, वज्रवृषभनाराचसंहनन,
34. अस्थिर, अशुभ, अयशःकीर्ति, अरति, शोक, असाता का बंधापसरण।

ये 34 बंधापसरण मनुष्य और तिर्यंचों के होते हैं। नारकी व देवों के यथायोग्य कोई-कोई होते हैं सब नहीं।

इन बंधापसरणों में व्युच्छेद को प्राप्त हुई प्रकृतियाँ उपशम सम्यक्त्व होने तक नहीं बंधती हैं। इनमें से बहुत सी प्रकृतियाँ ऐसी भी हैं जो कि आगे के गुणस्थानों में बंधती हैं। जैसे–अस्थिर, अशुभ, असाता आदि छठे तक बंधती हैं, छठे के अंत में उनकी व्युच्छित्ति होती है।

यहाँ खास बात समझने की यही है कि इस प्रायोग्यलब्धि में परिणाम इतने निर्मल हो जाते हैं कि इन उपर्युक्त प्रकृतियों का बंध रुक जाता है।

यह लब्धि भव्य और अभव्य दोनों में समान है अर्थात् अभव्य भी यहाँ तक स्थिति को पा सकते हैं किन्तु करणलब्धि उनके नहीं हो सकती है।

**करणलब्धि**—इस प्रकार स्थिति और अनुभागों के कांडक घात को बहुत बार करके **'गुरु के उपदेश के बल से'**[1] अथवा उसके बिना भी अभव्य जीवों के योग्य विशुद्धियों को व्यतीत करके भव्य जीवों के योग्य अधःप्रवृत्तकरण संज्ञा वाली विशुद्धि में भव्य जीव परिणत होता है अर्थात् करण नाम परिणामों का है। इस करणलब्धि के तीन भेद हैं—अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण।

**अधःकरण**—जिस भाव में वर्तमान जीवों के उपरितन समयवर्ती परिणाम अधस्तन समयवर्ती जीवों के साथ संख्या और विशुद्धि की अपेक्षा सदृश होते हैं, उन भावों के समुदाय को अधःकरण कहते हैं। इस अधःकरण का काल अंतर्मुहूर्त है और परिणाम असंख्यात लोकप्रमाण हैं।

**अपूर्वकरण**—जिस काल में प्रतिसमय अनंतगुणी विशुद्धि को लिये हुये अपूर्व-अपूर्व परिणाम होते हैं, उन परिणामों को अपूर्वकरण कहते हैं। अपूर्वकरण के विभिन्न समयों में वर्तमान जीवों के परिणाम सदृश नहीं होते, किन्तु विसदृश या असमान और अनंतगुणी विशुद्धता से युक्त पाये जाते हैं। अधःप्रवृत्तकरण की अपेक्षा इसका काल अल्प है किन्तु परिणाम उससे असंख्यात लोकगुणित हैं।

**अनिवृत्तिकरण**—इसमें एक समयवर्ती जीव के एक ही परिणाम पाया जाता है और एक समयवर्ती अनेक जीवों के भी एक सदृश ही परिणाम पाये जाते हैं। एक कालवर्ती जीवों के परिणामों में निवृत्ति, भेद या विसदृशता नहीं पायी जाती है इसीलिये उन्हें अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इसके परिणामों की संख्या इसके काल के समयों के समान ही है क्योंकि इस अनिवृत्तिकरण काल के समय-समय में एक-एक ही परिणाम होते हैं।

इन तीनों करणों का काल अन्तर्मुहूर्त है तथा प्रत्येक का काल भी अंतर्मुहूर्त है चूँकि अंतर्मुहूर्त के असंख्यात भेद होते हैं। अनिवृत्तिकरण का काल थोड़ा है उससे अपूर्वकरण का काल संख्यातगुणा है, उससे संख्यातगुणाकाल अधःप्रवृत्तकरण का है। पहले अधःप्रवृत्तकरण में गुणश्रेणी, गुणसंक्रमण

1. धवला पु. 6, पृ.206।



स्थितिकांडकघात और अनुभागकांडकघात नहीं होता है। यहाँ पर समय-समय में अनंतगुणी विशुद्धता बढ़ती जाती है। साता आदि शुभ प्रकृतियों का प्रतिसमय अनंतगुणा चार स्थानरूप अनुभाग बँधता है तथा असाता आदि अशुभ प्रकृतियों का समय-समय प्रति अनंतवें भागहीन अनुभाग बँधता है।

अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के गुणश्रेणी निर्जरा आदि कार्य होते हैं। अंतिम अनिवृत्तिकरण काल के समाप्त होते ही अनादि मिथ्यादृष्टि के दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व प्रकृति और अनंतानुबंधी चतुष्क इन पाँच प्रकृतियों का उपशम होकर प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है। पुनः उसके प्रथम समय में ही मिथ्यात्व के तीन टुकड़े हो जाते हैं। यथा—

'यन्त्र अर्थात् घरटी-चक्की से दले हुए कोदों की तरह प्रथमोपशम सम्यक्त्व परिणामरूप यंत्र से मिथ्यात्वरूप कर्मद्रव्य द्रव्यप्रमाण क्रम से असंख्यात गुणा, असंख्यातगुणा कम होकर तीन प्रकार का हो जाता है।[1]

**भावार्थ**—जैसे कोदों-धान्य विशेष दलने पर तंदुल, कण और भूसी ऐसे तीन रूप हो जाता है उसी तरह मिथ्यात्वरूप कर्मद्रव्य भी उपशम सम्यक्त्वरूपी यंत्र के द्वारा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन स्वरूप परिणमन करता है। इस कारण एक मिथ्यात्वरूप दर्शनमोहनीय कर्म के ही तीन भेद कहे हैं।

''सम्यक्त्व की प्रथम बार प्राप्ति के अनंतर और पश्चात् मिथ्यात्व का उदय होता है किन्तु अप्रथम बार सम्यक्त्व की प्राप्ति के पश्चात् वह भजितव्य है[2]।'

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के जो प्रथम ही उपशम सम्यक्त्व का लाभ होता है उसके अंतर्मुहूर्त काल के बाद नियम से मिथ्यात्व का उदय आ जाने से वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है किन्तु सादि मिथ्यादृष्टि के प्रथमोपशम सम्यक्त्व होने के बाद कोई नियम नहीं है। सम्यक्त्व का काल समाप्त होने पर यदि मिथ्यात्व का उदय आयेगा तो वह मिथ्यात्व में जायेगा, यदि मिश्र प्रकृति का उदय आ जावे तो तृतीय गुणस्थान में जायेगा और यदि सम्यक्त्व प्रकृति का उदय आ जावे तो वेदक सम्यग्दृष्टि हो जावेगा। कदाचित् सम्यक्त्व के काल में ही अनंतानुबंधी में से किसी का उदय आ जाने से सासादन भी हो जावेगा।

उपशम सम्यक्त्व का जघन्य व उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त ही है।

1. जंतेण कोद्दवं वा पढमुवसमसम्मभावजंतेण।
मिच्छं दव्व तु तिधा, असंखगुणहीण-दव्वकमा।।26।।(गो.क.)
2. सम्मत्तपढमलंभस्साणंतरं पच्छदो य मिच्छत्तं।
लम्भस्स अपढमस्स दु भजियव्वो पच्छदो होदि।।105।। (कषायपाहुड़ सुत्त, पृ. 635)

यह सम्यक्त्व एक बार उत्पन्न होकर अंतर्मुहूर्त के बाद समाप्त होकर पुनः संख्यातवर्ष की आयु वाले कर्मभूमिया मनुष्य या तिर्यंचों में उसी भव में नहीं हो सकता है चूँकि इसका अंतराल पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

## क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारण

अनंतानुबंधी कषाय, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और इन्हीं के सदवस्थारूप उपशम होने से तथा देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से सम्यक्त्व प्रकट होता है उसे क्षायोपशमिक या वेदक सम्यक्त्व कहते हैं।

इसमें भी पूर्वोक्त पाँच लब्धियाँ कारण हैं ही हैं किन्तु सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होना यह मुख्य कारण है। इस सम्यक्त्व की उत्पत्ति में भी अधःप्रवृत्त आदि तीन करण होते हैं अथवा अनिवृत्तिकरण को छोड़कर दो करण भी होते हैं, कदाचित् बिना करण के भी हो जाता है। जातिस्मरण आदि बाह्य कारण तो सभी के लिये होते ही हैं।

## क्षायिक सम्यक्त्व के कारण

''दर्शनमोहनीय का क्षपण करने के लिए आरम्भ करता हुआ यह जीव कहाँ पर आरंभ करता है ?

अढ़ाई द्वीप समुद्रों में स्थित पंद्रह कर्मभूमियों में जहाँ जिस काल में जिन, केवली और तीर्थंकर होते हैं वहाँ उस काल में आरंभ करता है[1] ।।11।।''

कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ मनुष्य केवली, श्रुतकेवली या तीर्थंकर के पादमूल में दर्शनमोहनीय का क्षय करना प्रारंभ करता है किन्तु उसकी पूर्ति चारों गतियों में से किसी में भी हो सकती है।

धवला टीकाकार ने सूत्र के 'जिन' शब्द से चतुर्दशपूर्वधारियों को अर्थात् श्रुतकेवलियों को लिया है। 'केवली' पद से तीर्थंकर नामकर्म के उदय से रहित सामान्य केवलियों को लिया है और 'तीर्थंकर' पद से साक्षात् तीर्थंकर को लिया है। इनमें से किसी के पादमूल में मनुष्य क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है।

जिस प्रकार से प्रथमोपशम सम्यक्त्व में अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण से तीन करण आदि क्रियायें होती हैं उसी प्रकार से सर्वप्रथम

1. धवला पु. 6, पृ. 243।



यह जीव अधःप्रवृत्तकरण आदि तीन करणों को करके अनंतानुबंधी का विसंयोजन करता है। अनंतर अंतर्मुहूर्त काल के व्यतीत होने पर पुनः इन तीन करणों द्वारा दर्शनमोहनीय का क्षपण करता है।

''दर्शनमोहनीय के तीन भेदों में सम्यक्त्व प्रकृति के क्षय में कुछ कार्य शेष रहने पर यह कृतकृत्यवेदक कहलाता है। उस समय कदाचित् आयु के पूर्ण होने से मरण को प्राप्त हो जाता है तो वह पूर्व में बद्ध हुई आयु के अनुसार किसी भी गति में जाकर वहाँ उस क्षायिक सम्यक्त्व को पूर्ण कर लेता है।''[1]

**शंका**—केवली, श्रुतकेवली और तीर्थंकर का सान्निध्य सम्यक्त्व प्राप्ति के लिये बाह्य निमित्त है या अंतरंग ?

**समाधान**—यह बाह्य निमित्त है। अंतरंग निमित्त तो सात प्रकृतियों का क्षय होना है।

**शंका**—क्या बाह्य निमित्त इतना बलशाली है कि इसके बिना दर्शनमोह का क्षय न हो सके ?

**समाधान**—आगम श्रद्धालु के लिये तो यह स्पष्ट ही है। केवली आदि के पादमूल के निकट ही दर्शनमोह और अनंतानुबंधी के नाश करने की योग्यता आ सकती है अन्यथा नहीं।

**शंका**—तो इनके दर्शन करने वाले सभी को क्षायिक सम्यक्त्व हो जाना चाहिए ?

**समाधान**—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि पहले ही सूत्रकार श्री पुष्पदंत महर्षि ने कह दिया है कि पंद्रह कर्मभूमियों में किसी भी कर्मभूमि में जन्मा हुआ मनुष्य होना चाहिए। इससे देव, तिर्यंच, नारकी, भोगभूमिज मनुष्य तथा कर्मभूमिज महिलाओं का भी निषेध हो जाता है।

**शंका**—पुनः सभी पुरुषों को तो होना चाहिये ?

**समाधान**—यह भी बात नहीं है, क्योंकि केवली आदि का सानिध्य कारण है, करण नहीं है। कारण होने पर कार्य होवे ही यह नियम नहीं है फिर भी इन कारणों के बिना कार्य का होना सर्वथा असम्भव है।

श्री उमास्वामी आचार्य सम्यक्त्वोत्पत्ति के कारण को कहते हैं।

**उत्थानिका**—जीवादि पदार्थों को विषय करने वाला यह सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न होता है ?

सो ही बताते हैं—

1. धवला पु. 6, पृ. 247।

## निसर्गज और अधिगमज सम्यक्त्व

**तन्निसर्गादधिगमाद्वा (तत्त्वार्थसूत्र अ.1, सू.3)**

वह सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगमज इन दो प्रकार से उत्पन्न होता है।

**''प्रश्न–**सम्यग्दर्शन में दो प्रकार की कल्पना नहीं बन सकती; क्योंकि तत्त्वों का ज्ञान हुए बिना उनका श्रद्धान कैसे हो सकता है ? जैसे कि जब तक रसायन का ज्ञान न हो तब तक उसका श्रद्धान असंभव है। अतः निसर्गज सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है[1] ।''

**उत्तर–**दोनों सम्यग्दर्शनों में अंतरंग कारण दर्शनमोह का उपशम, क्षय या क्षयोपशम समान है। इसके होने पर जो बाह्योपदेश के बिना प्रगट होता है वह निसर्गज कहलाता है तथा जो परोपदेश से होता है वह अधिगमज। लोक में भी शेर, भेड़िया, चीता में शूरता, क्रूरता आदि परोपदेश के बिना होने से नैसर्गिक कहे जाते हैं। यद्यपि इनमें कर्मोदय की अपेक्षा है फिर भी परोपदेश की अपेक्षा न होने से ही यह स्वाभाविक है। वैसे ही यहाँ पर भी सम्यग्दर्शन में परोपदेश की अपेक्षा न होने पर ही निसर्गता स्वीकार की गई है।

**प्रश्न–**भव्य जीव अपने समय के अनुसार ही मोक्ष जायेगा। यदि अधिगमज सम्यक्त्व के बल से समय से पहले मोक्ष प्राप्ति की संभावना हो तभी अधिगमज सम्यक्त्व की सार्थकता है। अतः एक निसर्गज सम्यक्त्व ही मानना चाहिए ?

**उत्तर–**यदि केवल निसर्गज या अधिगमज सम्यक्त्व से मोक्ष माना गया होता तो यह प्रश्न उचित था। पर मोक्ष तो ज्ञान व चारित्र सहित सम्यक्त्व से स्वीकार किया गया है। यहाँ विचार तो यह है कि वह सम्यग्दर्शन किन कारणों से उत्पन्न होता है ? उसमें जो बाह्य उपदेश के बिना प्रकट हो वह निसर्गज और जो बाह्य उपदेश को प्राप्त करके प्रकट हो वह अधिगमज है। अतः यहाँ मोक्ष का प्रश्न ही नहीं है। फिर भव्यों की कर्मनिर्जरा का कोई समय निश्चित नहीं है और न मोक्ष का ही। कोई भव्य संख्यात काल में सिद्ध होंगे, कोई असंख्यात में और कोई अनंतकाल में। कुछ ऐसे भी हैं जो अनंतानंत काल में भी सिद्ध होंगे अतः भव्य के मोक्ष के काल नियम की बात उचित नहीं है। जो व्यक्ति मात्र ज्ञान या चारित्र से या दो से या तीन कारणों से मोक्ष मानते हैं उनके यहाँ 'कालानुसर मोक्ष होगा' यह प्रश्न ही नहीं होता। यदि सबका काल ही कारण मान लिया जाय तो बाह्य और आभ्यंतर कारण सामग्री का ही लोप हो जाएगा।[1]

1. सम्यग्दर्शनद्वैविध्यकल्पनानुपपत्तिः अनुपलब्धतत्त्वस्य श्रद्धानाभावात् रसायनवत्।।1।। उभयत्र तुल्ये अंतरंगहेतौ बाह्योपदेशापेक्षानपेक्षभेदाद् भेदः।।5।। (तत्त्वार्थवार्तिकअ.1,सू.3)



इस पंक्ति से उन लोगों को अपनी धारणा सुधार लेनी चाहिए जो ऐसा कहते हैं कि 'जब सम्यग्दर्शन प्राप्त होगा या मोक्ष जाना होगा तो निमित्त अपने आप उपस्थित हो जावेगा अथवा निमित्त कारण क्या कर सकता है ? इत्यादि। क्योंकि न काल ही मोक्ष का कारण है और न निमित्त ही स्वतः आते हैं किन्तु निमित्तों को तो जुटाने का पुरुषार्थ भी करना पड़ता है।

इन दोनों सम्यग्दर्शनों में भी पाँचों लब्धियों को अंतर्गर्भित समझना चाहिये।

**प्रश्न–**निसर्गज सम्यक्त्व के बाह्य उपदेश की अपेक्षा न होने से उसमें देशनालब्धि कैसे घटित होगी ?

**उत्तर–**इसमें भी गुरुओं का लाभ होना अथवा पूर्व के बहुत कुछ काल पहले से उपदेश का निमित्त रहना या पूर्वभव के उपदेश के संस्कार का निमित्त रहना ही देशनालब्धि है अथवा तत्त्वार्थवृत्तिकार कहते हैं कि **''नैसर्गिकमपि सम्यग्दर्शनं गुरोरक्लेशकारित्वात् स्वाभाविकमुच्यते न तु गुरुपदेशं विना प्रायेण तदपि जायते।[2]''**

नैसर्गिक सम्यग्दर्शन भी गुरु को क्लेश करने वाला न होने से अर्थात् गुरु को अधिक परिश्रम कराने वाला न होने से स्वाभाविक कहलाता है किन्तु गुरु उपदेश के बिना प्रायः वह भी नहीं होता है।

इस कथन से तो इस निसर्गज सम्यक्त्व में भी गुरु उपदेश विवक्षित है, मात्र इतना ही है कि वह गुरु के किंचित् उपदेश मात्र से हो जाता है। गुरु को उसे समझाने के लिए अधिक उपदेश नहीं करना पड़ता है।

इसी प्रकार से सभी सम्यग्दर्शनों में बाह्य कारणों की कुछ न कुछ अपेक्षा रहती ही है यह बात स्पष्ट हो जाती है। अतः यह समझना चाहिये कि इन दोनों सम्यक्त्व के अंतरंग कारण समान होते हुए भी बाह्य कारणों के भेद से ही ये दो भेद हो गये हैं।

**पूर्वकथित जातिस्मरण आदि कारण इन पाँच लब्धियों में गर्भित हैं–**

इन पाँच लब्धियों में से किसी एक के बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इनमें से पूर्व की चार लब्धियाँ तो कारण हैं और अंतिम लब्धि तो कारण है ही है। पूर्व की चार लब्धियों के होने पर सम्यक्त्व होवे ही यह नियम नहीं है किन्तु उनके बिना कभी भी सम्यक्त्व नहीं हो सकता है।

1. भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः अधिगमसम्यक्त्वाभावः।।7।। .....कालानियमाच्च निर्जरायाः।।9।। (तत्त्वार्थवार्तिक अ.1,सू.3)
2. तत्त्वार्थवृत्ति, अ.1, सूत्र 3।

**प्रश्न**—चौथे नरक से लेकर सातवें नरक तक धर्मोपदेश का अभाव होने से तीसरी देशनालब्धि उनमें नहीं पायी जाती है ?

**उत्तर**—ऐसा नहीं समझना, क्योंकि लब्धिसार में स्पष्ट कहा है कि **'तु' शब्देनोपदेशकरहितेषु नारकादिभवेषु, पूर्वभवश्रुतधारिततत्त्वार्थस्य संस्कार-बलात्सम्यग्दर्शनप्राप्तिर्भवति, इति सूच्यते।**'[1] गाथा में आये हुए 'तु' शब्द से ऐसा समझना कि जहाँ उपदेश करने वाले नहीं जा सकते ऐसे नारक आदि भवों में जीवों ने पूर्वभव में शास्त्र को सुनकर जो तत्त्वों का अर्थ अवधारण किया था उसके संस्कार के बल से सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है ऐसा सूचित किया जाता है।

अतः उन चारों नरकों के नारकियों को पूर्वभव में सुने गये गुरु उपदेश का संस्कार 'देशनालब्धि' रूप से काम में आता है।

**प्रश्न**—पूर्व में जो जातिस्मरण, वेदनानुभव, धर्मश्रवण, जिनबिम्बदर्शन, जिनमहिमा और देवर्द्धि निरीक्षण कारण बताये गये हैं वे इन पाँच लब्धियों से रहित ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण बन जाते हैं क्या ?

**उत्तर**—ऐसा नहीं है, क्योंकि जातिस्मरण, वेदनानुभव, जिनबिम्बदर्शन, जिनमहिमादर्शन और देवर्द्धिदर्शन इनमें से किसी एक कारण के होने पर धर्म से अनुरागरूप परिणाम होते हैं। उस समय असाता आदि अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग घटेगा ही घटेगा और साता आदि शुभ प्रकृतियों का अनुभाग अनंतगुणारूप में बढ़ेगा ही बढ़ेगा तथा इस प्रक्रिया के होने पर कर्मों की स्थिति का अंतःकोड़ाकोड़ी सागर में हो जाना व चौंतीस बंधापसरणों के द्वारा तमाम प्रकृतियों का बंध से रुक जाना भी हो जावेगा। अतः इन उपर्युक्त पाँच कारणों में से किसी एक के होने पर क्षयोपशम, विशुद्धि और प्रायोग्य ये तीन लब्धियाँ स्वभावतः हो जावेंगी और देशनालब्धि के लिए तो ऊपर कथित प्रकार से ही समझ लेना चाहिए अर्थात् यदि 'धर्मश्रवण' कारण मिला है तब तो देशनालब्धि स्पष्ट ही है। यदि नहीं मिला तो पूर्वभव में गुरुओं के उपदेश का संस्कार इस भव में इस लब्धिरूप से हो जाता है। 'अथवा तत्त्वों के उपदेष्टा आचार्य, उपाध्याय आदि का मिल जाना भी देशनालब्धि है या बहुत काल पूर्व में यदि उनका उपदेश सुना था और उस उपदेश में कथित पदार्थों के अर्थ का अवधारण किया था तो वह भी उस समय देशनालब्धिरूप माना गया है।' यही बात तो लब्धिसार की टीका में आई हुई हैं। यथा–**''तेषामुपदेशकराः आचार्योपाध्यायादयः, तेषां लाभो यस्तद्देशनाप्राप्तिः चिरातीतकाले उपदेशितपदार्थ-धारणलाभो वा स देशनालब्धिर्भवति**[1]।''

1. लब्धिसार गाथा 6 की टीका।



इस कथन से उनके देशनालब्धि घटित हो जाती है। पुनः उसी समय करणलब्धिरूप परिणाम जो कि कर्मों के उपशम आदिरूप अंतरंग हेतु है उसके होने पर सम्यक्त्व प्रगट हो जाता है।

**प्रश्न**—यदि किसी मनुष्य या तिर्यंच को जिनबिम्ब का दर्शन करते ही परिणाम गद्गद हुये या मुनिदर्शन करके अथवा उनका उपदेश सुनकर या जातिस्मरण कारण से धर्म में अनुराग उत्पन्न होकर श्रद्धा उत्पन्न हो गई तो उतने अल्पकाल में इन पाँचों लब्धियों का होना कैसे संभव है ?

**उत्तर**—इन लब्धियों का अंतर्मुहूर्त मात्र काल में हो जाना असम्भव नहीं है। यदि सबके पृथक्-पृथक् काल भी अंतर्मुहूर्त होवें तो भी सबका मिलकर भी अंतर्मुहूर्त मात्र काल हो सकता है। इसमें कोई बाधा नहीं है क्योंकि अंतर्मुहूर्त के असंख्यातों भेद होते हैं।

इसलिये सम्यक्त्व के पूर्वोक्त कारणों से जो अनादिमिथ्यादृष्टि के प्रथमोपशम सम्यक्त्व होना माना है सो उसमें पाँचों लब्धियों को अंतर्गर्भित मानना चाहिए।

## काललब्धि

**शंका**—क्या काललब्धि के बिना सम्यक्त्व हो सकता है ?

**समाधान**—नहीं, देखिये—प्रश्न होता है कि ''अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यजीव के कर्मोदय से प्राप्त कलुषता के रहते हुए इनका (सात प्रकृतियों का) उपशम कैसे होता है ?'' तो श्री पूज्यपाद स्वामी उत्तर देते हुए कहते हैं कि**''काललब्ध्यादि-निमित्तत्वात्''**, काललब्धि आदि के निमित्त से इनका उपशम होता है।

**शंका**—काललब्धि किसे कहते हैं ?

**समाधान**—कर्म से सहित कोई भी भव्य आत्मा अर्धपुद्गल परिवर्तन प्रमाण काल के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण करने योग्य होता है। इससे अधिक काल के शेष रहने पर नहीं होता, यह एक काललब्धि है। दूसरी काललब्धि का संबंध कर्मस्थिति से है। उत्कृष्ट स्थिति वाले कर्मों के शेष रहने पर या जघन्य स्थिति वाले कर्मों के हो जाने पर प्रथम सम्यक्त्व की योग्यता नहीं होती है किन्तु जब बंधने वाले कर्मों की स्थिति अंतःकोड़ाकोड़ी सागर पड़ती है और विशुद्ध परिणामों के वश से सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति

1. लब्धिसार गाथा 6 की टीका।

संख्यात हजार सागर कम अंतःकोड़ाकोड़ी सागर प्राप्त होती है तब यह जीव प्रथम सम्यक्त्व के योग्य होता है।

एक काललब्धि भव की अपेक्षा होती है–"जो भव्य जीव है, संज्ञी है, पर्याप्तक है और सर्वविशुद्ध है वह प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है। 'आदि' शब्द से जातिस्मरण आदि को ग्रहण करना चाहिये[1]।"

## काललब्धि में पूर्वोक्त पाँचों लब्धियाँ गर्भित हैं

**शंका–**जब काललब्धि के बिना सम्यक्त्व नहीं होता है तो पुनः पूर्व में कही गई पाँच लब्धियों की क्या आवश्यकता है ?

**समाधान–**ऐसा नहीं कहना, क्योंकि वे लब्धियाँ आवश्यक हैं ही हैं। हाँ, जब काललब्धि मात्र कही जाती है तब उसमें ये लब्धियाँ अंतर्गर्भित ही समझी जाती हैं। सो ही धवलाकार कहते हैं–

**शंका–**सूत्र में एक काललब्धि ही प्ररूपित की गई है; उसमें इन शेष लब्धियों का होना कैसे सम्भव है ?

**समाधान–**नहीं, क्योंकि प्रतिसमय अनंतगुणहीन अनुभाग की उदीरणा का, अनंतगुणित क्रम द्वारा वर्धमान विशुद्धि का और आचार्य के उपदेश की प्राप्ति का उसी एक काललब्धि में होना सम्भव है अर्थात् उक्त चारों (क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य) लब्धियों की प्राप्ति काललब्धि के ही आधीन है, अतः वे चारों लब्धियाँ काललब्धि में अंतर्निहित हो जाती हैं।[2]"

इस प्रकार से इन पाँचों लब्धियों के बिना सम्यक्त्व की उत्पत्ति असम्भव है।

(इस प्रकार सम्यग्दर्शन के कारण को कहने वाला यह द्वितीय परिच्छेद पूर्ण हुआ।)

1. सर्वार्थसिद्धि अ.2, सूत्र 3। 2. धवला पु. 6, पृ.205।

## तथ्य क्या है ?

1. जातिस्मरण, जिनबिम्बदर्शन, धर्मश्रवण, जिनमहिमादर्शन, देवर्द्धिदर्शन और वेदनानुभवन ये सम्यक्त्व के बाह्य कारण हैं। ऐसा कथन षट्खंडागम के प्रणेता श्री पुष्पदंताचार्य कहते हैं।
2. जिनसूत्र और उसके जानने वाले महर्षिगण भी सम्यक्त्वोत्पत्ति के बाह्य कारण हैं ऐसा श्री कुंदकुंददेव कहते हैं।
3. दर्शनमोह और अनंतानुबंधी चतुष्क का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होना यह अंतरंग कारण है।
4. पाँच लब्धियों का वर्णन धवलाकार श्री वीरसेनाचार्य और लब्धिसार के प्रणेता श्री नेमिचंद्रसिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा प्ररूपित है। उनमें से देशनालब्धि बाह्य कारण है और क्षयोपशम, विशुद्धि तथा प्रायोग्यलब्धि अंतरंग कारण हैं फिर भी ये सामान्य कारण हैं। अंतिम करणलब्धि के होने पर नियम से सम्यक्त्व होता ही होता है और वह अंतरंग कारण है।
5. निसर्गज और अधिगमज सम्यक्त्व में धर्मश्रवण कारण का ही अंतर है फिर भी देशनालब्धि अवश्य है तथा अन्य बहिरंग व अंतरंग कारण इन दोनों में समान ही हैं।
6. आज इस पंचमकाल में उपशम और क्षयोपशम इन दो सम्यक्त्व की ही कारण सामग्री उपलब्ध है क्षायिक के लिये नहीं क्योंकि केवली और श्रुतकेवली नहीं हैं।

# (3)

# सम्यग्दर्शन

**यः सारः सर्वसारेषु, स सम्यग्दर्शनं मतम्।**
**आ मुक्तेर्नहि मां मुञ्चेत्, वृत्तं च विमलीक्रियात्।।1।।**

सम्पूर्ण सारों में भी जो ''सार'' है वह सम्यग्दर्शन ही है। मोक्ष होने तक वह मुझे न छोड़े या मुझसे न छूटे और मेरे चारित्र को भी निर्मल करे।

[सम्यग्दर्शन, सद्दर्शन, सद्दृष्टि, सम्यग्दृष्टि, सद्दक्, सम्यग्दृक् और सम्यक्त्व ये सब पर्यायवाची नाम हैं। सत् या सम्यक् शब्द प्रशस्त और प्रशंसावाची है। दृशिर् धातु यद्यपि देखने अर्थ में है तो भी मोक्षमार्ग के प्रकरण में उसका 'श्रद्धान' अर्थ ग्राह्य है चूँकि धातुओं के अनेक अर्थ पाये जाते हैं अतः समीचीन श्रद्धा का नाम सम्यग्दर्शन हो जाता है। यह मोक्षमार्ग का मूल है। इसके औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ऐसे तीन भेद होते हैं। ये भेद अंतरंग में दर्शनमोह और अनंतानुबंधी कषाय के उपशम, क्षयोपशम और क्षय की अपेक्षा से होते हैं। अतः इनके अंतरंग कार्य की अपेक्षा से सार्थक हैं।

सम्यक्त्व के निसर्गज और अधिगमज ये दो भेद भी माने गये हैं। इन दोनों में अंतरंग कारण उपर्युक्त उपशमादि तीन में से कोई भी हो सकता है किन्तु बाह्य कारणों में अंतर होने से ही इनके नाम में अंतर पड़ गया है। ऐसे ही आज्ञासम्यक्त्व आदि दश भेदों में भी अंतरंग कारण समान होते हुए भी बाह्य कारणों की अपेक्षा से दश प्रकार हो जाते हैं।

सराग और वीतराग अथवा व्यवहार और निश्चय की अपेक्षा भी सम्यक्त्व के दो भेद होते हैं। इनमें अंतरंग कारण में कथंचित् अंतर है कथंचित् नहीं भी है। जब उपशम, क्षयोपशम को सराग कहकर क्षायिक को वीतराग कहा जाता है तब अंतरंग कारण में अंतर हो जाता है और जब द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणी में चढ़कर वीतरागता प्राप्त कर वीतराग सम्यग्दृष्टि कहलाता है तब मात्र बाह्य कारणों की अपेक्षा से ही अंतर माना जाता है। ऐसे ही व्यवहार और निश्चय में भी समझना चाहिए। चूँकि समयसार टीका में भेदरत्नत्रय कृत सराग सम्यग्दृष्टि और अभेदरत्नत्रय में वीतराग सम्यग्दृष्टि संज्ञा दी है।

इन सभी सम्यग्दर्शनों के लक्षण आगमानुसार आपको इस परिच्छेद में देखने को मिलेंगे। पुनः आपको स्वयं आगम की तुला से तोलना होगा कि मैं



सराग सम्यग्दृष्टि हूँ या वीतराग सम्यग्दृष्टि। यदि आप अपने को सराग सम्यग्दृष्टि निश्चित कर लेंगे तो आपको अपने सम्यग्दर्शन को आठ अंग सहित बनाना होगा और भी उसके शंका, मद आदि दोषों को दूर कर अन्य-अन्य गुणों को वृद्धिंगत करते हुये वीतराग सम्यक्त्व को प्राप्त करने के लिये भावना भानी होगी।

## उपशम सम्यक्त्व

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को सर्वप्रथम उपशम सम्यग्दर्शन ही होता है अतः वह मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी चतुष्क इन पाँच के उपशम से होता है। सादि मिथ्यादृष्टि के सात प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। कदाचित् मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति की उद्वेलना हो जाने पर पाँच प्रकृतियों के उपशम से भी होता है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त ही है।

कषायपाहुड़सुत्त में दर्शनमोह की उपशमन विधि के अनंतर सम्यग्दृष्टि का जो लक्षण किया है सो देखिये–

## सम्यक्त्व का लक्षण

**सम्माइट्ठी जीवो पवयणं णियमसा दु उवइट्ठं।**
**सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणिओगा[1]।।107।।**

सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का तो नियम से श्रद्धान करता ही है, किन्तु कदाचित् अज्ञानवश सद्भूत अर्थ को स्वयं नहीं जानता हुआ गुरु के नियोग से असद्भूत अर्थ का भी श्रद्धान करता है।

यह गाथा महान् ऋषिप्रवर श्री गुणधर आचार्य की है। ये आचार्य षट्खंडागम सूत्र के रचयिता ग्रंथकार श्री पुष्पंदत और भूतबलि आचार्य से भी प्रथम हुये हैं। इन्होंने 'कषायपाहुड़' नाम का जो ग्रंथ बनाया है उस पर श्री यतिवृषभ आचार्य ने चूर्णीसूत्रों की रचना की है तथा श्री वीरसेनाचार्य ने उन मूल गाथा और चूर्णीसूत्रों पर 'जयधवला' नाम से टीका रची है।

इस गाथा को यथास्थान बहुत से आचार्यों ने प्रयुक्त किया है। किन्हीं ने ज्यों की त्यों दे दिया है और किन्हीं ने उसी के अभिप्रायरूप किन्तु कुछ परिवर्तित रूप से दिया है।

**यथा**–धवला की छठी पुस्तक में यह 'गाथा'[2] ज्यों की त्यों है। धवला की प्रथम पुस्तक में यह गाथा निम्नरूप से है–

1. कषायपाहुड़सुत्त अधिकार 10, गा. 107, पृ. 637। 2. धवला पु. 6, पृ. 242।

**सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।**
**सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा[1]।।110।।**

भगवती आराधना में यह गाथा ज्यों की त्यों है। पुनः आगे कहते हैं–

**''सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।**
**सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी।।33।।**

पुनः सूत्र से सम्यक् अर्थ को दिखाने पर भी जब कोई श्रद्धान नहीं करता है तो वह उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

शिवकोटि आचार्य की यह भी गाथा ध्यान देने योग्य है–

**पदमक्खरं च एक्कं पि जो ण रोचेदि सुत्तणिद्दिट्ठं।**
**सेसं रोचंतो विहु मिच्छाइट्ठी मुणेयव्वो[2]।।39।।**

जो जीव सूत्रनिर्दिष्ट समस्त वाङ्मय का श्रद्धान करता हुआ भी यदि एक पद का श्रद्धान नहीं करता है तो वह समस्त श्रुत की रुचि करता हुआ भी मिथ्यादृष्टि है।

## क्षयोपशम सम्यक्त्व

सम्यग्दर्शन गुण को विपरीत करने वाली प्रकृतियों में से देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होने पर जो आत्मा के परिणाम होते हैं उनको वेदक या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। वे परिणाम चल, मलिन या अगाढ़ होते हुये भी नित्य ही अर्थात् जघन्य अंतर्मुहूर्त से लेकर उत्कृष्ट छ्यासठ सागर पर्यंत कर्मों की निर्जरा के कारण हैं। इस सम्यक्त्व का जघन्य काल अंतर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट छ्यासठ सागर प्रमाण है तथा मध्यम के अनेक भेद हैं।

जिस प्रकार एक ही जल अनेक कल्लोलरूप में परिणत होता है, उसी प्रकार से जो सम्यग्दर्शन सम्पूर्ण तीर्थंकर या अर्हंतों में समान अनंत शक्ति के होने पर भी शांतिनाथ जी शांति के लिए और श्री पार्श्वनाथ जी रक्षा करने के लिए समर्थ हैं' इस तरह नाना विषयों में चलायमान होता है उसको चल सम्यग्दर्शन कहते हैं। जिस प्रकार शुद्ध सुवर्ण भी मल के निमित्त से मलिन कहा जाता है, उसी तरह सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जिसमें पूर्ण निर्मलता नहीं है उसको मलिन सम्यग्दर्शन कहते हैं। जिस तरह वृद्ध पुरुष के हाथ में ठहरी हुई भी लाठी कांपती है उसी तरह जिस सम्यग्दर्शन के होते हुये भी अपने

1. धवला पु. 1, पृ. 174, गोम्मटसार जीवकांड गाथा 27। 2. भागवती आराधना प्र. आ.।



बनवाये हुए मंदिर आदि में 'यह मेरा मंदिर है' और दूसरे के बनवाये हुए मंदिर आदि में 'यह दूसरे का है' ऐसा भाव होवे, उसको अगाढ़ सम्यग्दर्शन कहते हैं।

लब्धिसार में भी कहते हैं–

**सम्मुदये चलमलिणमगाढं सद्दहदि तच्चयं अत्थं।**
**सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा।।105।।**

**सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।**
**सो चेव हवदि मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी।।106।।**

सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने पर यह जीव चल, मलिन व अगाढ़रूप से तत्त्वों के अर्थ का श्रद्धान करता है अर्थात् सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से तत्त्वार्थश्रद्धान रूप सम्यक्त्व में चल, मलिन, अगाढ़ ये तीन दोष लगते रहते हैं। ऐसा यह सम्यग्दृष्टि जीव कदाचित् आप स्वयं विशेष अर्थ को नहीं जानता हुआ गुरु के नियोग से असत् अर्थ का भी श्रद्धान कर लेता है तो भी वह सम्यग्दृष्टि ही रहता है। पुनः कदाचित् किसी अन्य आचार्य के द्वारा गणधर आदि प्ररूपित सूत्र को दिखाकर सम्यक् स्वरूप बतलाए जाने पर भी यदि वह अपनी पूर्व मान्यता को हठ बुद्धि से नहीं छोड़ता है तो वह उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

यहाँ पर 'अजाणमाणो गुरुणियोगा' इस चरण का अर्थ विशेष महत्त्व रखता है। देखिये टीकाकार के शब्दों में–

**'अयं वेदकसम्यग्दृष्टिः स्वयं विशेषमजानानो गुरोर्वचनाकौशलदुष्टाभिप्राय-गृहीतविस्मरणादिनिबंधनान्नियोगादन्यथा व्याख्यानासद्भावं तत्त्वार्थेष्वसद्रूपमपि श्रद्दधाति तथापि सर्वज्ञाज्ञाश्रद्धानात्सम्यग्दृष्टिरेवासौ। पुनः कदाचिदाचार्यांतरेण गणधरादिसूत्रं प्रदर्श्य व्याख्यायमानं सम्यग्रूपं यदा न श्रद्दधाति ततः प्रभृति स एव जीवो मिथ्यादृष्टिर्भवति, आप्तसूत्रार्थाश्रद्धानात[1]।''**

यह वेदक सम्यग्दृष्टि स्वयं विशेष को नहीं समझता हुआ गुरु के वचनों की अकुशलता से, उनके दुष्ट अभिप्राय से अथवा उनके गृहीत अर्थ के विस्मरण आदि के निमित्त से विपरीत व्याख्यान किये गये असद्भाव का तत्त्वार्थों के असत् स्वरूप का भी श्रद्धान कर लेता है फिर भी सर्वज्ञदेव की आज्ञा का श्रद्धान करने से वह सम्यग्दृष्टि ही है। पुनः कदाचित् अन्य आचार्य के द्वारा गणधरादि के सूत्रों को दिखाकर सम्यक् स्वरूप का व्याख्यान किये

1. लब्धिसार टीका, पृ. 155।

जाने पर भी यदि वह उस समय उस पर श्रद्धान् नहीं करता है तो वह उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है क्योंकि आप्त कथित सूत्र के अर्थ का वह श्रद्धान नहीं कर रहा है।

इससे यह समझ लेना चाहिये कि वर्तमान के उपलब्ध जो पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रंथ हैं, जैसे–धवल, जयधवल, महाधवल, समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, रयणसार, मूलाचार, तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, श्लोक वार्तिक, तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार, गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, आदिपुराण, पद्मपुराण, उत्तरपुराण, हरिवंशपुराण, भावसंग्रह, वरॉंगचरित, वसुनंदिश्रावकाचार आदि। इन ग्रंथों के रचयिता आचार्यों को गुरू मानकर उनके रचित ग्रंथों पर पूर्णतया श्रद्धान रखना चाहिये। यदि उन्होंने गुरूपदेश के विस्मरण से या अज्ञान से अथवा दुष्ट अभिप्राय से भी कुछ कहा होगा तो उस दोष के भागी वे होंगे न कि हम, हम तो गुरु वाक्यों पर दृढ़श्रद्धान रखने से सम्यग्दृष्टि ही बने रहेंगे। चूँकि यह गाथा हमें जो सम्यग्दृष्टि का लक्षण बता रही है उस पर हर एक विद्वानों को लक्ष्य देना उचित है। यह गाथा सामान्य आचार्य के मुख से नहीं निकली है किन्तु श्रीकुंदकुंददेव के भी पहले के एक विशेष महर्षि गुणधरदेव के मुख-कमल से निकली हुई है। वास्तव में इसमें गुरु का एक विशेष ही महत्त्व झलक रहा है। अतः अज्ञायमान गुरु के नियोग से यदि कुछ गलत भी विषय में हमारा श्रद्धान चल रहा है तो वह सही ही है। कब तक ? जब तक कि उसके विरोध में कोई आचार्यप्रणीतसूत्र वाक्य नहीं मिल जाते हैं तभी तक। यदि पुनः उन सूत्र वाक्यों को देखकर भी हम अपनी धारणा नहीं बदलते हैं तो उसी समय से हम मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं। अतः आगम वाक्य देख लेने के बाद दुराग्रही बनकर अपने सम्यक्त्वरत्न को छोड़ना उचित नहीं है।

## क्षायिक सम्यक्त्व

दर्शनमोह की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व तथा अनंतानुबंधी चतुष्क इन सात प्रकृतियों के सर्वथा क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

'दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय हो जाने पर यह जीव उसी भव में या तीसरे अथवा चौथे भव में सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है, किन्तु चौथे भव का उल्लंघन नहीं करता है तथा दूसरे सम्यक्त्वों की तरह यह सम्यक्त्व नष्ट भी नहीं होता।'



क्षायिक सम्यग्दृष्टि बहुतेक उसी भव से मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है अथवा यहाँ से देवपर्याय को प्राप्त कर वहाँ से आकर मोक्ष प्राप्त करने में तृतीय भव हो जाता है। कदाचित् किसी ने सम्यक्त्व होने से पहले नरकायु बाँध ली पुनः सम्यक्त्व हुआ तो भी वह नरक जाकर, वहाँ से आकर मनुष्य होकर मोक्ष चला जायेगा। यदि सम्यक्त्व के पहले तिर्यंच आयु या मनुष्य आयु बाँध ली है तो क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर भोगभूमिया मनुष्य होकर वहाँ से स्वर्ग जाकर पुनः यहाँ आकर मोक्ष प्राप्त करेगा, इसमें चौथे भव में मोक्ष प्राप्त होता है, किन्तु इससे अधिक भव क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं ले सकता है।

'यह सम्यक्त्व इतना दृढ़ होता है कि तर्क तथा आगम से विरुद्ध श्रद्धान को भ्रष्ट करने वाले वचन या हेतु उसको भ्रष्ट नहीं कर सकते। अत्यन्त भयोत्पादक या ग्लानिकारक पदार्थों को देखकर भ्रष्ट नहीं होता। यदि कदाचित् तीन लोक उपस्थित होकर भी अपने श्रद्धान से भ्रष्ट करना चाहें तो भी वह भ्रष्ट नहीं होता[1]।'

इस सम्यक्त्व का जघन्यकाल अंतर्मुहूर्त है और उत्कृष्टकाल कुछ अधिक तेतीस सागर प्रमाण है।

**प्रश्न**–स्त्रियों में कौन-कौन सम्यक्त्व होते हैं ?

**उत्तर**–स्त्रियों में औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होते हैं, क्षायिक नहीं।

**प्रश्न**–पुनः स्त्रीवेद से क्षपक श्रेणी में आरोहण करना, मोक्ष जाना कैसे होगा ?

**उत्तर**–वह भाववेद की अपेक्षा कथन है अर्थात् कोई पुरुष द्रव्य से तो पुरुषवेदी है और यदि भाव से स्त्रीवेदी अथवा नपुंसकवेदी है तो वह मोक्ष जा सकता है।यथा–''क्षायिक सम्यक्त्व स्त्रीवेद में भाववेद की अपेक्षा से ही है[2]।''

**शंका**–तो फिर स्त्रियों में चौदह गुणस्थान होते हैं यह कथन कैसे बनेगा?

**समाधान**–'ऐसा नहीं कहना, क्योंकि भावस्त्रीवेद से युक्त मनुष्यगति में चौदह गुणस्थानों का सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं है[3]।'' अतः द्रव्यस्त्रियों के क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता है।

सम्यक्त्व के दो भेद भी होते हैं–निसर्गज और अधिगमज।

---

1. गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. 646, 647। 2. ''क्षायिकपुनर्भाववेदेनैव'' टिप्पणी, सर्वार्थसिद्धि (ज्ञानपीठ से प्र.) 3. धवला पु.1, पृ.335।

**निसर्गज सम्यक्त्व**—जो सम्यग्दर्शन गुरु के उपदेश की अपेक्षा न करके उत्पन्न होता है वह निसर्गज कहलाता है। अथवा 'गुरु के अल्प उपदेशमात्र से उत्पन्न हो जाता है' ऐसा पूर्व में कारण के प्रकरण में कहा गया है।

**अधिगमज सम्यक्त्व**—इस सम्यक्त्व में गुरु का उपेदश प्रमुख है अर्थात् गुरु के उपदेश का अवलंबन लेकर ही यह सम्यक्त्व प्रकट होता है अतः इसको अधिगमज सम्यक्त्व कहते हैं।

## सम्यक्त्व के दश भेद

"वह सम्यग्दर्शन आज्ञासमुद्भव, मार्गसमुद्भव, उपदेशसमुद्भव, सूत्र-समुद्भव, बीजसमुद्भव, संक्षेपसमुद्भव, विस्तारसमुद्भव, अर्थसमुद्भव, अवगढ़ और परमावगाढ़ इस प्रकार से दश प्रकार है[1]।"

1. दर्शनमोह के उपशांत होने से ग्रंथश्रवण के बिना केवल वीतराग भगवान की आज्ञा से ही जो तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है उसे 'आज्ञासम्यक्त्व' कहा गया है।
2. दर्शनमोह का उपशम होने से जो निर्ग्रंथलक्षण कल्याणकारी मोक्षमार्ग का श्रद्धान होता है उसे 'मार्ग सम्यग्दर्शन' कहते हैं अर्थात् निर्ग्रंथ दिगम्बर मोक्ष ही मोक्षमार्ग है ऐसा श्रद्धान मार्ग सम्यग्दर्शन है।
3. तिरेसठ शलाका पुरुषों के पुराण के उपदेश से जो सम्यग्दर्शन होता है उसे आगम में प्रवीण गणधरदेव ने 'उपदेश सम्यग्दर्शन' कहा है।
4. मुनि के सकलचारित्र को सूचित करने वाले आचारसूत्र को सुनकर जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे उत्तम 'सूत्र सम्यग्दर्शन' कहा गया है।
5. जिन जीवादि पदार्थों के समूह का तथा गणितादि विषयों का ज्ञान दुर्लभ है उनका किन्हीं बीजपदों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले भव्य जीव के जो दर्शनमोहनीय के असाधारण उपशमवश तत्त्वश्रद्धान होता है उसे 'बीजसम्यग्दर्शन' कहते हैं।
6. जो भव्यजीव पदार्थों के स्वरूप को संक्षेप से ही जान करके तत्त्वश्रद्धान को प्राप्त हुआ है उसके उस सम्यग्दर्शन को 'संक्षेप सम्यग्दर्शन' कहा है।

1. आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्।
   विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढं च।।11।। (आत्मानुशासन)



7. जो भव्यजीव बारह अंगों को सुनकर तत्त्वश्रद्धानी हो जाता है उसे 'विस्तार सम्यग्दर्शन' से सहित जानो।
8. अंग बाह्य आगमों के पढ़े बिना भी उनमें प्रतिपादित किसी पदार्थ के निमित्त से जो अर्थ श्रद्धान होता है वह 'अर्थ सम्यग्दर्शन' कहलाता है।
9. अंगों के साथ अंगबाह्य श्रुत का (सर्वश्रुत का) अवगाहन करके जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे 'अवगाढ़ सम्यग्दर्शन' कहते हैं।
10. केवलज्ञान के द्वारा देखे गये पदार्थों के विषय में जो रुचि होती है सो यहाँ 'परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन' इस नाम से प्रसिद्ध है।

इन दशों प्रकार के सम्यक्त्व में से अंत के चार सम्यक्त्वों के अतिरिक्त आदि के छह सम्यग्दर्शन में पाँचों लब्धियों को प्राप्त करके दर्शनमोहनीय का उपशम आदि होना विवक्षित है। अंत के तीन में तो अंग-पूर्व रूप श्रुतज्ञान की अपेक्षा से जो विशेषता आती है वही उन-उन सम्यक्त्व के नाम से विवक्षित है क्योंकि वहाँ तो पहले से सम्यक्त्व विद्यमान ही है। कारण भाव मिथ्यादृष्टि मुनि को अधिक से अधिक ग्यारह अंग तक ज्ञान हो सकता है बारहवें अंग और पूर्वों का नहीं और अंतिम सम्यक्त्व तो केवली भगवान् के पूर्णज्ञान की विवक्षा से ही वर्णित है।

पूर्व के छह सम्यक्त्वों में भी यदि गुरु का उपदेश न मिले तो देशनालब्धि को पूर्वभव के संस्कारवश या गुरु के लाभमात्र आदि रूप से समझ लेना चाहिये।

आज्ञा सम्यक्त्व आदि छह सम्यक्त्वों में बाह्य कारण प्रधान है चूँकि इनमें बाह्य कारणों की अपेक्षा से ही भेद हुआ है तथा विस्तार आदि तीन सम्यक्त्व में श्रुतज्ञानरूप अंतरंग कारण प्रधान है और अंतिम सम्यक्त्व में तो केवलज्ञान की अपेक्षा है।

इस तरह से सम्यक्त्व के औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक की अपेक्षा से तीन भेद कहे हैं। निसर्गज और अधिगमज की अपेक्षा से दो भेद हो गये हैं एवं आज्ञा सम्यक्त्व आदिरूप से दश भेद किये गये हैं।

सराग और वीतराग की अपेक्षा भी सम्यक्त्व के दो भेद होते हैं। अध्यात्म ग्रंथों में इन्हें ही व्यवहार सम्यक्त्व और निश्चय सम्यक्त्व नाम से कहा है।

पूर्वाचार्यों ने सराग अथवा व्यवहार सम्यक्त्व को कहाँ तक माना है और वीतराग अथवा निश्चयसम्यक्त्व कहाँ से शुरू होता है। अब इस विषय पर विशद प्रकाश डाला जाता है।

## सराग सम्यक्त्व

कषायप्राभृत ग्रंथ में श्री गुणधर आचार्य ने तो दर्शनमोह से उपशम आदि से होने वाले सम्यक्त्व का लक्षण व्यवहारप्रधान किया ही है। यथा–

**सम्माइट्ठी जीवो पवयणं णियमसा दु उवइट्ठं।**
**सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणिओगा।।107।।**

सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञदेव के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का तो नियम से श्रद्धान करता ही है, किन्तु कदाचित् अज्ञानवश सद्भूत अर्थ को स्वयं नहीं जानता हुआ गुरु के नियोग से असद्भूत अर्थ का भी श्रद्धान करता है।

क्षायिक सम्यक्त्व को वीतराग सम्यक्त्व[1] कहने की अपेक्षा यह लक्षण वीतराग सम्यग्दृष्टि का भी हो जाता है क्योंकि चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थान में यह लक्षण संभव ही है और आचार्यों की तो बात ही क्या, अकलंकदेव आदि ने क्षायिक सम्यक्त्व को वीतराग कहा है सो ही आगे दिया है।

साक्षात् गौतमस्वामी जो कि विपुलमति मनःपर्ययज्ञान के धारी थे, सात ऋद्धियों से समन्वित थे, तद्भव मोक्षगामी थे, तीस वर्ष तक भगवान् महावीर स्वामी के चरणसानिध्य में रहकर उनकी दिव्य अमृतमयी दिव्यध्वनि को श्रवण किया था और जिन्होंने द्वादशांगरूप में श्रुत की रचना की थी। ऐसे श्री गौतम गणधर मुनियों के पाक्षिक प्रतिक्रमण में दर्शनाचार का लक्षण करते हुए कहते हैं–

''दंसणायारो अट्ठविहो–

**णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य।**
**उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा चेदि।।**

**अट्ठविहो परिहाविदो, संकाए कंखाए विदिगिंछाए अण्णदिट्ठीपसंसणदाए परपाखंडपसंसणदाए अणायदणसेवणदाए अवच्छल्लदाए अप्पपहावणदाए तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।''**

दर्शनाचार आठ प्रकार का है–निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। मैंने शंका से, कांक्षा से, विचिकित्सा से, अन्य दृष्टि की प्रशंसा से, परपाखण्ड की प्रशंसा से, अनायतन के सेवन से, अवात्सल्य से और अप्रभावना से जो इस आठ प्रकार के दर्शनाचार में विराधना की है वह मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

1. लब्धिसार टीका पृ. 144।



इस प्रकार से श्री गौतम स्वामी ने मुनियों तक के लिए यह व्यवहारप्रधान सम्यक्त्व बतलाया है। अब अध्यात्मयोगी श्री कुंदकुंददेव के वचनों में देखिये–

श्री कुंदकुंददेव दर्शनपाहुड़ में सम्यक्त्व का लक्षण बताते हुए कहते हैं–

**''छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।**
**सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो।।19।।**

छह द्रव्य, नव पदार्थ, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व ये जिनेन्द्रदेव द्वारा कहे गये हैं। इनके स्वरूप का जो श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि है।

पुनः व्यवहार और निश्चय की अपेक्षा कहते हैं–

**जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।**
**ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं।।20।।**

जिनेन्द्रदेव ने जीवादि पदार्थों के श्रद्धान को व्यवहार से सम्यक्त्व कहा है और अपनी आत्मा के ही श्रद्धान को निश्चय से सम्यक्त्व कहा है[1]।''

आगे चारित्रपाहुड़ में चारित्र के दो भेद करते हुए पहले सम्यक्त्वचरण चारित्र को कहते हैं–

**''जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं[2]।''**

प्रथम जो सम्यक्त्व का आचरणस्वरूप चारित्र है वह जिनेन्द्रदेव के ज्ञान से देखा हुआ शुद्ध है।

**भावार्थ–**चारित्र के दो भेद हैं–सम्यक्त्वचरण और संयमचरण।

आठ अंग आदिरूप आचरण सम्यक्त्वचरण है और श्रावक के बारह व्रत तथा मुनि के महाव्रत आदि रूप चारित्र को संयमचरण कहते हैं।

पूर्वोक्त प्रकार से सम्यक्त्वाचरण को जानकर शंकादि दोषों को छोड़ना चाहिए क्योंकि ये सम्यक्त्व को मलिन करने वाले हैं।

निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अंग हैं, इत्यादि रूप से यही सम्यक्त्वचरण है।

नियमसार ग्रंथ में श्री कुंदकुंददेव ने 'नियम' शब्द का अर्थ रत्नत्रय किया है। उसमें सम्यक्त्व का लक्षण करते हुए कहते हैं–

**''अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं[3]।''**

आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है।

1. दर्शनपाहुड़। 2. चारित्रपाहुड़। 3. नियमसार गा.5।

समयसार में सम्यक्त्व का लक्षण बताते हैं–

**भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।**
**आासवसंवर णिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं।।13।।**

भूतार्थनय से जाने हुए जीव-अजीव और पुण्य-पाप तथा आश्रव-संवर, निर्जरा-बंध और मोक्ष ये नव तत्त्व सम्यक्त्व हैं।

मूलाचार ग्रंथ[1] में भी श्री कुंदकुंददेव ने यही गाथा दी है।

रयणसार में श्री कुंदकुंददेव कहते हैं–

**सम्मत्तरयणसारं मोक्खमहारुक्खमूलमिदि भणिदं।**
**तं जाणिज्जइ णिच्छयववहार सरूवदो भेयं।।4।।**
**भयविसणमल विवज्जिय संसारसरीरभोगणिव्विण्णो।**
**अट्ठगुणंगसमग्गो दंसणसुद्धो हु पंचगुरुभत्तो।।5।।**
**णियसुद्धप्पणुरत्तो बहिरप्पावत्थवज्जिओ णाणी।**
**जिणमुणिधम्मं मण्णइ गयदुक्खो होइ सद्दिट्ठी।।6।।**
**मयमूढमणायदणं संकाइवसणभयमईयारं।**
**जेसिं चउदालेदे ण संति ते होंति सद्दिट्ठी।।7।।**
**देवगुरुसमयभत्ता संसारसरीराभोगपरिचत्ता।**
**रयणत्तयसंजुत्ता ते मणुया सिवसुहं पत्ता।।8।।**

**अर्थ–**संसार में सम्यक्त्व रत्नों में श्रेष्ठ है। इसे मोक्षरूपी महावृक्ष का मूल कहा गया है। निश्चय और व्यवहारनय से इसका भेद किया जाता है। सम्यग्दर्शन से शुद्ध व्यक्ति सात भय, सात व्यसन, पच्चीस मलदोष से रहित होता है। संसार, शरीर और भोगों से विरक्त आठ गुणों से परिपूर्ण तथा आठ अंगों से युक्त और पंचपरमेष्ठी का भक्त होता है। जो निज शुद्ध आत्मा में अनुरक्त, बहिरात्म अवस्था से रहित, वीतराग मुनिधर्म को मानता है वह दुःखों से मुक्त सम्यग्दृष्टि होता है। जिनके आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन, शंकादि आठ दोष, सात व्यसन, सात भय, पाँच अतिचार ये चवालीस दूषण नहीं होते हैं वे सम्यग्दृष्टि होते हैं। जो मनुष्य देव, गुरु और शास्त्र के भक्त संसार, शरीर, भोग के परित्यागी, रत्नत्रय से संयुक्त होते हैं वे सुख को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार से श्री कुंदकुंददेव ने भी इन सभी सम्यक्त्व के लक्षणों में सर्वत्र व्यवहारपरक ही लक्षण कहा है। इससे मालूम होता है कि उनकी दृष्टि में भी

1. मूलाचार अ. 5।



व्यवहार सम्यग्दर्शन हेय नहीं था किन्तु उपादेय ही था अन्यथा आध्यात्मिक ग्रंथों में भी इन व्यवहारप्रधान लक्षणों को क्यों रखते ?

हाँ, पाहुड़ ग्रंथ में क्वचित् निश्चय सम्यग्दर्शन का लक्षण भी किया है। पंचास्तिकाय में व्यवहार मोक्षमार्ग में व्यवहार रत्नत्रय का लक्षण करके पुनः निश्चय मोक्षमार्गरूप निश्चय रत्नत्रय को कहा है।

इससे व्यवहार के बाद निश्चय होता है यह क्रम भी परिलक्षित हो जाता है।

श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शन का लक्षण किया है–

**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्[1]।।2।।**

वास्तविक पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

श्री अकलंकदेव कहते हैं–

**तद्द्विविधं सरागवीतरागविकल्पात्।।29।।**

सराग और वीतराग के भेद से वह सम्यक्त्व दो प्रकार का है।

**प्रशमसंवेगानुकंपास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम्।।30।।**

प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य इनके द्वारा जिसकी अभिव्यक्ति होती है वह प्रथम सराग सम्यग्दर्शन है।

**आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्।।31।।**

**सप्तानां कर्मप्रकृतीनां आत्यंतिकेऽपगमे सत्यात्मविशुद्धिमात्रमितरद् वीतरागसम्यक्त्वमित्युच्यते। अत्र पूर्वं साधनं भवति, उत्तरं साधनं साध्यं च।**

आत्मा की विशुद्धिमात्र वीतराग सम्यक्त्व है। अनंतानुबंधी आदि सात प्रकृतियों के अत्यंत क्षय हो जाने से जो आत्मा की विशुद्धि मात्र होती है वह वीतराग सम्यक्त्व है। इनमें से सराग सम्यक्त्व साधन है और वीतराग सम्यक्त्व साधन भी है और साध्य भी है।

श्री उमास्वामी आचार्य श्रावकाचार में कहते हैं–

**देवे देवमतिर्धर्मे धर्मधीर्मलवर्जिता।**
**गुरौ च गुरुताबुद्धिः सम्यक्त्वं तन्निगद्यते।।5।।**

तीर्थंकर परमदेव को देव मानना, दयामय धर्म को धर्म मानना और निर्ग्रंथ गुरु को गुरु मानना अर्थात् सच्चे देव, धर्म और गुरु का ही श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

1. तत्त्वार्थसूत्र। 2. तत्त्वार्थवार्तिक अ.1, सू.2। 3. उमास्वामीश्रावकाचार।

पुनरपि आगे चलकर कहते हैं–

**जीवाजीवादितत्त्वानां श्रद्धानं दर्शनं मतम्।**
**निश्चयात्वे स्वरूपे वावस्थानं मलवर्जितम्।।21।।**

जीव-अजीव आदि तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है अथवा निश्चय से अपने आत्मस्वरूप में स्थिर होना सम्यग्दर्शन है। यह पच्चीस मलदोषों से रहित होता है।

औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व का वर्णन करते हुए पुनः कहते हैं–

**वीतरागः पुनः सम्यक् क्षायिकं भववारणम्।**
**सम्यक्त्वं च द्वयं ज्ञेयं सरागं सुखकारणम्।।32।।**

क्षायिक सम्यक्त्व वीतराग है चूँकि वह संसार का नाश करने वाला है तथा औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दोनों सम्यक्त्व सराग हैं। ये भी मुक्ति सुख के कारण हैं।

भावी तीर्थंकर श्री समंतभद्र स्वामी कहते हैं–

**श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।**
**त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम्[1]।।4।।**

सत्यार्थ आप्त, आगम और गुरु का तीन मूढ़ता से रहित, आठ मद से रहित और आठ अंग से सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में सम्यग्दृष्टि का लक्षण कहते हैं–

**जो तच्चमणेयंतं णियमा सद्दहदि सत्तभंगेहिं।**
**लोयाण पण्हवसदो ववहारपवत्तणट्ठं च।।10।।**
**जो आयरेण मण्णदि जीवाजीवादि णवविहं अत्थं।**
**सुदणाणेण णएहि य सो सद्दिट्ठी हवे सुद्धो।।11।।**

जो लोगों के प्रश्नों के वश से और व्यवहार को चलाने के लिए सप्तभंगी के द्वारा नियम से अनेकांतात्मक तत्त्व का श्रद्धान करता है, जो आदर के साथ जीव-अजीव आदि नौ प्रकार के पदार्थों को श्रुतज्ञान से और नयों से अच्छी तरह जानता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है।।10-11।।

जो पुत्र, स्त्री आदि सर्व पदार्थों में गर्व को नहीं करता है, उपशम भाव को भाता है और अपने को तृण समान समझता है, विषयों में आसक्त होता हुआ

1. रत्नकरंडश्रावकाचार।



भी और सदा सर्व आरम्भों में प्रवृत्त होता हुआ भी जो 'यह मोहकर्म का विलास है' ऐसा समझकर सबको हेय मानता है। उत्तम गुणों के ग्रहण करने में तत्पर रहता है, उत्तम साधुओं की विनय करता है और साधर्मीजनों का अनुरागी है, वह परम सम्यग्दृष्टि है।

श्री अमृतचंद्रसूरि कहते हैं–

**जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यं।**
**श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत्।।22।।**

जीव, अजीव आदि सात तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का विपरीत अभिनिवेश से रहित सदा ही श्रद्धान करना चाहिये, क्योंकि वह आत्मा का स्वरूप है। पुनः आठों अंगों का स्पष्टीकरण किया गया है।

यशस्तिलक चंपू में कहते हैं–

**आप्तागम पदार्थानां श्रद्धानं कारणद्वयात्।**
**मूढाद्यपोढमष्टांगं सम्यक्त्वं प्रशमादिभाक्[2]।।48।।**

अंतरंग और बहिरंग कारणों के मिलने पर आप्त (देव), शास्त्र और पदार्थों का तीन मूढ़ता रहित, आठ अंग सहित जो श्रद्धान होता है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, यह सम्यग्दर्शन प्रशम, संवेग आदि गुण वाला होता है।

वसुनंदि आचार्य कहते हैं–

**अत्तागमतच्चाणं जं सद्दहणं सुणिम्मलं होइ।**
**संकाइदोसरहियं तं सम्मत्तं मुणेयव्वं[3]।।6।।**

आप्त, आगम और तत्त्वों का शंकादि दोष रहित जो अति निर्मल श्रद्धान होता है, उसे सम्यक्त्व जानना चाहिए।

सावयधम्म दोहा नामक श्रावकाचार में सम्यक्त्व का लक्षण कहते हैं–

**अत्तागमतच्चाइयहं जं णिम्मलु सद्धाणु।**
**संकाइयदोसहं रहिउ, तं सम्मत्तु वियाणु[4]।।19।।**

आप्त, आगम और तत्त्वादिकों का जो शंकादि दोषों से रहित निर्मल श्रद्धान है उसे ही सम्यक्त्व जानना चाहिए।

चारित्रसार में श्री चामुंडराय जी लिखते हैं–

**'जिनेन भगवताऽर्हता परेमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रंथलक्षणे मोक्षमार्गे श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं[5]।'**

1. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय। 2. यशस्तिलक चंपू। 3. वसुनंदिश्रावकाचार। 4. सावयधम्मदोहा।
5. चारित्रसार।

जिनेन्द्र भगवान अर्हंत परमेष्ठी के द्वारा उपदिष्ट निर्ग्रंथ लक्षण मोक्षमार्ग में श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

श्रीमान् शुभचंद्राचार्य कहते हैं–

**यज्जीवादिपदार्थानां श्रद्धानं तद्धि दर्शनम्।**
**निसर्गेणाधिगत्या वा तद्भव्यस्यैव जायते[1]।।6।।**

जो जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करता है वही नियम से सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन निसर्ग से अथवा अधिगम से भव्य जीवों के ही उत्पन्न होता है, अभव्य के नहीं होता।

श्री नेमिचंद्राचार्य कहते हैं–

**जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु।**
**दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मिं।।41।।**

जीव आदि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है तथा इस सम्यक्त्व के होने पर ज्ञान (संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीनों) दुरभिनिवेशों से रहित सम्यक् हो जाता है।

यही बात अमितगति आचार्य ने भी कही है–

पहले तो क्षायोपशमिक, क्षायिक और औपशमिक भेदों को कहते हैं, पुनः कहते हैं–

**साध्यसाधनभेदेन, द्विधा सम्यक्त्वमिष्यते।**
**कथ्यते क्षायिकं साध्यं, द्वितीयं साधनं परम्।।58।।**

साध्य और साधन के भेद से सम्यक्त्व दो प्रकार का कहा गया है। क्षायिक सम्यक्त्व साध्यरूप है और शेष दोनों साधनरूप हैं।

आगे कहते हैं–

**वीतरागं सरागं च सम्यक्त्वं कथितं द्विधा।**
**विरागं क्षायिकं तत्र सरागमपरे द्वयम्।।65।।**

ज्ञानियों ने सम्यक्त्व को दो प्रकार का कहा है–वीतराग सम्यक्त्व और सराग सम्यक्त्व। इनमें क्षायिक वीतराग सम्यक्त्व है और शेष दोनों सराग सम्यक्त्व हैं[3]।

इन सभी सम्यग्दर्शन के लक्षणों में व्यवहार प्रधान ही लक्षण दिख रहा है जो कि सच्चे देव, धर्म, गुरु और तत्त्वों के श्रद्धान रूप ही है। वास्तव में यह

1. ज्ञानार्णव पृ. 86। 2. द्रव्य संग्रह। 3. अमितगति श्रावकाचार।



सम्यग्दर्शन जिसके प्रकट हो जाता है वह आत्मतत्त्व को नहीं समझता है ऐसी बात नहीं है क्योंकि सभी सम्यक्त्व में स्वपर भेद विज्ञान होता ही होता है।

आध्यात्मिक भाषा में वीतराग सम्यक्त्व को वीतरागी मुनियों के ही माना गया है उसके पहले छठे गुणस्थान तक सराग सम्यक्त्व माना है फिर भी यहाँ पर उपर्युक्त लक्षणों में श्री अकलंकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्तिक में क्षायिक सम्यक्त्व को वीतराग कहा है। उमास्वामी श्रावकाचार में तथा अमितगति श्रावकाचार में भी औपशमिक, क्षायोपशमिक को सराग सम्यक्त्व एवं क्षायिक को वीतराग सम्यक्त्व कहा है।

इस दृष्टि से भी वर्तमान काल में वीतराग सम्यक्त्व का अभाव है। यद्यपि यह क्षायिक सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थान में हो सकता है फिर भी केवली, श्रुतकेवली के पादमूल के बिना असम्भव होने से आज यह सम्भव नहीं है अतः आज सराग सम्यग्दर्शन ही होता है।

## वीतराग सम्यग्दर्शन

अब अध्यात्मभाषा में वीतराग सम्यक्त्व का लक्षण देखिये–

### निश्चयसम्यक्त्व ही वीतराग सम्यक्त्व है

**''निश्चयनयेन निश्चयचारित्राविनाभावि निश्चयसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं भण्यते[1]।''**

निश्चयनय से निश्चयचारित्र के साथ होने वाला निश्चयसम्यक्त्व ही वीतरागसम्यक्त्व कहलाता है। यह निश्चयचारित्र सातवें गुणस्थान से प्रारंभ होता है उसके पहले नहीं।

### शुद्धात्मा की उपलब्धि ही निश्चय सम्यक्त्व है

**''तस्मिन् परमसमाधिकाले नवपदार्थमध्ये शुद्धनिश्चयनयेनैक एव शुद्धात्मा प्रद्योतते.....शुद्धात्मोपलब्धि सा चैव निश्चयसम्यक्त्वं.....अभेदविवक्षायां शुद्धात्मस्वरूपमिति तात्पर्यं[2]।''**

'उस परमसमाधि के काल में नव तत्त्वों के मध्य शुद्धनिश्चयनय से एक शुद्धात्मा ही प्रद्योतित होता है, प्रकाशित होता है, प्रतीति में आता है व अनुभव में आता है। जो यह अनुभूति-प्रतीति-शुद्धात्मोपलब्धि है वही निश्चय सम्यक्त्व है और वह अनुभूति निश्चयनय से गुण-गुणी में अभेद विवक्षा करने से शुद्धात्मा

1. समयसार गा. 13, तात्पर्यवृत्तिटीका पृ. 29। 2. स.गा.13, तात्पर्यवृ.टी.पृ. 32।

का स्वरूप ही है ऐसा तात्पर्य समझना।' यह निश्चय सम्यक्त्व शुद्धोपयोग में ही होगा।

## वीतराग सम्यग्दृष्टि कब होता है ?

**''निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा.....।।''**[1]

'जो पुनः सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा है वही ज्ञानी जीव है, वह मुख्यवृत्ति से निश्चयरत्नत्रय लक्षण शुद्धोपयोग के बल से निश्चयचारित्र के बिना नहीं होने वाला, ऐसा वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर निर्विकल्प समाधिरूप परिणाम परिणति को करता है। तब उस परिणाम के द्वारा द्रव्यभावरूप संवर, निर्जरा और मोक्ष पदार्थों का कर्त्ता होता है।' यह अवस्था भी शुद्धोपयोग में ही घटित होगी।

## वीतराग सम्यक्त्व में बंध नहीं होता

**''.....ततश्च वीतराग सम्यक्त्वे जाते साक्षाद्बंधको भवति इति मत्वा वयं सम्यग्दृष्टयः सर्वथा बंधो नास्तीति न वक्तव्य**[2]**।''**

सराग-वीतराग की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि दो प्रकार के होते हैं उसमें जो सराग सम्यग्दृष्टि हैं। अर्थात्–

16, 25, 0, 10,4, 6, 1, 36, 5, 16, 1 इस प्रकार से बंधव्युच्छित्ति के प्रकरण से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती 43 प्रकृतियों का अबंधक होता है किन्तु 77 प्रकृतियों को अल्पस्थिति अनुभागरूप से बाँधता हुआ भी संसार स्थिति का छेदक होता है इसलिये वह अबंधक है। इसी प्रकार से अविरत सम्यग्दृष्टि के ऊपर के गुणस्थानों में यथासंभव सरागसम्यक्त्वपर्यंत नीचे-नीचे के गुणस्थानों की अपेक्षा से तरतमता रूप से अबंधक है किन्तु उपरिम गुणस्थानों की अपेक्षा से बंधक है। पुनः वीतरागसम्यक्त्व के हो जाने पर साक्षात् अबंधक होता है, ऐसा समझकर हम सम्यग्दृष्टि हैं हमें सर्वथा बंध नहीं है ऐसा नहीं कहना चाहिए।'' यहाँ पर भी वीतराग सम्यक्त्व को सातवें से ही समझना।

## आत्मा की भावना ही निश्चयभक्ति है, वही निश्चयसम्यक्त्व है

**''भक्तिः पुनः सम्यक्त्वं भण्यते व्यवहारेण सरागसम्यग्दृष्टीनां पंचपरमेष्ठ-चाराधनरूपा निश्चयेन वीतरागसम्यग्दृष्टीनां शुद्धात्मतत्त्वभावनारूपा चेति**[3]**।''**

''भक्ति ही पुनः सम्यक्त्व कहलाती है। व्यवहार से सराग सम्यग्दृष्टियों

1. स.गा.74, तात्पर्य वृ.टी.पृ. 122। 2. स.गा.166, तात्पर्य वृ.टी.पृ. 233। 3. स.गा.173 से 176, तात्पर्य वृ.टी.पृ. 43।



की भक्ति पंचपरमेष्ठी के आराधन रूप है और निश्चय से वीतरागसम्यग्दृष्टियों की भक्ति शुद्धात्मतत्त्व की भावनारूप है।''

इस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुद्धात्मतत्त्व की भावनारूप भक्ति छठे गुणस्थान के ऊपर वाले वीतरागियों के ही होती है।

इसी बात की पुष्टि के लिये और भी प्रमाण मौजूद हैं–

## क्या गृहस्थ को वीतराग सम्यक्त्व हो सकता है ?

**''रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति भणितं भवद्भिः। तर्हि चतुर्थपंचम गुणस्थान-वर्तिनः, तीर्थंकरकुमार-भरत-सगर-राम-पांडवादयः सम्यग्दृष्टयो न भवन्ति ? इति। तन्न, मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनां बंधाभावात् सरागसम्यग्दृष्टयो भवंति। कथं! इति चेत्; चतुर्थगुणस्थानवर्तिनां...सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यं**[1]**।''**

''रागी सम्यग्दृष्टि नहीं होता है ऐसा आपने बहुत बार कहा है, पुनः चतुर्थपंचमगुणस्थानवर्ती तीर्थंकरकुमार, भरतसम्राट, सगरचक्री, रामचंद्र और पांडव आदि सम्यग्दृष्टि नहीं माने जायेंगे ?''

''ऐसी बात नहीं है, मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से तेतालीस प्रकृतियों के बंध का अभाव होने से वे सराग सम्यग्दृष्टि थे।''

'सो कैसे ?''

''चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवों के अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व के उदय से होने वाले पाषाणरेखा आदि के समान रागादि भावों का अभाव हो चुका है। पुनः पंचम गुणस्थानवर्ती जीवों के अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ से होने वाले भूमिरेखा आदि के समान रागादि भावों का अभाव हो चुका है, ऐसा पहले भी कह चुके हैं। इस ग्रंथ में तो पंचम गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानवर्ती वीतराग सम्यग्दृष्टियों का ही मुख्यरूप से ग्रहण है। सरागसम्यग्दृष्टियों का गौणरूप से ग्रहण है। ऐसा ही व्याख्यान सम्यग्दृष्टि के व्याख्यान के काल में सर्वत्र तात्पर्यरूप से समझ लेना चाहिये।''

## शुद्धोपयोग कहाँ से शुरु होता है ?

''सातवें से।'' सो ही देखिये–

**''मिथ्यात्व-सासादन मिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोगः तदनंतरम-संयतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्तसंयतगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोगः,**

1. स.गा.201, 202, तात्पर्य वृ.टी.पृ. 279।

**तदनंतरमप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुणस्थान षट्केतारतम्येन शुद्धोपयोगः, तदनंतरं सयोग्ययोगीजिनगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति[1]।''**

मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानों में तरतमता से अशुभोपयोग है, इसके बाद असंयतसम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तविरत इन तीन गुणस्थानों में तरतमता से शुभोपयोग है, इसके अनंतर अप्रमत्तसंयत से लेकर क्षीणकषाय तक इन छह गुणस्थानों में तरतमता से शुद्धोपयोग है, इसके बाद सयोगकेवली व अयोगकेवली इन दो गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का फल है

''कोई विद्वान् चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग का प्रारंभ मानते हैं ?''

''यदि इसमें 'तारतम्येन' शब्द न होता तब तो मान सकते थे किन्तु ''तारतम्य'' का अर्थ यही है कि 'सातवें से प्रारंभ होकर बारहवें गुणस्थान तक आगे-आगे विशुद्ध होते हुये अंत में शुद्धोपयोग की पराकाष्ठा हो जाती है। अतः चतुर्थगुणस्थान में शुद्धोपयोग का अंश भी संभव नहीं है प्रत्युत् छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के शुभोपयोग की समानता भी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती के नहीं हो सकती है।''

दूसरी बात यह है कि मुनियों के चारित्र में ही दो भेद हैं न कि श्रावकों के चारित्र में। जैसा कि प्रवचनसार में कहा है–

**''चारित्तं खलु धम्मो'' इति वचनात्। तच्च चारित्रमपहृतसंयमोपेक्षासंयमभेदेन सरागवीतरागभेदेन वा शुभोपयोगशुद्धोपयोगभेदेन च द्विधा भवति।।''**

''चारित्र ही निश्चय से धर्म है, ऐसा कथन है। वह चारित्र अपहृत और उपेक्षा संयम के भेद से, सराग और वीतराग के भेद से अथवा शुभोपयोग और शुद्धोपयोग के भेद से दो प्रकार का होता है।

किसी भी ग्रंथ में श्रावकों के विकलचारित्र में सराग-वीतराग अथवा निश्चय-व्यवहार ऐसे दो भेद देखने को नहीं मिलते हैं।

## सरागसम्यग्दृष्टि अशुभ से ही बच सकता है शुभ से नहीं।

**''योऽसौ वस्तुस्वरूपं जानाति स सरागसम्यग्दृष्टिः सन्नशुभकर्मकर्तृत्वं मुंचति। निश्चयचारित्राविनाभावि वीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा शुभाशुभसर्वकर्मकर्तृत्वं च मुंचति[3]।''**

इस तरह जो वस्तुस्वरूप को जानता है वह सरागसम्यग्दृष्टि होता हुआ अशुभकर्म के कर्तृत्व को छोड़ता है। पुनः निश्चयनयचारित्र से अविनाभावी

1. प्रवचनसार गाथा 9, तात्पर्य वृ.टी.पृ. 20। 2. प्रवचनसार गाथा 11, तात्पर्य वृ.टी.पृ. 26।
3. समयसार गाथा 97, तात्पर्य वृ.टी.पृ. 155।



ऐसा वीतरागसम्यग्दृष्टि होकर शुभ-अशुभ सर्वकर्म के कर्तृत्व को छोड़ता है।

## वीतरागता के अभाव में कर्मों का आस्रव होता ही है–

**''निश्चयेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानस्याभाव एव अज्ञानं भण्यते। तस्माद-ज्ञानादेव कर्म प्रभवतीति[1]।''**

'निश्चय से वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान का अभाव ही अज्ञान है। उस अज्ञान से ही कर्म आते हैं।' इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रेणी में बुद्धिपूर्वक राग का अभाव हो जाने से बहुत ही अल्प स्थिति-अनुभाग वाले कर्म आते हैं। आगे पूर्ण वीतरागता में कर्मों का आना पूर्णतया रुक जाता है।

## आत्मा की उपलब्धि भी वीतरागी को ही होती है–

**''रागादिभ्यो भिन्नः शुद्धजीवोऽस्तीति पक्षः परमसमाधिस्थपुरुषैः शरीरराग-रागादिभ्यो भिन्नस्य चिदानंदैकस्वभाव-शुद्धजीवस्योपलब्धेरिति हेतुः[2]।''**

'रागादि से भिन्न शुद्ध जीव है' यह पक्ष हुआ, 'क्योंकि परमसमाधि में स्थित महर्षियों को शरीर और रागादि से भिन्न चिदानंदैक स्वभाव शुद्ध जीव की उपलब्धि होती है' यह हेतु हुआ।

## ज्ञानी का लक्षण

**''इति यो जानाति मिथ्यात्वविषयकषायपरित्यागं कृत्वा निर्विकल्प समाधौस्थितः सन् स ज्ञानी भवति। न च परिज्ञानमात्रेण[3]।।**

इस प्रकार से जो जानता है कैसे ? मिथ्यात्व, विषय और कषायों का त्याग करके वही ज्ञानी होता है न कि जानने मात्र से।

इस प्रकार से वीतराग सम्यग्दृष्टि, शुद्धोपयोगी और ज्ञानी संज्ञायें सातवें से ही शुरू होती हैं। रयणसार में इसी बात को श्री कुंदकुंददेव कहते हैं–

**णाणी खवेइ कम्मं णाणबलेणेदि सुबोलए अण्णाणी।**
**विज्जो भेषज्जमहं जाणे इदि णस्सदे वाहि।।72।।**

ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान के बल से कर्मों का क्षय करता है ऐसा कथन करने वाला अज्ञानी है। कारण मैं वैद्य हूँ, मैं औषधि को जानता हूँ। क्या उस औषधि को सेवन न कर उसके ज्ञान मात्र से रोग दूर हो जायेगा ? नहीं।

अभिप्राय यही है कि चारित्र को धारण करना ही औषधि सेवन करना है।

1. समय.गा. 98, पृ.147। 2. समयसार गा. 44, ता.पृ.81। 3. समयसार गा.108, ता.161।

वह चारित्र ही संसार रोग को नष्ट करने वाला है। अतः रत्नत्रयधारी ही सच्चे ज्ञानी होते हैं।

## कौन सा कार्य कर्मों को क्षणमात्र में निर्जीण करता है ?

**जं अण्णाणी कम्मं, खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।**
**तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ उस्सासमेत्तेण[1]।।238।।**

अज्ञानी कोटिसहस्र भवों में जितने कर्मों की निर्जरा करता है, ज्ञानी तीन गुप्ति से गुप्त होकर एक श्वांस मात्र में उतने कर्मों की निर्जरा कर देता है। यहाँ पर 'तीन गुप्ति' सहित होना ही महत्त्व रखता है। जब आज के मुनियों में ये तीन गुप्तियाँ असंभव हैं तब श्रावक व असंयमी में तीन गुप्ति का होना व उतनी निर्जरा का होना तो सर्वथा आकाशपुष्प के समान है।

इस कथन से यही निष्कर्ष निकलता है कि वीतरागता त्रिगुप्ति से गुप्त महामुनियों के ही होती है उसके पहले छठे गुणस्थानवर्ती मुनि सरागचारित्र वाले होने से सरागी ही हैं। जैसा कि प्रवचनसार में कहा है–

अर्हंत आदि के प्रति भक्ति और प्रवचनरत जीवों के प्रति वत्सलभाव करना सो यह शुभयुक्त चर्या है। यह अवस्था मुनि में पाई जाती है। वंदना, नमस्कार आदि करना, गुरुओं के आने पर उठकर खड़े होना, जाते समय उनके पीछे-पीछे जाना, उनके श्रम को दूर करना आदि जो मुनियों की क्रियायें हैं वे सराग अवस्था में वर्जित नहीं हैं[2]।''

निष्कर्ष यह है कि आजकल चतुर्थ गुणस्थान से लेकर छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों तक सराग सम्यग्दर्शन ही है। उसी का नाम व्यवहार सम्यग्दर्शन है। सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनि के शुद्धोपयोग की अवस्था में वीतराग सम्यक्त्व होता है उसी का नाम निश्चय सम्यक्त्व है। व्यवहार सम्यक्त्व में देव, शास्त्र, गुरु और तत्त्वादि का श्रद्धान तो होता ही है, साथ ही आत्मा के स्वरूप का भी श्रद्धान होता है किन्तु निश्चय सम्यक्त्व में शुद्धात्मा के स्वरूप की प्रतीति अर्थात् अनुभूति होती है जैसा कि इस वीतराग सम्यक्त्व के लक्षण में सर्वत्र ही स्पष्ट रूप से दिखाया गया है। अकलंकदेव ने क्षायिक सम्यक्त्व का लक्षण भी 'आत्मा की विशुद्धि मात्र ही कहा है और उसे वीतराग संज्ञा दी है।' सो यह सिद्धांत का कथन भी मान्य ही है, किन्तु आज तो वह भी उपलब्ध नहीं है।

1. प्रवचनसार। 2. प्रवचनसार गाथा 246-247।



## सम्यग्दृष्टि जीव कहाँ-कहाँ जन्म लेते हैं ?

**प्रश्न**–सम्यग्दृष्टि जीव मरण कर कहाँ-कहाँ जाते हैं ?

**उत्तर**–सम्यग्दृष्टि नारकी मरणकर गर्भज मनुष्य ही होते हैं। सम्यग्दृष्टि तिर्यंच आयु पूरी करके देवगति को ही प्राप्त करते हैं। देव और देवियाँ सम्यक्त्व सहित मरण करके मनुष्य ही होते हैं। भोगभूमिज और कर्मभूमिज मनुष्य भी सम्यक्त्व सहित मरण करके सौधर्म स्वर्ग आदि में ही जाते हैं अथवा कोई क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव उसी भव से मोक्ष भी प्राप्त कर लेते हैं।

**प्रश्न**–बद्धायुष्क मनुष्य यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है तो वह चारों गतियों में जा सकता है सो कैसे ?

**उत्तर**–यदि किसी जीव ने नरक, तिर्यंच या मनुष्य की आयु बांध ली है पुनः उसे क्षयोपशम सम्यग्दर्शन हुआ है तो मरते समय वह सम्यग्दर्शन छूट जायेगा। उपशम सम्यक्त्व में तो मरण होता नहीं है कदाचित् द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि श्रेणी में मरण करे तो वह देवगति में ही जायेगा। हाँ, यदि क्षायिक सम्यग्दृष्टि है अथवा क्षायिकसम्यक्त्व पूर्ण होने में कुछ कार्य शेष रहा है उस समय वह कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि कहलाता है। वह भी मरणकर चारों गतियों में भी जा सकता है। इस तरह क्षायिक सम्यग्दृष्टि और कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि यदि नरक में जाते हैं तो वे प्रथम नरक में ही जायेंगे। यदि तिर्यंच या मनुष्य की आयु बांध चुके थे तो वे भोगभूमि के तिर्यंच या मनुष्य होंगे।

वर्तमान में क्षायिक सम्यक्त्व के न होने से कोई भी सम्यग्दृष्टि मनुष्य या तिर्यंच, स्त्री हों या पुरुष, वे मरणकर देवगति ही प्राप्त करेंगे, यह नियम है।

**प्रश्न**–सम्यग्दृष्टि जीव कहाँ-कहाँ नहीं जाते हैं ?

**उत्तर**–एकेन्द्रिय स्थावरों में, विकलत्रय में, असंज्ञी, अपर्याप्तक और सम्मूर्च्छन जीवों में, अल्पायु में, दरिद्र और नीचकुलों में, नरकगति और तिर्यंचगति में, भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषीदेवों में, स्त्रीवेद और नपुंसक वेद में, सर्वदेवियों में सम्यग्दृष्टि जीव जन्म नहीं लेते हैं।

निष्कर्ष यह निकला कि कोई भी सम्यग्दृष्टि मनुष्य यहाँ से मरण कर विदेहक्षेत्र का मनुष्य नहीं हो सकता है वह सौधर्म आदि स्वर्गों में देव ही होवेगा॥

(इस प्रकार सम्यग्दर्शन के भेदों को कहने वाला यह तृतीय परिच्छेद पूर्ण हुआ।)

## तथ्य क्या है ?

1. तत्त्वश्रद्धान अथवा देव, धर्म, गुरु आदि के श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन में अंतरंग में दर्शनमोह का उपशम, क्षयोपशम या क्षय विवक्षित है। इनके बिना जो तत्त्वश्रद्धान दिखता है वह श्रद्धान न होकर श्रद्धानाभास ही माना जायेगा।
2. आजकल इस पंचमकाल में उपशम और क्षयोपशम ये दो ही सम्यक्त्व होते हैं क्षायिक नहीं। निसर्गज व अधिगमज दोनों होते हैं तथा आज्ञासम्यक्त्व, मार्गसम्यक्त्व, उपदेश-सम्यक्त्व, सूत्रसम्यक्त्व, बीजसम्यक्त्व और संक्षेप सम्यक्त्व हो सकते हैं आगे के नहीं।
3. हम और आप क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि हैं, उपशम नहीं चूँकि उसका काल अंतर्मुहूर्त मात्र है। निसर्गज-अधिगमज में से कोई भी हो सकता है तथा आज्ञासम्यक्त्व आदि में से कोई भी हो सकता है।
4. आजकल के श्रावक या मुनियों के सराग अथवा व्यवहार सम्यक्त्व ही है। उसमें भी उन्हें निजशुद्धात्मतत्त्व का श्रद्धान होता है अनुभव नहीं।
5. मुनियों के सप्तमगुणस्थान में वीतराग सम्यक्त्व हो सकता है।
6. स्त्रियों के वीतराग सम्यक्त्व नहीं होता है क्योंकि उनके पंचमगुणस्थान के आगे के गुणस्थान नहीं होते हैं।
7. स्त्रियों के क्षायिक सम्यक्त्व भी नहीं होता है।



**(4)**

# व्यवहारनय-निश्चयनय

**व्यवहारेण मोक्षस्य, मार्गमाश्रित्य निश्चयात्।**
**मार्ग आश्रियते भव्यैः, क्रम एष सनातनः।।1।।**

भव्यजन व्यवहार से मोक्षमार्ग का आश्रय लेकर निश्चय से मार्ग का आश्रय लेते हैं अर्थात् व्यवहार मोक्षमार्ग का आश्रय लेकर ही निश्चय मोक्षमार्ग प्राप्त होता है यही क्रम सनातन है–अनादिनिधन है।

(प्रत्येक वस्तु अनंतधर्मात्मक है। उनमें से एक-एक धर्म को कहने वाले नय होते हैं। वर्तमान में निश्चय और व्यवहार नयों का विषय एक चर्चा का विषय बना हुआ है। ये नय वस्तु के स्वरूप का ज्ञान कराने में साधन होते हैं। इनका निर्दोष लक्षण क्या है ? इन दोनों में कौन सा नय सत्य है और कौन सा असत्य ? अथवा दोनों ही सत्य हैं क्या ? इत्यादि विषयों पर प्रकाश डाला जा रहा है।)

पहले तो 'व्यवहार' शब्द के अनेक अर्थ हैं उन्हें समझ लेना आवश्यक है–

भेद, पर्याय, औपाधिक, उपचार आदि अर्थों में व्यवहार शब्द का प्रयोग देखा जाता है।

**भेद**–जैसे जीव के दर्शन, ज्ञान, चारित्र व्यवहार से हैं। यहाँ भेद से हैं ऐसा अभिप्राय है।

**पर्याय**–जीव अनित्य है। यह पर्याय की अपेक्षा से प्रवृत्त हुआ व्यवहार है।

**औपाधिक**–जीव अशुद्ध है, संसारी है। यह कर्मोपाधि को ग्रहण करने वाला व्यवहार है।

**उपचार**–देवदत्त का घर, घी का घड़ा इत्यादि, इन कथनों में प्रयुक्त हुये व्यवहार के अनेक भेद हैं।

ऐसे ही और बहुत से अर्थों में व्यवहार शब्द का प्रयोग देखा जाता है सो आगम के आधार से यथास्थान दिखलाया जायेगा।

अभेद, निरुपाधि, द्रव्य, शक्ति और शुद्ध भाव इत्यादि में निश्चय शब्द का प्रयोग देखा जाता है।

**अभेद**–जीव के न दर्शन है, न ज्ञान है, न चारित्र है किन्तु जीव ज्ञायक भाव मात्र है। इसमें अभेद का प्रतिपादक निश्चयनय है।

**निरुपाधि**–जीव सिद्ध सदृश शुद्ध है। यह कर्मोपाधिरहित निश्चय है।

**द्रव्य**–जीव नित्य है। यह द्रव्यमात्र की विवक्षा से प्रवृत्त हुआ है।

**शक्ति**–संसारी जीव को भगवान आत्मा या परमात्मा कहना यह शक्ति की अपेक्षा से है जैसे कि दूध को घी व स्वर्णपाषाण को सुवर्ण कहना।

**शुद्धभाव**–जीव टंकोत्कीर्ण ज्ञान मात्र है। दर्शन-ज्ञान स्वरूप है इत्यादि।

तत्त्व विचार के समय तथा ध्यान में निश्चयनय का विषय आश्रयणीय है अर्थात् चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थान तक निश्चयनय से तत्त्व का विचार किया जाता है। आगे ध्यान से उसका विषय अवलंबनीय हो जाता है।

व्यवहारनय भी तीर्थ प्रवृत्ति निमित्त प्रवृत्त होता है। इसके द्वारा भी वस्तु के औपाधिक भाव आदि का निर्णय करने रूप छठे तक चलता है तथा इसके द्वारा कथित विषय का आश्रय भी छठे तक व कथंचित् सातवें तक भी रहता है। आगे ये नय स्वयं छूट जाते हैं और नयातीत परिणति होकर निर्विकल्प ध्यान होता है।

आगम की भाषा में इन नयों का वर्णन देखिये–

## नय का लक्षण

प्रमाण के द्वारा सम्यक् प्रकार से ग्रहण की गई वस्तु के एक अंश अर्थात् धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञान नय कहलाता है अथवा श्रुतज्ञान के विकल्प को नय कहते हैं। ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। अथवा जो नाना स्वभावों से हटाकर किसी एक स्वभाव में वस्तु को ले जाता है वह नय है।[1]

## नय के मूल भेद

**णिच्छयववहारणया मूलमभेया णयाण सव्वाणं।**
**णिच्छयसाहणहेऊ दव्वयपज्जत्थिया मुणह[2]।।4।।**

सम्पूर्ण नयों के निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो मूल भेद हैं। निश्चय का हेतु द्रव्यार्थिक नय है और साधन अर्थात् व्यवहार का हेतु पर्यायार्थिकनय है।

इसी की टिप्पणी में निश्चयनयाः = द्रव्यस्थिताः। व्यवहारनयाः = पर्यायस्थिताः ऐसा कहा है अर्थात् निश्चयनय द्रव्य में स्थित है और व्यवहारनय पर्याय में स्थित है। इसी बात को श्री अमृतचंद्रसूरि भी कहते हैं–

**व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वात्...। निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्...।**

1. आलापपद्धति सूत्र 181, पृ.28। 2. आलाप प., पृ.10।



यहाँ पर व्यवहारनय पर्याय के आश्रित होने से पुद्गल के संयोगवश अनादिकाल से जिसकी बंधपर्याय प्रसिद्ध है ऐसे जीव के औपाधिक भाव का अवलंबन लेकर प्रवृत्त होता है। इसलिये वह दूसरे के भावों को दूसरे का कहता है किन्तु निश्चयनय द्रव्य के आश्रित होने से केवल एक जीव के स्वाभाविक भाव का अवलम्बन लेकर प्रवृत्त होता है अतः वह परभावों को पर के कहता है और उन सबका निषेध करता है।"[1]

अन्यत्र भी यही सूचना है–यथा–

**द्वौ हि नयौ भगवता प्रणीतौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। तत्र न खल्वेकनयायत्ता देशना किन्तु तदुभयायत्ता[2]।**

भगवान ने दो नय कहे हैं–द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इनमें से भगवान का उपदेश एक नय के आश्रित नहीं है किन्तु उभयनय के ही आश्रित है।

धवला में भी कहते हैं–

'तीर्थंकरों के वचनों के सामान्य प्रस्तार का मूल व्याख्यान करने वाला द्रव्यार्थिकनय है और उन्हीं के वचनों के विशेष प्रस्तार का मूल व्याख्याता पर्यायार्थिकनय है। शेष सभी नय इन दोनों नयों के विकल्प अर्थात् भेद हैं।[3]"

इसलिए निश्चय-व्यवहारनयों को अच्छी तरह समझने के लिये सर्वप्रथम द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय को समझ लेना भी आवश्यक हो जाता है। आलाप पद्धति में श्री देवसेन आचार्य ने नयों और उपनयों का वर्णन बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। न अति संक्षेप और न अति विस्तार से, वह विवेचन अवश्य ही हृदयंगम करने योग्य है। उसमें द्रव्यार्थिकनय के 10, पर्यायार्थिकनय के 6, नैगमनय के 3, संग्रहनय के 2, व्यवहारनय के 2, ऋजुसूत्रनय के 2, शब्दनय का 1, समभिरुढ़नय का 1 और एवंभूतनय का 1, ऐसे सब 28 भेद हो जाते हैं[4]। यहाँ पर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों का लक्षण व उनके भेदों को देखिये–

## द्रव्यार्थिकनय

**द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः।**

द्रव्य ही है अर्थ–प्रयोजन–विषय जिसका वह द्रव्यार्थिकनय है। इसके 10 भेद हैं–

1. समयसार गाथा 56, अमृतचंद्रसूरिकृत टीका। 2. पंचास्तिकाय गा. 4, अमृतचंद्र टीका पृ.23।
3. धवला पु.1, पृ.12। 4. शेष नयों को नयचक्र या आलाप पद्धति से देखना चाहिए।

1. कर्मोपाधि से निरपेक्ष शुद्ध द्रव्य को विषय करने वाला 'शुद्ध द्रव्यार्थिक नय' है जैसे–संसारी जीव सिद्ध सदृश शुद्धात्मा है।
2. उत्पाद-व्यय को गौण करके सत्तामात्र को ग्रहण करने वाला 'शुद्ध द्रव्यार्थिक नय' है जैसे–द्रव्य नित्य है।
3. भेदकल्पना से निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय है जैसे–निजगुण, निजपर्याय और निजस्वभाव से द्रव्य अभिन्न है।
4. कर्मोपाधि की अपेक्षा से वस्तु को ग्रहण करने वाला अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है जैसे–कर्मजनित क्रोधादिभावरूप आत्मा है।
5. उत्पाद-व्यय से सापेक्ष को ग्रहण करने वाला अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय होता है। जैसे–एक ही समय में द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप है।
6. भेद कल्पना से सापेक्ष द्रव्य को विषय करने वाला अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है। जैसे–आत्मा के ज्ञान-दर्शन आदि गुण हैं।
7. अन्वय सापेक्ष द्रव्य को ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिकनय है। जैसे–गुणपर्याय स्वभाव द्रव्य है।
8. स्वद्रव्य आदि के ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिकनय है जैसे–स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव, इन स्वचतुष्टय की अपेक्षा से द्रव्य अस्तिरूप है।
9. परद्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिकनय है जैसे–परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से द्रव्य नास्तिरूप है।
10. परमभाव को ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिकनय है, जैसे–ज्ञानस्वरूप आत्मा है।

## पर्यायार्थिक नय

**पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः।**

पर्याय ही है अर्थ–प्रयोजन–विषय जिसका, वह पर्यायार्थिकनय है। इसके 6 भेद हैं–

1. अनादि-नित्य पर्याय को ग्रहण करने वाला पर्यायार्थिकनय है, जैसे–मेरु आदि रूप पुद्गल की पर्यायें नित्य हैं।
2. सादि-नित्य पर्याय को विषय करने वाला पर्यायार्थिकनय है, जैसे–सिद्ध पर्याय नित्य है।
3. ध्रौव्य को गौण करके उत्पाद-द्रव्य को ग्रहण करने के स्वभाव वाला



अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय है, जैसे–समय-समय में पर्यायें विनाशशील हैं।

4. सत्ता को सापेक्ष करने रूप स्वभाव वाला नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय है, जैसे–एक ही समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप पर्यायें होती हैं।
5. कर्मोपाधि निरपेक्ष स्वभाव वाला नित्य शुद्ध पर्यायार्थिकनय है, जैसे–संसारी जीवों की पर्यायें सिद्ध पर्याय सदृश शुद्ध हैं।
6. कर्मोपाधि सापेक्ष स्वभाव वाला अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय है, जैसे–संसारी जीवों के जन्म और मरण होता है।

आगे चलकर द्रव्यार्थिकनय के भेदों का व्युत्पत्ति अर्थ कहकर उसके मूल दो भेद किये हैं।

## शुद्ध-अशुद्ध निश्चयनय

**शुद्धाशुद्धनिश्चयौ द्रव्यार्थिकस्य भेदौ।।203।।**

शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय ये दोनों द्रव्यार्थिकनय के भेद हैं।

**निश्चयनय का लक्षण–**जिसके द्वारा अभेद और अनुपचरितरूप से वस्तु का निश्चय किया जाता है वह निश्चयनय है। इस निश्चयनय का हेतु[1] द्रव्यार्थिकनय है।

**व्यवहारनय का लक्षण–**जिसके द्वारा भेद और उपचार से वस्तु का व्यवहार किया जाता है वह व्यवहारनय है। वह व्यवहारनय का हेतु[2] पर्यायार्थिकनय है।

इन नयों का प्रयोग श्री कुंदकुंददेव की गाथाओं में तथा सर्वत्र ग्रंथों में यथासंभव घटित करना चाहिए।

नियमसार में श्री कुंदकुंददेव ने जीव के ज्ञान-दर्शन गुणों का वर्णन करते हुए उन्हें स्वभाव और विभाव ऐसे दो रूप से कहा है। उसी प्रकार से जीव की पर्यायों के भी स्वभाव-विभाव ऐसे दो भेद किये हैं। अंत में जीवद्रव्य के उपसंहार की गाथा ऐसी है–

**दव्वत्थिएण जीवा वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जाया।**
**पज्जणयेण जीवा संजुत्ता होंति दुविहे हिं।।18।।**

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सभी जीव पूर्वकथित पर्यायों से (स्वभाव-

1. 'णिच्छयववहारणया' इत्यादि गाथा में सूचित किया गया है। 2. उसी गाथा में सूचित किया गया है।

विभाव गुण पर्यायों से) रहित हैं एवं पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा सभी जीव स्वभाव-विभाव इन दोनों प्रकार की पर्यायों से सहित हैं।

यहाँ पर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयों का सामान्य कथन है, अतः शुद्ध द्रव्यार्थिक और अशुद्ध द्रव्यार्थिक दोनों आ जाते हैं। संसारी जीव अशुद्ध पर्यायों से एवं मुक्त जीव शुद्ध पर्यायों से रहित हैं ऐसा अर्थ स्पष्ट हो जाता है। चूँकि यह द्रव्यार्थिकनय मात्र द्रव्य को ही ग्रहण करता है पर्यायों को नहीं तथा पर्यायार्थिक नय से भी शुद्ध-अशुद्ध दोनों प्रकार की पर्यायों को समझना चाहिए।

ये दोनों नय अपने-अपने विषय को स्वतंत्ररूप से ग्रहण करते हुए भी परस्पर सापेक्ष रहते हैं तभी सम्यक् हैं अन्यथा निरपेक्ष होते ही मिथ्या हो जाते हैं।

उसी प्रकार से जहाँ कहीं भी गाथाओं में 'निश्चयनय' कहा गया है वहाँ पर यथायोग्य शुद्ध या अशुद्ध को घटित करना चाहिए। जैसे–

**कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारो।**
**कम्मजभावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो[1]।।18।।**

यह आत्मा पुद्गल कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है यह व्यवहारनय का कथन है तथा कर्मजनित भावों का कर्त्ता और भोक्ता है यह निश्चयनय का कथन है। अब यहाँ कर्मजनित औपाधिक भावों का कर्त्ता-भोक्ता मानने में अशुद्ध निश्चयनय को ग्रहण करना चाहिए।

उसी प्रकार से–

**ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।**
**णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो [2]।।7।।**

ज्ञानी के चारित्र, दर्शन और ज्ञान ये व्यवहार से कहे जाते हैं किन्तु (निश्चय से) उस ज्ञानी के न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन है वह तो मात्र ज्ञायक शुद्ध है।

यहाँ पर जो व्यवहारनय है वह मात्र भेद के द्वारा वस्तु का निश्चय कराता है न कि उपचार के द्वारा क्योंकि ज्ञानी आत्मा के ये ज्ञान, दर्शन और चारित्र व्यवहार से कहे गये हैं, इसका अर्थ–भेद से कहे गये हैं न कि उपचार अथवा कर्मोपाधि से। उसी प्रकार से आत्मा के न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन है वह तो मात्र ज्ञायक शुद्ध है। यह कथन 'भेदकल्पनानिरपेक्ष' द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से है।

1. नियमसार। 2. समयसार।



उसी प्रकार से–

**णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।**
**एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव[1]।।6।।**

जो ज्ञायक भाव है वह अप्रमत्त भी नहीं है और न प्रमत्त ही है इस तरह उसे शुद्ध कहते हैं और जिसे ज्ञायक भाव के द्वारा लिया गया है वह वही है, अन्य कोई नहीं है। यहाँ पर 'परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक' नय के द्वारा आत्मा को कहा गया है।

इसी तरह सभी के उदाहरण समझ लेना।

द्रव्यार्थिक नय के दश भेदों में 'कर्मोपाधिनिरपेक्ष', 'सत्तामात्रग्राहक' और 'भेदकल्पनानिरपेक्ष' ये तीन नय शुद्ध द्रव्यार्थिक हैं। 'कर्मोपाधिसापेक्ष', 'उत्पादव्ययसापेक्ष' और 'भेदकल्पनासापेक्ष' ये तीन अशुद्ध द्रव्यार्थिक हैं। 'अन्वयसापेक्ष' 'स्वद्रव्यादिग्राहक' और 'परद्रव्यादिग्राहक' ये तीन सामान्य हैं एवं 'परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक' यह मात्र वस्तु के शुद्ध स्वभाव को ही कहता है।

इसी प्रकार पर्यायार्थिक के 6 भेदों में भी शुद्ध-अशुद्ध व्यवस्था समझ लेना चाहिए।

## नैगमनय

नैगमनय के भूत, भावी और वर्तमान काल की अपेक्षा तीन भेद हैं।

1. जहाँ पर अतीतकाल में वर्तमान का आरोपण किया जाता है वह भूत नैगमनय है। जैसे–आज दीपावली के दिन वर्धमान स्वामी मोक्ष गये हैं।
2. भविष्यत् पर्याय में भूतकाल के समान कथन करना भावी नैगमनय है। जैसे–अर्हंत सिद्ध ही हैं।
3. करने के लिए प्रारंभ की गई ऐसी ईषत् निष्पन्न–थोड़ी बनी हुई अथवा अनिष्पन्न–बिल्कुल नहीं बनी हुई वस्तु को निष्पन्नवत् कहना वर्तमान नैगमनय है। जैसे–भात पकाया जाता है।

## संग्रहनय

संग्रहनय के दो भेद हैं–सामान्य संग्रह और विशेष संग्रह।

1. सभी को सामान्यरूप से ग्रहण कर लेना सामान्य संग्रह है। जैसे–सर्व द्रव्य परस्पर अविरोधी हैं–अर्थात् एक हैं। इसी नय के एकांत से ब्रह्माद्वैत आदि अद्वैतवाद हो गये हैं।

1. समयसार।

2. एक जातिविशेष से सबको ग्रहण करना विशेष संग्रह है। जैसे–सभी जीव परस्पर अविरोधी हैं–अर्थात् एक हैं।

### व्यवहारनय

व्यवहारनय के भी दो भेद हैं–सामान्य और विशेष।

1. सामान्यसंग्रहनय के विषयभूत पदार्थ में भेद करने वाला सामान्य संग्रह भेदक व्यवहारनय है। जैसे–द्रव्य के दो भेद हैं–जीव और अजीव।
2. विशेष संग्रह के द्वारा ग्रहण किये गये विषय में भेद करने वाला विशेष संग्रह भेदक व्यवहारनय है। जैसे–जीव के संसारी और मुक्त दो भेद हैं।

### ऋजुसूत्रनय

ऋजुसूत्रनय के भी दो भेद हैं–सूक्ष्मऋजुसूत्र और स्थूलऋजुसूत्र।

1. एक समयवर्ती पर्याय को ग्रहण करने वाला सूक्ष्मऋजुसूत्रनय है। जैसे–शब्द क्षणिक हैं।
2. अनेक समयवर्ती पर्यायों को ग्रहण करने वाला स्थूलऋजुसूत्रनय है। जैसे–मनुष्यादि पर्यायें अपनी-अपनी आयु प्रमाण काल तक रहती हैं।

### शब्दनय

लिंग, संख्या आदि के व्यभिचार को छोड़कर शब्द के अनुसार अर्थ को ग्रहण करना शब्दनय है। जैसे–दारा, भार्या, कलत्र अथवा जल व अप एकार्थवाची हैं। यह नय एक ही है।

### समभिरूढ़नय

नाना अर्थों को छोड़कर जो प्रधानता से एक अर्थ में रूढ़ होता है वह समभिरूढ़नय है। जैसे–'गो' शब्द के वाणी शब्द आदि अनेक अर्थ होते हुए भी वह 'पशु' अर्थ में रूढ़–प्रसिद्ध है।

### एवंभूतनय

जिस नय में वर्तमान क्रिया ही प्रधान होती है वह एवंभूतनय है जैसे–इंदन क्रिया में तत्पर देवराज को 'इंद्र' कहना।

इस प्रकार द्रव्यार्थिक से लेकर एवंभूत तक नयों के 28 भेद होते हैं। अब उपनयों को देखिये।



## उपनय

जो नयों से समीप रहें वे उपनय हैं। इसके तीन भेद हैं–सद्भूतव्यवहार, असद्भूतव्यवहार और उपचरित असद्भूत व्यवहार।

### सद्भूतव्यवहार उपनय

जो नय संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन आदि के भेद से गुण और गुणी के भेद करता है वह सद्भूत व्यवहार उपनय है। इसके दो भेद हैं–शुद्ध सद्भूतव्यवहार और अशुद्ध सद्भूत व्यवहार।

1. जो नय शुद्धगुण और शुद्धगुणी में तथा शुद्धपर्याय और शुद्ध पर्यायी में भेद करता है वह शुद्धसद्भूत व्यवहार उपनय है। जैसे–जीव का केवलज्ञान गुण है, जीव गुणी है तथा जीव की सिद्ध पर्याय है।
2. जो नय अशुद्धगुण अशुद्धगुणी में और अशुद्धपर्याय-अशुद्धपर्यायी में भेद करता है वह अशुद्ध सद्भूतव्यवहार उपनय है।

### असद्भूतव्यवहार उपनय

अन्य में प्रसिद्ध धर्म (स्वभाव) का अन्य में समारोपण करना असद्भूत-व्यवहारोपनय है। इनके तीन भेद हैं–स्वजात्यसद्भूतव्यवहार, विजात्यसद्भूत-व्यवहार और स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहार।

1. जो नय स्वजातीय द्रव्यादिक में स्वजातीय द्रव्यादि के संबंध से होने वाले धर्म का आरोपण करता है वह स्वजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय है। जैसे–'परमाणु बहुप्रदेशी है' ऐसा कहना।
2. जो नय विजातीय द्रव्यादि में विजातीय द्रव्यादि का आरोपण करता है वह विजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय है। जैसे–मतिज्ञान मूर्त है, क्योंकि वह मूर्तद्रव्य से उत्पन्न हुआ है।
3. जो नय स्वजातीय द्रव्यादि में विजातीय द्रव्यादि के संबंध का आरोपण करता है वह स्वजाति विजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय है। जैसे–ज्ञेयभूत जीव और अजीव में ज्ञान है, क्योंकि वे ज्ञान के विषय हैं।

### उपचरितअसद्भूतव्यवहार उपनय

असद्भूतव्यवहार ही उपचार है, जो नय उपचार से भी उपचार करता है वह उपचरितासद्भूतव्यवहार उपनय है। इसके भी तीन भेद हैं–स्वजात्युपचरित

असद्भूतव्यवहार, विजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार और स्वजातिविजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार।

1. जो उपचार से स्वजातीय द्रव्य का स्वजातीय द्रव्य को स्वामी बतलाता है वह स्वजात्युपचरितासद्भूत व्यवहार उपनय है। जैसे– पुत्र, स्त्री आदि मेरे हैं।
2. जो विजातीय द्रव्य का विजातीय द्रव्य को स्वामी कह देता है वह विजात्युपचरितासद्भूतव्यवहार उपनय है। जैसे– वस्त्र, आभूषण, स्वर्ण, रत्न आदि मेरे हैं।
3. जिसमें मिश्रद्रव्य का स्वामी कह दिया जाता है वह स्वजाति-विजात्युपचरित-असद्भूतव्यवहार उपनय है। जैसे– देश, राज्य, दुर्ग आदि मेरे हैं।

ये सभी नय और उपनय सैद्धांतिक भाषा में कहे गये हैं। आगे इसी आलाप पद्धति में अध्यात्म भाषा से नयों का कथन किया गया है।

**तावन्मूलौ द्वौ नयौ निश्चयो व्यवहारश्च।।215।।**

अध्यात्म भाषा में भी नयों के मूल में दो भेद हैं– निश्चयनय और व्यवहारनय।

## निश्चयनय

**तत्र निश्चयनयोऽभेदविषयो, व्यवहारो भेदविषयः।।216।।**

उसमें निश्चयनय अभेद को विषय करता है और व्यवहारनय भेद को विषय करता है।

**तत्र निश्चयो द्विविधाः शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च।।217।।**

उनमें से निश्चयनय दो प्रकार का है– शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय। तात्पर्य यही है कि शुद्ध निश्चयनय का विषय शुद्ध द्रव्य है और अशुद्ध निश्चयनय का विषय अशुद्ध द्रव्य है। उसी को देवसेनाचार्य स्वयं कहते हैं–

'जो नय कर्मोपाधि से रहित गुण (ज्ञान) और गुणी (जीव) को अभेदरूप से ग्रहण करता है वह शुद्ध निश्चयनय है। जैसे– केवलज्ञान आदि स्वरूप जीव है।'

इस शुद्ध नय से जीव के बंध-मोक्ष आदि की व्यवस्था नहीं है।

'कर्मोपाधि सहित द्रव्य को विषय करने वाला अशुद्ध निश्चयनय है। जैसे– मतिज्ञान आदि स्वरूप जीव है।

इसी नय से जीव को रागादि भाव कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता भी कहा जाता है।



# व्यवहारनय

**व्यवहारो द्विविधः सद्भूतव्यवहारोऽसद्भूतव्यवहारश्च।।220।।**

व्यवहारनय के भी दो भेद हैं– सद्भूतव्यवहारनय और असद्भूतव्यवहारनय।

'एक वस्तु को विषय करने वाला सद्भूतव्यवहारनय है।'

'भिन्न वस्तु को विषय करने वाला असद्भूतव्यवहारनय है।'

'उपचरित और अनुपचरित के भेद से सद्भूत व्यवहार दो प्रकार का है।'

'उनमें से कर्मोपाधि से सहित गुण और गुणी के भेद को विषय करने वाला उपचरित सद्भूतव्यवहार नय है। जैसे– जीव के मतिज्ञान आदि गुण।'

'कर्मोपाधि रहित गुण और गुणी के भेद को विषय करने वाला अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय है। जैसे– जीव के केवलज्ञान आदि गुण।'

'असद्भूत व्यवहारनय के भी दो भेद हैं– उपचरित और अनुपचरित।'

'उनमें से संश्लेष संबंध रहित, ऐसी भिन्न वस्तुओं का परस्पर में संबंध ग्रहण करना उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है। जैसे– देवदत्त का धन।'

'संश्लेष सहित वस्तु के सम्बन्ध को विषय करने वाला अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है। जैसे– जीव का शरीर।'

इस प्रकार से अति संक्षेप में यहाँ पर्यायार्थिक, द्रव्यार्थिक, नैगम आदि नय, उपनय तथा निश्चयनय और व्यवहारनय का स्वरूप कहा है। विशेष जिज्ञासुओं को तथा वक्ताओं को नयचक्र, आलाप पद्धति आदि ग्रंथों का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।

ये सभी नय परस्पर सापेक्ष होने से सुनय कहलाते हैं अन्यथा दुर्नय हो जाते हैं। सो ही देखिये–

## सुनय और दुर्नय

अष्टसहस्री नामक दर्शनशास्त्र में भी श्री विद्यानंदि महोदय ने 'तथा चोक्तं' कहकर सुनय और दुर्नय का लक्षण बताया है–

तथा चोक्तं–

**अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं, तदंशधीः।**
**नयो धर्मान्तरापेक्षी, दुर्णयस्तन्निराकृतिः[1]।।**

अनेकरूप पदार्थ का ज्ञान प्रमाण है, उस पदार्थ के एक अंश का ज्ञान नय है। वह नय अपने से विरोधी अन्य धर्म की अपेक्षा रखता है तथा दुर्नय अन्य

1. अष्टसहस्री मूल पृ.290।

धर्म का निराकरण करने वाला है।

वहीं पर श्री अकलंकदेव 'अष्टशती भाष्य' में कहते हैं–

**''तदनेकांतप्रतिपत्तिः प्रमाणमेकधर्मप्रतिपत्तिर्नयस्तत्प्रत्यनीकप्रतिक्षेपो दुर्णयः[1]।''**

अनेकांत का ज्ञान प्रमाण है, उसके एक धर्म को जानना नय है और उस नय के विरोधी धर्म का निराकरण करना दुर्नय है।

श्री समंतभद्रस्वामी की कारिका में देखिये–

**मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न न मिथ्यैकांततास्ति नः।**
**निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्[2]।।108।।**

मिथ्यानयों का समूह मिथ्या ही है, चूँकि हम स्याद्वादियों के यहाँ मिथ्याएकांत नहीं है। निरपेक्षनय मिथ्या हैं और सापेक्षनय वास्तविक हैं, अर्थक्रियाकारी हैं।

**''निरपेक्षाणामेव नयानां मिथ्यात्वात् तद्विषयसमूहमिथ्यात्वोपगमात्, सापेक्षाणां तु सुनयत्वात्तद्विषयाणामर्थक्रियाकारित्वात् तत्समूहस्य वस्तुत्वोपपत्तेः[3]।''**

परस्पर में निरपेक्ष ही नय मिथ्यारूप हैं, चूँकि उनका विषयसमूह मिथ्यात्व रूप से स्वीकार किया गया है किन्तु सापेक्षनय सुनय है चूँकि उनका विषय अर्थ क्रियाकारी है, उन विषयों का समूह वास्तविक है।

सुनय को सम्यक् एकांत और दुर्नय को मिथ्या एकांत कहते हैं। यथा–

**''एकांतो द्विविधः–सम्यगेकांतो मिथ्यैकांतः इति।**
**तत्र सम्यगेकांतो हेतुविशेषसामार्थ्यापेक्षः प्रमाणप्ररूपितार्थैकदेशादेशः।**
**एकात्मावधारणेन अन्याशेषनिराकरणप्रवणप्रणिधिर्मिथ्यैकांतः[4]।।**

एकांत के दो भेद हैं–सम्यक् एकांत और मिथ्या एकांत। प्रमाण के द्वारा प्ररूपित वस्तु के एक देश को सयुक्तिक ग्रहण करने वाला सम्यक् एकांत है। एक धर्म (वस्तु के एक अंश) का सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकांत है।

इसी बात को श्री समंतभद्र स्वामी भी कहते हैं–

**अनेकांतोऽप्यनेकांतः प्रमाणनयसाधनः।**
**अनेकांतः प्रमाणात्ते तदेकांतोऽर्पिताऩ्नयात्।।[5]**

अनेकांत भी अनेकांतरूप है, वह प्रमाण और नय से सिद्ध होता है। अनेकांत की सिद्धि प्रमाण से होती है और विवक्षित नय की अपेक्षा से एकांत

1. अष्टस.मू.पृ.290। 2. देवागमस्तोत्र। 3. अष्टस.मू.पृ.290। 4. तत्त्वार्थवार्तिक अ.1, सूत्र 6, पृ.35। 5. स्वयंभूस्तोत्र, अरजिनस्तुति।



की सिद्धि होती है। यही सम्यक् एकांत है।

श्री जिनेन्द्रदेव के मत में परस्पर विरोधी विषय को लिये हुए भी सभी नय परस्पर में अविरोधी हैं। यथा–

**''नयसत्त्वर्तवः सर्वे गव्यन्ये चाप्यसंगताः।**
**श्रियस्ते त्वयु वन् सर्वे दिव्यर्ध्या चावसंभृता।।73।।[1]**

हे प्रभो! द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक अथवा नैगम आदि नय, नेवला, सर्प आदि प्राणी और बसंत, ग्रीष्म आदि ऋतुयें ये सब तथा इनके सिवाय और भी जो पृथ्वी पर परस्पर विरोधी पदार्थ हैं जो कि परस्पर में कभी नहीं मिलते हैं, वे सब आपके प्रभाव से एक साथ संगत हो गये हैं–आपस के विरोध को भूलकर मिल गये हैं तथा कितने ही अन्य कार्य देवों की ऋद्धि से निष्पन्न किये गये हैं।

## क्या कोई नय असत्य है ?

जो किसी नय को सत्य एवं किसी नय को असत्य कहते हैं सो यह कथन गलत है। देखिये जयधवला नामक सिद्धांत ग्रंथ में–

**''णिययवयणिज्जसच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा।**
**ते उण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा[2]।।117।।''**

ये सभी नय अपने-अपने विषय के कथन करने में समीचीन हैं और दूसरे नयों के निराकरण करने में मूढ़ हैं। अनेकांत रूप समय के ज्ञाता पुरुष 'यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है' इस प्रकार का विभाग नहीं करते हैं।

## क्या व्यवहारनय असत्य कहा जा सकता है ?

जयधवला, धवला आदि महाग्रंथों के प्रमाण देखिये।

जयधवला में कहा है–

**''ववहारणयं पडुच्च पुण गोदमसामिणा चउवीसण्हमणियोगद्दाराणमादीए मंगलं कदं। ण च ववहारणओ चप्पलओ; तत्तो (ववहाराणुसारि) सिस्साण पउत्तिदंसणादो। जो बहुजीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चेव समस्सिदव्वो त्ति मणेणावहारिय गोदमथेरेण मंगलं तत्थकयं।''[3]**

श्री गौतमस्वामी ने व्यवहारनय का आश्रय लेकर कृति आदि चौबीस अनुयोग द्वारों के आदि में 'णमो जिणाणं' इत्यादि रूप से मंगल किया है।

**व्यवहारनय असत्य भी नहीं है,** क्योंकि उससे व्यवहार का अनुसरण

1. स्तुतिविद्या, श्री शांतिनाथ स्तुति। 2. जयधवला पु. 1, पृ.257। 3. जयधवला पु. 1, पृ.8।

करने वाले शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है अतः जो व्यवहारनय बहुत जीवों का अनुग्रह करने वाला है उसी का आश्रय करना चाहिये ऐसा मन में निश्चय करके गौतमस्थविर ने चौबीस अनुयोग द्वारों की आदि में मंगल किया है।

धवलाकार का अभिमत देखिये–

**एवं दव्वट्ठियजणाणुग्गहट्ठं णमोक्कारं गोदमभडारओ महाकम्मपयडि-पाहुडस्स आदिम्हि काऊण पज्जवट्ठियणयाणुग्गहट्ठमुत्तरसुत्ताणि भणदि 'णमो ओहिजिणाणं'।।2।।**

इस प्रकार द्रव्यार्थिक जनों के अनुग्रहार्थ गौतम भट्टारक महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के आदि में नमस्कार करके पर्यायार्थिकनय शिष्यों के अनुग्रहार्थ उत्तर सूत्रों को कहते हैं–

अवधि जिनों को नमस्कार हो[1]।।2।।

**भावार्थ–**श्री गौतम स्वामी ने महाकर्मप्रकृति प्राभृत की आदि में **''णमो जिणाणं''**।।1।। जिनों को नमस्कार हो। यह पहला मंगलसूत्र द्रव्यार्थिकनय वाले शिष्यों के अनुग्रहार्थ रचा है आगे पुनः **'णमो ओहिजिणाणं'** से लेकर **'णमोवड्ढमाणरिसिस्स'**।।44।। यहाँ तक जो नमस्कार सूत्र बनाये हैं वे पर्यायार्थिकनय वाले शिष्यों के अनुग्रहार्थ बनाये हैं, ऐसा अभिप्राय है।

## नय मोक्ष का कारण है

कषायपाहुड़ में प्रश्न किया है कि–

''नय का कथन किसलिये किया जाता है ?

**''स एष याथात्म्योपलब्धिनिमित्तत्वाद्भावानां श्रेयोऽपदेशः।।85।। अस्यार्थः–श्रेयसो मोक्षस्य अपदेशः कारणं, भावानां याथात्म्योपलब्धिनिमित्त-भावात्।''**

**स एष नयो द्विविधः–'द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति।'[2]**

''यह नय पदार्थों का जैसा स्वरूप है उस रूप से उनके ग्रहण करने में निमित्त होने से मोक्ष का कारण है।।85।। इसलिये नय का कथन किया जाता है। इस मूलवाक्य का शब्दार्थ यह है कि यह नय श्रेयस् अर्थात् मोक्ष का अपदेश अर्थात् कारण है क्योंकि वह पदार्थों के यथार्थरूप से ग्रहण करने में निमित्त है।''

इस नय के दो भेद हैं–द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक।

जब नय को मोक्ष का निमित्त माना है और उसी के द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक

1. धवला पु. 9, पृ.12। 2. जयधवला पु.1, पृ.221।



दो भेद किये हैं तब पर्यायार्थिक या व्यवहारनय असत्य अथवा संसार का निमित्त कैसे हो सकता है ? अर्थात् कथमपि नहीं हो सकता है।

अध्यात्म भाषा में जो निश्चय और व्यवहारनय हैं आज ये ही विवाद के विषय बने हुये हैं। व्यवहारनय झूठा नहीं है सच्चा है यह तो आपने समझ लिया है। अब इसका आशय कहाँ तक है ? तथा निश्चयनय का आश्रय लेने वाले कौन महापुरुष हैं ? इस पर विचार किया जाता है।

वास्तव में आगम के आधार से व्यवहारनय का अवलंबन छठे और कथंचित् सातवें गुणस्थान तक होता है उसके ऊपर निश्चयनय का अवलंबन महामुनियों को ध्यानावस्था में होता है। श्रावक जो कि पंचम गुणस्थानवर्ती हैं अथवा जो असंयत सम्यग्दृष्टि हैं उनके लिए तो निश्चयनय का विषय ध्येय है, श्रद्धान करने योग्य है किन्तु व्यवहारनय के आश्रित एकदेश चारित्र ही अवलंबन करने योग्य है।

श्री कुंदकुंददेव आदि महर्षिगणों के शब्दों में ही इस विषय में स्पष्टीकरण पाया जाता है। सो ही देखिये।

## कौन सा नय कब और किसके द्वारा आश्रयणीय है ?

समयसार की व्याख्या में श्री अमृतचंद्र सूरि कहते हैं–

**''प्रत्यगात्मदर्शिभिर्व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः। अथ च केषांचित्कदा–चित्सोऽपि प्रयोजनवान्। यतः–**

**सुद्धो सुद्धादेसौ णायव्वो परमभावदरिसीहिं।**
**ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे।।12।।[1]**

परमभावदर्शियों को शुद्ध नय का कथन करने वाला शुद्धनय जानने योग्य है किन्तु जो अपरमभाव में स्थित हैं उनको व्यवहारनय के द्वारा उपदेश करना योग्य है।

इसी की टीका में श्री अमृतचंद्र सूरि कहते हैं–

**ये खलु पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयं परमं भावमनुभवंति, तेषां प्रथमद्वितीयाद्यनेकपरंपरापच्यमान.....शुद्धनय.....प्रयोजनवान्। ये तु प्रथम.....अपरमं भावमनुभवन्ति तेषां.....व्यवहारनयो विचित्रमालिका-स्थानीयत्वात्परिज्ञानमानस्तदात्वे प्रयोजनवान्, तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात्।।**

1. समयसार।

उक्तं च–

**जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।**
**एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।।**

जो पुरुष अंतिम पाक से उतरे हुए शुद्ध सुवर्ण के समान शुद्ध परमभाव का अनुभव करते हैं, वे प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाकों की परम्परा से पच्यमान अशुद्ध सुवर्ण के समान अपरमभाव के अनुभव से शून्य हैं। अतः उनके लिए शुद्ध द्रव्य को ही कहने वाला होने से जिसने अस्खलित एक स्वभावरूप एक भाव प्रकट किया है ऐसा शुद्धनय ही उपरितन एक शुद्ध सुवर्ण के समान जाना हुआ प्रयोजनवान् है और जो पुरुष प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाकों की परम्परा से पकते हुये उस अशुद्ध सुवर्ण के समान 'अपरमभाव' का अनुभव करते हैं वे अंतिम पाक से उत्तीर्ण शुद्ध सुवर्ण के सदृश 'परमभाव' के अनुभवन से शून्य हैं। अतः उनके लिए अशुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला होने से भिन्न-भिन्न एक भाव स्वरूप अनेक भाव दिखलाता हुआ यह व्यवहारनय विचित्र-अनेक वर्णमाला के समान जाना हुआ उस काल में प्रयोजनवान है, क्योंकि तीर्थ और तीर्थफल इस प्रकार से ही व्यवस्थित है।

कहा भी है–''यदि तुम जिनमत में प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों को मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहार के बिना तो तीर्थ का (मोक्षमार्ग का) नाश हो जायेगा और दूसरे निश्चय के बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा[1]।''

अब यहाँ समझना यह है कि 'परमभाव' तथा 'अपरमभाव' क्या है ? अंतिम पाक को प्राप्त कर चुके शुद्ध सुवर्ण के सदृश 'परमभाव' को लिया है और एक पाक, दो पाक आदि से शुद्ध होते हुए पंद्रह पाक तक उतरे हुए सुवर्ण के सदृश 'अपरमभाव' को कहा है। यह श्री अमृतचंद्रसूरि का मत है। इस दृष्टि से तो शुद्ध 'परमभाव' बारहवें गुणस्थान में ही घटित होगा उसके नीचे अशुद्ध सुवर्ण के समान आत्मा 'अपरमभाव' में ही स्थित है अथवा निर्विकल्पध्यान में आठवें, नवमें, दशवें गुणस्थानों में बुद्धिपूर्वक राग का अभाव होने से वीतरागता मानी गई है, उस दृष्टि से वहाँ पर भी 'परमभाव' कहा जा सकता है उसके पहले सविकल्प अवस्था वाले छठे गुणस्थानवर्ती मुनि तो 'अपरमभाव' में ही हैं। चूँकि–

1. समयसार गाथा 12 की टीका अमृतचंद्र सूरि कृत।



**'व्यवहारनयो.....तदात्वे प्रयोजनवान, तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात्।**
यह वाक्य ध्यान देने योग्य है।

व्यवहार नय.....उस काल में प्रयोजनवान है, क्योंकि तीर्थ और तीर्थफल इसी प्रकार से व्यवस्थित हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहारनय से ही तीर्थ और तीर्थ का फल होता है। तब यह भी स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहारनय का अवलंबन बुद्धिपूर्वक क्रिया होने तक चलता ही है। ''निर्ग्रंथ प्रवचन को अथवा निर्ग्रंथचर्या को निर्वाणमार्ग श्री गौतमस्वामी ने भी कहा है[1]।'' छठे गुणस्थान की सरागचर्या भी निर्ग्रंथचर्या है चूँकि उसके बिना भी आगे के गुणस्थान नहीं होते हैं अतः चतुर्थ गुणस्थान से लेकर छठे, सातवें तक व्यवहारनय प्रयोजनवान है वहाँ तक 'अपरमभाव' है ही है।

व्यवहार अथवा निश्चय इन दोनों में किसी एक नय का एकांत तो मिथ्यात्व ही है अतः मिथ्यात्व में व्यवहारनय का अवलंबन नहीं है प्रत्युत् व्यवहाराभास का अवलंबन है।

इस 'परमभाव' और 'अपरमभाव' को श्री जयसेनस्वामी ने भी इसी तरह से कहा है। यथा–

''यहाँ पर केवल भूतार्थ–निश्चयनय निर्विकल्पसमाधि में रत हुये मुनियों को प्रयोजनवान हो, मात्र इतनी ही बात नहीं है किन्तु सोलह ताव के शुद्ध सुवर्ण लाभ के अभाव में नीचे के ताव सहित सुवर्ण लाभ के समान निर्विकल्प समाधि से रहित किन्हीं प्राथमिक शिष्यों को कदाचित् सविकल्प अवस्था में मिथ्यात्व, विषय, कषाय को दूर करने के लिए व्यवहारनय भी प्रयोजनवान् है, ऐसा कहते हैं–

''शुद्धात्मभावदर्शियों को शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला शुद्धनय भावित करना चाहिए। क्यों ? क्योंकि यह सोलह ताव के सुवर्णलाभ के समान अभेद रत्नत्रय स्वरूप समाधि के काल में प्रयोजन सहित है, निःप्रयोजन नहीं है। व्यवहार से, विकल्प से, भेद से अथवा पर्याय से कहने वाला नय व्यवहारनय है। वह पुनः नीचे के ताव वाले सुवर्णलाभ के समान प्रयोजनवान् होता है। किनके लिये ? जो पुनः 'अपरम' अर्थात् अशुद्ध में अर्थात् असंयत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से अथवा श्रावक की अपेक्षा से सराग सम्यग्दृष्टि लक्षण वाले शुभोपयोग में अथवा प्रमत्त और अप्रमत्त मुनि की अपेक्षा से भेदरत्नत्रय

1. ''इमं णिग्गंथं पवयणं णिव्वाणमग्गं.....।'' मुनिप्रतिक्रमण।

लक्षण जीव पदार्थ में स्थित हैं। उनके लिए यह व्यवहारनय प्रयोजनवान् है[1]।''

इससे यह समझना कि गाथा 11 में जो 'भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो[2]।' कहा है सो वीतराग सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से ही कहा है।

इस व्यवहारनय की सार्थकता कहाँ तक है सो और देखिये–

**''ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।**
**जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा''।।46।।**

''जो राग-द्वेष आदिरूप अध्यवसान आदि भाव हैं वह जीव है'' ऐसा जिनेन्द्रदेव ने जो कहा है वह व्यवहारनय का कथन है[3]।''

इसी की टीका में श्री अमृतचंद्रसूरि कहते हैं–

**''व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वाद-परमार्थोऽपि तीर्थ प्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव। तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनेन हिंसाऽभा-वाद्भवत्येव बंधस्याभावः। तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः।''**

ये सब अध्यवसानादि भाव 'जीव' हैं ऐसा जो भगवान् सर्वज्ञ देव ने कहा है, वह अभूतार्थ रूप जो व्यवहारनय है उसका मत है क्योंकि व्यवहारनय व्यवहारी जीवों को परमार्थ का कहने वाला है। जैसे कि म्लेच्छभाषा म्लेच्छों को वस्तु का स्वरूप बतलाने वाली है। उसी तरह यह व्यवहारनय **परमार्थ का प्रतिपादक** होने से अपरमार्थभूत होने पर भी तीर्थ प्रवृत्ति का निमित्त है अतः इसका दिखलाना न्याय संगत ही है। चूँकि उस व्यवहार के बिना परमार्थ से तो जीव शरीर से भिन्न है पुनः जैसे भस्म को निःशंक होकर उपमर्दित कर देते हैं वैसे ही त्रस-स्थावर जीवों का भी निःशंक होकर घात कर देने से हिंसा नहीं होगी तो फिर बंध का भी अभाव हो जायेगा। ऐसी स्थिति में 'रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्म से बंधता है वही छुड़ाने योग्य है' इस प्रकार राग-द्वेष-मोह से जीव परमार्थ से भिन्न ही रहेगा, तब मोक्ष के उपाय को ग्रहण करने का भी अभाव हो जाने से मोक्ष का ही अभाव हो जायेगा।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि रत्नत्रय स्वरूप मोक्ष का उपाय भी व्यवहारनय से ही ग्रहण किया जाता है। व्यवहारनय के बिना बंध व मोक्ष की

1. समयसार पृ.27। 2. समयसार गा. 11। 3. समयसार गा. 46।



व्यवस्था ही नहीं बन सकती है।

**शंका–**इस विषय में हमें कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु निश्चयनय के अवलंबन से होने वाला रत्नत्रय चौथे से ही शुरू हो जाता है इस मान्यता में ही विवाद है, अतः उसी का समाधान चाहिए ?

**समाधान–**इसका समाधान तो गाथा 12वीं में किया जा चुका है कि जो 'अपरमभाव' में स्थित हैं उनके लिये व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है और आज सातवें गुणस्थान से ऊपर जा नहीं सकते अतः आज निश्चयनय का विषय श्रद्धान के लिये ही योग्य है अवलंबन के लिये नहीं। हाँ, सप्तमगुणस्थान में भी शुद्धोपयोग माना गया है अतः उसकी दृष्टि से कथंचित् मुनि ही उस निश्चयनय के अवलंबनस्वरूप निश्चयरत्नत्रय को प्राप्त कर सकते हैं, साधारण जन नहीं प्राप्त कर सकते हैं, ऐसा समझना। क्योंकि व्यवहार या भेद रत्नत्रय साधन हैं और निश्चय या अभेद रत्नत्रय साध्य है। इस बात को आचार्यों ने स्वयं कहा है। साधन के बिना साध्य असंभव है पुनः छठे तक साधन रहे और चौथे गुणस्थान में साध्य हो जावे यह कैसे बनेगा ?

## साध्य-साधन भाव

व्यवहारनय अथवा व्यवहार रत्नत्रय साधन है तथा निश्चयनय या निश्चय रत्नत्रय साध्य है। इसका प्रमाण– पंचास्तिकाय की गाथा 160, 161 में है। सो देखिये

## व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है

**धम्मादी सद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।**
**चेट्ठा तवम्हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति[1]।।160।।**

.धर्मादि द्रव्यों का श्रद्धान सम्यक्त्व है, अंग-पूर्व संबंधी ज्ञान सो ज्ञान है और तप में प्रवृत्ति करना सो चारित्र है। इस प्रकार यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

श्री अमृतचंद्रसूरि इस गाथा की टीका में कहते हैं–

**''.....आचारादिसूत्रप्रपंचितविचित्रयतिवृत्तिसमस्तसमुदयरूपे तपसि चेष्टा चर्या व्यवहारनयमाश्रित्यानुगम्यमानो मोक्षमार्गः निश्चयमोक्षमार्गस्य साधनभावमापद्यते।''**

.....इसमें तप के जो विशेषण दिये हैं वे पंच महाव्रत आदि से समन्वित मुनिचर्या रूप ही हैं। यथा–''आचारादि सूत्रों द्वारा भेदरूप से कहे गये अनेक

1. पंचास्तिकाय पृ. 370।

विध मुनि आचारों के समस्त समुदायरूप तप में प्रवर्तन करना सो चारित्र है। .....यह व्यवहारनय के आश्रय से किया जाने वाला मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग के साधन भाव को प्राप्त होता है अर्थात् इस व्यवहार मोक्षमार्ग से ही निश्चयनयाश्रित मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है अन्यथा नहीं।

''इसलिये निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग में साध्य-साधन-भाव अतिशयरूप से घटित हो जाता है।''

इन प्रमाणों को देखकर भी जो विद्वान् व्यवहार चारित्र को हेय कहते हैं अथवा व्यवहार चारित्र के बिना निश्चय चारित्र की कोरी बातें करते हैं। वे आकाश पुष्प की सुगंधि ही चाहते हैं ऐसा समझना चाहिए।

आगे चलकर श्री कुंदकुंददेव कहते हैं कि यह रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग कथंचित् (दसवें गुणस्थान तक) बंध का हेतु है पुनः (बारहवें गुणस्थान में) साक्षात् मोक्ष का हेतु है। यथा–

**दंसणणाणचरित्ताणि, मोक्खमग्गो त्ति सेविदव्वाणि।**
**साधूहिं इदं भणिदं, तेहि दु बंधो व मोक्खो वा[1]।।164।।**

दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है। इसलिये वे सेवन करने योग्य हैं, ऐसा साधुओं ने कहा है। इनसे बंध भी होता है और मोक्ष भी होता है। इसी गाथा की टीका करते हुए श्री अमृतचंद्र सूरि कहते हैं–

**''अमूनि हि दर्शनज्ञानचारित्राणि कियन्मात्रयापि परसमयप्रवृत्त्या संबलितानि बंधकारणान्यपि यदा तु समस्तपरसमयप्रवृत्तिनिवृत्तिरूपया स्वसमयप्रवृत्त्या संगच्छंते तदा साक्षान्मोक्षकारणान्येव भवंति।''**

ये दर्शन-ज्ञान-चारित्र यदि अल्प भी परसमयप्रवृत्ति के साथ मिलित हों तो....बंध के कारण भी हैं और जब समस्त परसमय प्रवृत्ति से निवृत्तिरूप स्वसमयप्रवृत्ति के साथ संयुक्त होते हैं तब.....साक्षात् मोक्ष के कारण ही हैं।

श्री जयसेनाचार्य भी कहते हैं–

**''शुद्धात्माश्रितानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षकारणानि भवंति पराश्रितानि बंधकारणानि भवन्ति च।''**

ये सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र जब शुद्धात्मा के आश्रित होते हैं तब मोक्ष के लिए कारण होते हैं और जब ये पर-पंचपरमेष्ठी आदि के आश्रित होते हैं तब पुण्यबंध (सातिशय तीर्थंकर प्रकृति आदि) के लिए कारण हो जाते हैं।

1. पंचास्तिकाय पृ. 378।



इसी गाथा नं. 160 की टीका में श्री जयसेनाचार्य के शब्दों में देखिये–

**''अथ यद्यपि पूर्वं.....व्यवहारमोक्षमार्गो व्याख्यातः तथापि निश्चय-मोक्षमार्गस्य साधकोऽयमिति पुनरप्यभिधीयते। .....इति विस्तरः। वीतरागसर्वज्ञप्रणीतजीवादिपदार्थविषये सम्यक् श्रद्धानं ज्ञानं चेत्युभयोः गृहस्थतपोधनयोः समानं। चारित्रं तपोधनानामाचारादिचरणग्रंथविहितमार्गेण प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानयोग्यं पंचमहाव्रतपंचसमितित्रिगुप्तिषडावश्यकादिरूपं, गृहस्थानां पुनरुपासकाध्ययनग्रंथविहितमार्गेण पंचमगुणस्थानयोग्यं दानशील-पूजोपवासादिरूपं दार्शनिकव्रतिकाद्येकादशनिलयरूपं वा इति व्यवहार-मोक्षमार्गलक्षणं। अयं व्यवहारमोक्षमार्ग.....सुवर्णपाषाणस्याग्निरिव निश्चय-मोक्षमार्गस्य बहिरंगसाधको भवतीति[1]।''**

**विशेषार्थ–**वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए जीव आदि पदार्थों के संबंध में सम्यक् श्रद्धान करना और जानना ये दोनों सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान गृहस्थ और मुनियों में समान होते हैं। परन्तु साधु, तपस्वियों का चारित्र आचारसार आदि ग्रंथों में कहे गये मार्ग के अनुसार प्रमत्त और अप्रमत्त–छठे-सातवें गुणस्थान के योग्य पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति व छह आवश्यक आदिरूप होता है। गृहस्थों का चारित्र उपासकाध्ययन शास्त्र में कही गई रीति के अनुसार पंचमगुणस्थान के योग्य दान, शील, पूजा और उपवास आदि रूप अथवा दर्शन, व्रत आदि ग्यारह प्रतिमास्थानरूप होता है। यह व्यवहार मोक्षमार्ग का लक्षण है। जैसे–अग्नि सुवर्ण पाषाण को सुवर्ण बनाने में निमित्त है वैसे ही यह व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का साधक है।

## निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है

अब अगली गाथा के लिए श्री अमृतचंद्र सूरि की उत्थानिका देखिये–

**'व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपान्यासोऽयम्।**

व्यवहार मोक्षमार्ग के द्वारा साध्यरूप होने से अब निश्चय मोक्षमार्ग का यह कथन किया जाता है–

**''णिच्छयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।**
**ण कुणदि किंचि वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति।।161।।**

जो आत्मा इन तीनों द्वारा समाहित होता हुआ अन्य कुछ भी न करता है औन न छोड़ता ही है, वह निश्चयनय से मोक्षमार्ग कहा गया है। इसी की टीका

1. पंचास्तिकाय पृ. 372।

में श्री अमृतचंद्र सूरि पुनः कहते हैं–

**''अतो निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गयोः साध्यसाधनभावो नितरामुपपन्नः इति।'**

इस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि रत्नत्रय को धारण करने वाले मुनि भी परसमयरत होते हैं तथा जहाँ तक बंध है वहाँ तक कथंचित् परसमयप्रवृत्ति मानना चाहिए। उसके ऊपर उत्कृष्ट अंतरात्मा मुनि बारहवें गुणस्थान में ही पूर्णतया स्वसमयरत हैं वहीं पर बंध का अभाव होकर साक्षात् मोक्षमार्ग प्रकट होता है।

श्री अमृतचंद्र सूरि ने समयसार की व्याख्या में तो 'यथाख्यातचारित्र के पहले बंध होता है' यह बात स्पष्ट रूप से कह दी है। यथा–

**''स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात्[1]।''**

वह (ज्ञानगुण) तो यथाख्यात चारित्र के नीचे (ग्यारहवें गुणस्थान के नीचे) अवश्यंभावी राग परिणाम का सद्भाव होने से बंध का हेतु ही है।

इससे यह भी स्पष्ट है कि सातवें से दशवें गुणस्थान तक अबुद्धिपूर्वक भी राग का अंश होने से कर्मबंध होता ही है और यह बात अध्यात्मसूरि श्री अमृतचंद्र सूरि जब स्वयं स्वीकार कर रहे हैं तब चतुर्थगुणस्थान आदि के सम्यग्दृष्टि को वीतरागी अथवा अबंधक कह देना स्वयं आत्मवंचना करना ही है।

## व्यवहार रत्नत्रय साधन है

निश्चयरत्नत्रय के लिये व्यवहार रत्नत्रय साधन (कारण) है। इसके लिये और भी प्रमाण देखिये–

**''निजशुद्धात्मैव शुद्धनिश्चयेनोपादेयं भेदरत्नत्रयं तु उपादेयमभेदरत्नत्रय-साधकत्वाद् व्यवहारेणोपादेयमिति[1]।''**

शुद्ध निश्चयनय से निजशुद्धात्मा ही उपादेय है तथा भेदरत्नत्रय भी उपादेय है क्योंकि वह अभेदरत्नत्रय का साधक है अतः वह व्यवहार से उपादेय है।

**''व्यवहारो मोक्षमार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणभूत त्वादुपादेयः परम्परया जीवस्य पवित्रताकारणत्वात् पवित्रः[2]।।''**

उपादेयभूत जो निश्चयरत्नत्रय उसका कारण होने से व्यवहार मोक्षमार्ग उपादेय है और परम्परा से जीव की पवित्रता का कारण होने से पवित्र है।

1. समयसार गाथा 171, टीका श्री अमृतचंद्रसूरि।



## निश्चय-व्यवहार में साध्य-साधन भाव है

''यह निःशंकित आदि आठ गुणों का व्याख्यान निश्चयनय की मुख्यता से किया गया है। निश्चयनय के लिए साधकभूत ऐसे व्यवहार रत्नत्रय में स्थित हुये सरागसम्यग्दृष्टि को अंजन चोर आदि की कथारूप से व्यवहारनय से भी यथासम्भव लगा लेना चाहिए।'' पुनः प्रश्न हो जाता है कि–

**''निश्चयं व्याख्याय पुनरपि किमर्थं व्यवहारनयव्याख्यानं ?**

**इति चेन्नैवं। अग्निसुवर्णपाषाणयोरिव निश्चयव्यवहारनययोः परस्पर-साध्यसाधनभावदर्शनार्थमिति।''**

निश्चय का व्याख्यान करके पुनः व्यवहारनय का व्याख्यान क्यों किया ?

ऐसा नहीं है, क्योंकि अग्नि और सुवर्णपाषाण के समान निश्चय और व्यवहारनय में परस्पर में साध्य-साधन भाव दिखलाने के लिए किया है।''[3]

## व्यवहारनय निषिद्ध है

व्यवहारनय प्रतिषिद्ध है, परन्तु किनके लिए ? देखिये–

**''एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणएण।**

**णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं।।272।।''**

इस प्रकार से निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय प्रतिषिद्ध है तुम ऐसा जानो, क्योंकि निश्चयनय का आश्रय लेने वाले मुनि निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं[4]।''

तात्पर्यवृत्ति टीकाकार कहते हैं–

'इसके पश्चात् अभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिरूप निश्चयनय के द्वारा विकल्पात्मक व्यवहारनय बाधित हो जाता है' इस कथन की मुख्यता से छह गाथा पर्यन्त व्याख्यान करते हैं–

''एवं पूर्वोक्त प्रकार से पराश्रित होने से व्यवहारनय प्रतिषिद्ध है ऐसा जानो। किसके द्वारा ? शुद्धात्म द्रव्य के आश्रित निश्चयनय के द्वारा। क्यों ? क्योंकि, निश्चयनय में स्थित हुए मुनिगण निर्वाण को प्राप्त करते हैं, इस कारण से। दूसरी बात यह है कि यद्यपि प्राथमिक शिष्यों की अपेक्षा से प्रारंभ में सविकल्प अवस्था में निश्चय का साधक होने से व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है

1. समयसार गा.120, टीका श्री जयसेनाचार्यकृत पृ.177। 2. समयसार गा.161, पृ.227।
3. समयसार गा. 236, पृ.317। 4. समयसार गाथा 272।

फिर भी विशुद्ध ज्ञान दर्शन लक्षण शुद्धात्मा में स्थित मुनियों के लिए निष्प्रयोजन है ऐसा भावार्थ है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक कथमपि निश्चयनय में स्थित नहीं हो सकते हैं। इसलिए शुद्धोपयोगी मुनियों द्वारा ही व्यवहारनय प्रतिषिद्ध है न कि श्रावकों द्वारा या छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों द्वारा।

आगे भी कहते हैं–

**''निर्विकल्पसमाधिरूपे निश्चये स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्यः, किन्तु तस्यां त्रिगुप्तावस्थायां व्यवहारः स्वयमेव नास्तीति तात्पर्यार्थः। एवं निश्चयनयेन व्यवहारः प्रतिषिद्धः इति[1]।''**

निर्विकल्प समाधिरूप निश्चय में स्थित होकर व्यवहार त्याज्य है अर्थात् उस त्रिगुप्त अवस्था में व्यवहार स्वयं ही नहीं है ऐसा तात्पर्य हुआ। इस प्रकार से निश्चयनय के द्वारा यह प्रतिषिद्ध है ऐसा जानना। यह अवस्था वीतरागी मुनियों की ही होती है।

## भेदरत्नत्रय अभेदरत्नत्रय के लिए साधन है

भेद रत्नत्रय से अभेदरत्नत्रय की एवं अभेद से केवलज्ञान की सिद्धि होती है। देखिए–

''भेदरत्नत्रयात्मक व्यवहारमोक्षमार्ग नामक व्यवहारकारणसमयसार के द्वारा अभेद रत्नत्रयात्मक निश्चयमोक्षमार्ग नामक निश्चयकारणसमयसार साध्य है। इस निश्चयकारणसमयसार से केवलज्ञान की अभिव्यक्तिरूप कार्यसमयसार प्रकट होता है।[2]''

## निश्चयनय आत्माश्रित है

आगे चलकर भगवान कुंदकुंदेव स्वयं कहते हैं–

**ववहारिओ पुण णओ, दोण्णिवि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।**
**णिच्छयणओ ण इच्छइ, मोक्खपहे सव्वलिंगाणि।।414।।**

व्यवहारनय तो मोक्षमार्ग में श्रावक और मुनि इन दोनों ही प्रकार के लिंगों को कहता है किन्तु निश्चयनय सभी लिंगों को मोक्षमार्ग में स्वीकार नहीं करता है। ऐसा क्यों? क्योंकि, निश्चयनय आत्माश्रित है और व्यवहारनय शरीर आदि का आश्रय लेने से पराश्रित है।

1. समय.गा.277 की टीका। 2. समयसार गा. 373, टीका पृ. 459।



## समयसार क्या है ?

श्री कुंदकुंददेव ने तो यहाँ तक कह दिया है कि दोनों नयों के पक्ष से रहित ही समयसार होता है–

**कम्मं बद्धमबद्धं, जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।**
**पक्खातिक्कंतो पुण, भण्णदि जो सो समयसारो।।142।।**

जीव में कर्म बंधे हुये हैं अथवा नहीं बंधे हुये हैं इस प्रकार तो नयपक्ष अर्थात् व्यवहार और निश्चयनयों का कथन जानो, किन्तु जो इन दोनों के नयों से अतिक्रांत हो चुका है वही समयसार है ऐसा तुम जानो।

## मुनि ही समयसार रूप हैं

श्री अमृतचंद्रसूरि मुनियों को ही समयसाररूप मानते हैं–

**निरतः कात्स्न्र्यनिवृत्तौ, भवति यतिः समयसारभूतोऽयम्।**
**या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति।।141।।**

जो हिंसा आदि पाँचों पापों को पूर्णरूप से त्याग करने में निरत हैं सो ये यति समयसारभूत हैं; और जो इन पाँचों पापों से एकदेशविरत हैं वे उपासक होते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक समयसाररूप शुद्धात्मा को नहीं प्राप्त कर सकते।

## व्यवहार बिना निश्चय होगा क्या ?

जो साधन के बिना साध्य की सिद्धि करना चाहते हैं अथवा व्यवहारचारित्र की उपेक्षा करके निश्चय की अपेक्षा करते हैं उनके बारे में आचार्य कहते हैं–

**''णिच्छयमालंबंता, णिच्छयदो णिच्छयं अयाणंता।**
**णासंति चरणकरणं, बाहरिचरणालसा केई।।''**

निश्चय का आलंबन लेते हुए परन्तु निश्चय से निश्चय को न जानते हुए कोई मुनि बाह्य आचरण में आलसी होते हुये तेरह प्रकार के चारित्र और तेरह प्रकार की क्रियाओं का नाश कर देते हैं अतः उभय रूप से नष्ट हो जाते हैं।

यही बात श्री अमृतचंद्रसूरि भी कहते हैं–

**निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।**
**नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः।।50।।**

अर्थ वही है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रावकों के व्यवहार रत्नत्रय ही होता है।

निश्चय नहीं। और भी देखिये–

मुनियों का आचरण कहकर अब आचार्य श्री कुंदकुंददेव मोक्षपाहुड़ ग्रंथ में श्रावकों के लिए कहते हैं–

**''एवं जिणेहिं कहियं सवणाणं सावयाण पुण सुणसु।**
**संसारविणासयरं सिद्धियरं कारणं परमं।।85।।**

पूर्वोक्त प्रकार से जिनेन्द्रदेव ने श्रमणों के लिए उपदेश दिया है अब श्रावकों के लिए कहते हैं उसे सुनो! वह उपदेश संसार का विनाश करने वाला है और सिद्धपद को प्राप्त कराने में उत्कृष्ट कारण है।

आगे श्रावकों के लिए सम्यक्त्व का लक्षण बताते हैं–

**हिंसा रहिये धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।**
**णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं।।90।।**

हिंसारहित धर्म, अठारह दोषरहित अर्हंतदेव, निर्ग्रंथ प्रवचन अर्थात् मोक्षमार्ग तथा गुरु इनका श्रद्धान करना ही सम्यक्त्व है।

आगे और कहते हैं–

**सम्माइट्ठी सावयधम्मं जिणदेवदेसिदं कुणदि।**
**विवरीयं कुव्वंत्तो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो।।94।।**

सम्यग्दृष्टि श्रावक जिनदेव कथित धर्म का पालन करता है और जो इससे विपरीत करता है वह मिथ्यादृष्टि है[1]।''

मोक्षपाहुड़ की इन गाथाओं में यह स्पष्ट झलकता है कि श्रावक व्यवहार धर्म का पालन करता है। इसी प्रकार से श्री कुंदकुंददेव ने ही चारित्रपाहुड़ में श्रावकों के संयमाचरण को बताते हुए कहा है–

**दंसण वय सामाइय पोसह सच्चित्त रायभत्ते य।**
**बंभारंभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य।।22।।**
**पंचेव णुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।**
**सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं।।2।।**

दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्त त्याग, रात्रिभुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग इस तरह ग्यारह प्रकार के देशविरत होते हैं।

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारह प्रकार का चारित्र

1. अष्टपाहुड़-मोक्षपाहुड़।



सागार–श्रावकों का संयमाचरण है[1]।''

इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक को शक्ति के अनुसार इन ग्यारह प्रतिमाओं में से चारित्र को ग्रहण करना ही चाहिये। तभी वह श्रावक कहला सकता है, अन्यथा नहीं।

यहाँ पर कहने का अभिप्राय यही है कि छठे गुणस्थान तक की चर्या व्यवहार मोक्षमार्ग है। इससे आगे निश्चय मोक्षमार्ग होता है अतः अविरत सम्यग्दृष्टि या श्रावक मात्र शुद्ध आत्मतत्त्व का श्रद्धान ही कर सकता है वह निश्चय सम्यक्त्व आदि को प्राप्त करने की क्षमता नहीं रखता है।

## चारित्र की सार्थकता

मुनि और श्रावकों का महाव्रत-अणुव्रत रूप आचरण कितना महत्त्वशाली है–

श्री गौतम स्वामी भगवान महावीर स्वामी के प्रथम गणधर हुये हैं। ये मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इन चार ज्ञान से सहित थे, सम्पूर्ण ऋद्धियों से समन्वित थे। उनके अनंतर के ग्रंथकर्त्ता कोई भी आचार्य उनकी समानता नहीं कर सकते हैं। अहो! उन्होंने साक्षात् भगवान की दिव्यध्वनि को लगभग 30 वर्ष तक आदि से अंत तक सुना है। ऐसे महान् गुरु श्री गौतमस्वामी कितने मधुर शब्दों में भव्य जीवों को सम्बोधन करते हुये पाँच महाव्रत आदि मुनियों के आचरण का एवं उनमें लगे हुए दोषों के निराकरण हेतु प्रतिक्रमण दण्डक का उच्चारण करते हैं। आगे चलकर श्रावकों के अणुव्रत आदि व्रतों का भी उच्चारण करते हैं। अमृत की निर्झरणी के समान उनके ये वचन पढ़ने वालों के हृदय में अतिशय आह्लाद उत्पन्न कर देते हैं।

इस प्रकारण को पढ़कर ऐसा लगता है कि वास्तव में ये अणुव्रत और महाव्रत कितने विशेष हैं। ये अकिंचित्कर नहीं हैं। निश्चित रूप से इनके बिना मोक्ष प्राप्ति त्रिकाल में असम्भव है। इससे चारित्र की सार्थकता जानी जाती है।

देखिये–

श्री इंद्रभूति गौतम गणधर के मुखारविंद से निकले हुये अमृतकण–

**''सुदं मे आउस्संतो! इह खलु समणेण भयवदा महदिमहावीरेण महाकस्सवेण सव्वण्हुणा सव्वलोग-दरिसिणा सदेवासुरमाणुसस्स लोयस्स..... सव्वजीवे सव्वं समं जाणंता पस्संता विहरमाणेण समणाणं पंचमहव्वदाणि**

1. चारित्रपाहुड़।

**राइभोयणवेरमणछट्ठाणि सभावणाणि समाउगपदाणि सउत्तरपदाणि सम्मं धम्मं उवदेसिदाणि।**

हे आयुष्मान् भव्यों! मैंने सुना है[ किनसे सुना है ? और क्या सुना है ? भगवान महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि से सुना है और पाँच महाव्रत आदि को सुना है।] इस भरतक्षेत्र में देव, असुर और मनुष्यों सहित प्राणीगण की आगति, गति, च्यवनोपपाद, बंध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, द्युति, अनुभाग, तर्क, कला, मन, मानसिक, भूत, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, असहकर्म इनको तीन सौ तेतालीस रज्जुप्रमाण और लोक में सर्वजीवों को, सर्व भावों को और सर्व पर्यायों को एक साथ जानते हुए, देखते हुए तथा विहार करते हुए काश्यपगोत्रीय श्रमण, भगवान्, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, महतिमहावीर नामक अंतिम तीर्थंकरदेव ने पच्चीस भावनाओं सहित, मातृकापदों सहित और उत्तरपदों सहित, रात्रिभोजन विरमण है छठा अणुव्रत जिनमें ऐसे पाँच महाव्रतरूप समीचीन धर्मों का उपदेश दिया है, वह मैंने उनकी दिव्यध्वनि से सुना है[1]।

ऐसे ही वे आगे श्रावक-श्राविका व क्षुल्लक-क्षुल्लिकाओं के लिए कहते हैं-

**''पढमं ताव सुदं मे आउस्संतो! इह खलु समणेण भयवदा महदिमहावीरेण महाकस्सवेण सव्वण्हणाणेण सव्वलोयदरसिणा सावयाणं सावियाणं खुड्डयाणं खुड्ढियाणं कारणेण पंचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि वारसविहं गिहत्थधम्मं सम्मं उवदेसियाणि।**

**णिस्संकिय-णिक्कंखिय-णिव्विदिगिंच्छा अमूढदिट्ठी य।**
**उवगूहण ट्ठिदिकरणं वच्छल्लपहावणा य ते अट्ठ।**

**सव्वेदाणि पंचाणुव्वदाणि.....बारसविहं गिहत्थधम्ममणुपालइत्ता-**

**दंसण वय सामाइय पोसय सचित्त राइभत्ते य।**
**बंभारंभपरिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदो य।।**
**महुमंसमज्जजूआ वेसादिविवज्जणासीलो।**
**पंचाणुव्वयजुत्तो सत्तेहि सिक्खावएहि संपुण्णो।।**

**जो एदाइं वदाइं धरेइ सावया सावियाओ वा खुड्डय खुड्डियाओ वा...।''**

हे आयुष्मानों! मैंने (गौतम ने) महाकाश्यप गोत्रीय, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी श्रमण भगवान महावीर से श्रावक, श्राविका, क्षुल्लक और क्षुल्लिकाओं के कारण से पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत यह बारह प्रकार का गृहस्थ धर्म

1. क्रियाकलाप में मुनियों का पाक्षिक प्रतिक्रमण।



सुना है। .....निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यक्त्व के आठ अंग हैं।

जो सर्व इन पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म का अनुपालन करते हैं। दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्त विरमण, रात्रिभुक्तिविरमण, ब्रह्मचर्य, आरम्भनिवृत्ति, परिग्रह निवृत्ति, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ये देशविरत के ग्यारह स्थान हैं इनको धारण करते हैं वे श्रावक होते हैं।

मधु, माँस, मद्य, जुआ, वेश्यादि सेवन इन व्यसनों के त्यागी, पाँच अणुव्रतों से और सात शीलों से परिपूर्ण होकर श्रावक होते हैं।

जो श्रावक, श्राविका, क्षुल्लक और क्षुल्लिका इन व्रतों को धारण करते हैं वे भवनवासी, वाणव्यंतर, ज्योतिषी और सौधर्म-ईशान स्वर्ग की देवियों का व्यतिक्रम कर उपरिम अन्यतर महर्द्धिक देवों में उत्पन्न होते हैं।

वे क्या हैं ? सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन कल्पों में उत्पन्न होते हैं।

वहाँ देदीप्यमान देह के धारक महर्द्धिक देव होते हैं।

वे उत्कृष्ट से दो तीन भवों को ग्रहण करते हैं। जघन्य से सात-आठ भव ग्रहण करते हैं। पश्चात् वे सुमनुष्यत्व से सुदेवत्व और सुदेवत्व से सुमनुष्यत्व को प्राप्त कर उसके पश्चात् निर्ग्रंथ मुनि होकर सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं और सर्व दुःखों का अंत करते हैं[1]।''

इस प्रकार से श्री गौतमस्वामी की साक्षात् वाणी में मुनि के महाव्रत आदि को तथा गृहस्थ में मधु, माँस, मद्य त्याग से लेकर अंतिम सल्लेखना तक को धर्म कहा है और मोक्ष के लिये कारण कहा है। पुनः जीवदया, दान, पूजा आदि को धर्म न मानना घोर अपराध ही है।

श्री गौतमस्वामी ने मुनियों के प्रतिक्रमण क्रिया के विषय में तो कितना जोर दिया है–

**एसो पडिकमणविही पण्णत्तो जिणवरेहिं सव्वेहिं।**
**संजमतवड्ढिदाणं णिग्गंथाणं महरिसीणं[2]।।5।।**

यह द्रव्य-भावरूप प्रतिक्रमण विधि संयम और तप में आरूढ़ निर्ग्रंथ

1. मुनि का पाक्षिक प्रतिक्रमण। 2. मुनि पा. प्रतिक्रमण।

महर्षियों के लिये सर्व तीर्थंकरों ने कही है, न कि केवल वर्धमान स्वामी ने ही।

## ध्यान भी इस चारित्र के अंतर्गत ही है

पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का वर्णन करते हुए अंत में श्री गौतमस्वामी ने मुनियों के लिए ध्यान के विषय में कहा है–

**जो सारो सव्वसारेसु सो सारो एस गोयम।**
**सारं झाणंति णामेण सव्वं बुद्धेहिं देसिदं[1]।।8।।**

जगदंतर्वर्ती सर्व वस्तुओं में सार व्रत हैं। हे गौतम! उन सभी में सार ध्यान है क्योंकि 'सारंध्यानं' इस नाम से सर्व सर्वज्ञों ने कहा है।

## श्रावक के लिये भक्तिमार्ग प्रधान है

किन्तु स्वयं श्री गौतमस्वामी ने श्रावकों की तीसरी प्रतिमा सामायिक' का लक्षण करते हुए भक्ति की प्रेरणा दी है–

**जिणवयणधम्मचेइयपरमेट्ठिजिणालयाण णिच्चं पि।**
**जं वंदणं तियालं कीरइ सामायियं तं खु।।3।।**

जिनवचन, जिनधर्म, जिनचैत्य, अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु और जिनालय इन नवों की जो नित्य ही त्रिकाल वंदना करता है; उसके यह सामायिक नाम का व्रत होता है।

यहाँ समझने की बात यह भी है कि श्री गौतमस्वामी ने श्रावक की तीसरी प्रतिमा में आत्मध्यान करने का आदेश न देकर पंचपरमेष्ठी, जिनधर्म, जिनवाणी, जिनचैत्य और चैत्यालय इनकी वंदना करने का विधान किया है। इससे यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है कि श्रावक को आत्मध्यान असंभव है वह पंचपरमेष्ठी आदि के अवलम्बनरूप भक्ति, वंदना को ही करता है।

स्वामी समंतभद्राचार्य ने भी सामायिक व्रत में अशरण, अशुभ आदि रूप से संसार के चिंतवन का उपदेश दिया है[2] तथा सामायिक प्रतिमा में विधिवत कृतिकर्मपूर्वक चैत्यभक्ति आदि करने का संकेत दिया है। यथा–

**चतुरावर्तत्रितयश्चतुःप्रणामः स्थितो यथाजातः।**
**सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसंध्यमभिवंदी।।139।।**

बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह की चिंता से रहित होकर, वह श्रावक खड़ा होकर चार बार तीन-तीन आवर्त और चार प्रणाम करता है। प्रारंभ और समाप्ति में

1. क्रियाकलाप। 2. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 104। 3. रत्नकरण्ड श्रावकाचार।



बैठकर प्रणाम करता है, त्रियोग से शुद्ध होता हुआ तीनों संध्याओं में देववंदना करता है।

इस देववंदना की विधि क्रियाकलाप में वर्णित है।

## आगम में व्यवहार चारित्र को हेय कहा है क्या ?

**शंका–**इस व्यवहार चारित्र का आश्रय अभव्य भी लेते हैं इसलिये हेय है ?

कहा भी है–**''पराश्रितव्यवहारनयस्यैकांतेनामुच्यमानेनाभव्येनाप्याश्रीयमाणत्वाच्च[1]।'** पराश्रित व्यवहारनय का आश्रय तो एकांततः कभी मुक्त न होने वाला अभव्य भी करता है।

**समाधान–**पहली बात तो यह है कि यह व्यवहारनयाश्रित चारित्र निश्चयचारित्र के लिए कारण है जैसे कि बहुत बार बताया जा चुका है। फिर भी इसके होने पर नियम से निश्चयचारित्र हो ही जावे ऐसी व्याप्ति नहीं है किन्तु यदि निश्चयचारित्र होगा तो इस व्यवहार के बिना कभी नहीं होगा। दूसरी बात यह है कि अभव्य भी इस व्यवहारचारित्र के बल से ही अंतिम ग्रैवेयक तक जा सकते हैं इसके बिना नहीं। तीसरी बात यह भी है कि अभव्य का वह व्यवहारचारित्र वास्तविक न होकर व्यवहाराभास या सांव्यवहारिक भी माना जा सकता है जैसा कि कहा है–

**शलाकयेवाप्तगिराऽप्तसूत्र-प्रवेशमार्गो मणिवच्च यः स्यात्।**
**हीनोऽपि रुच्या रुचिमत्सु तद्वत्, भायादसौ सांव्यवहारिकाणाम्[2]।।10।।**

जिस प्रकार सूची द्वारा छिद्र को प्राप्त कांतिहीन मणि डोरे की सहायता से कांतियुक्त मणियों में प्रवेश करके उनकी संगति से सच्ची मणि के समान मालूम पड़ती है उसी प्रकार श्रद्धान से हीन मनुष्य भी सम्यग्दृष्टियों के मध्य सांव्यवहारिक जीवों को सम्यग्दृष्टि सदृश मालूम पड़ता है। ऐसे ही चारित्र के विषय में भी समझ लेना चाहिए। चौथी बात यह है कि अभव्य को मुनि अवस्था में ग्यारह अंग तक ज्ञान हो जाता है।

**यथा–''ज्ञानमश्रद्दधानश्चाचाराद्येकादशांगं श्रुतमधीयानोऽपि श्रुताध्ययनगुणाभावान्न ज्ञानीस्यात्।''[3]** ज्ञान का श्रद्धान न करने वाला अभव्य आचारांग आदि को लेकर ग्यारह अंगरूप श्रुत को पढ़ता हुआ भी शास्त्र पढ़ने के फल के अभाव से ज्ञानी नहीं होता। इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ग्यारह अंग के ज्ञानी मुनि यदि अभव्य या मिथ्यादृष्टि हैं तो क्या वे समयसार

1. समयसार गा. 272, आत्मख्याति टीका। 2. सागारधर्मामृत, श्लोक 10। 3. समयसार ग. 274।

आदि अध्यात्म ज्ञान से शून्य हैं ? नहीं, अतः ज्ञान होना अलग बात है और श्रद्धान होना अलग ही बात है। उन मुनि के किस रूप में मिथ्यात्व रहता है वह केवलीगम्य ही है।

निष्कर्ष यह निकला कि व्यवहारचारित्र हेय नहीं है। हाँ! ध्यान में लीन होने पर स्वयमेव छूट जाता है, इस दृष्टि से कथंचित् हेय है, छठे गुणस्थान तक तो उपादेय ही है क्योंकि इसके बिना निश्चयचारित्र हो नहीं सकता।

**शंका**—वीतराग चारित्र ही उपादेय है क्योंकि वह साक्षात् मोक्ष का कारण है ?

**समाधान**—ऐसा भी एकांत नहीं पकड़ना। यदि कोई मुनि उपशम श्रेणी में आरोहण करता है तो उसके अध्यात्म दृष्टि से 8, 9, 10 वें गुणस्थान में भी वीतराग चारित्र है और सिद्धांत की दृष्टि से ग्यारहवें में तो पूर्ण रूप से यथाख्यात नामक वीतराग चारित्र हो ही गया है फिर भी वह मुनि नियम से नीचे गिरता ही है। पुनः वह मुनि ऊपर चढ़कर उसी भव से मोक्ष जावे यह भी नियम नहीं है। यथा—

**''53. अट्ठण्हं..... 54. .....तसेसु आगदो संजमासंजम संजमं च बहुसो गदो। चत्तारिवारे कसाए उवसामित्ता तदो एइंदिएसु गदो। असंखेज्जाणि वस्साणि अच्छिदो.....।''**

**शंका**—आठ मध्यम कषायों का जघन्य प्रदेश संक्रमण किसके होता है ?

**समाधान**—जो जीव एकेन्द्रियों के योग्य जघन्य सत्कर्म के साथ त्रसों में आया। वहाँ पर संयमासंयम और संयम को बहुत बार प्राप्त किया। चार बार कषायों का उपशमन करके तदनन्तर एकेन्द्रियों में गया। वहाँ पर जितने समय में उपशामक काल में बंधे हुये समयप्रबद्ध गलते हैं, उतने असंख्यात वर्षों तक एकेन्द्रियों में रहा। तदनन्तर त्रसों में आया और सर्व लघुकाल से संयम को प्राप्त हुआ। पुनः कषायों की क्षपणा के लिए उद्यत हुआ। ऐसे जीव के अधःप्रवृत्तकरण के चरम समय में आठों मध्यम कषायों का जघन्य प्रदेशसंक्रमण होता है।[1]

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्यक्त्व सहित संयमासंयम और संयम को बहुत बार प्राप्त कर सकते हैं तथा उपशम श्रेणी पर चार बार चढ़ कर वहाँ पर वीतरागी शुद्धोपयोगी हो सकते हैं। फिर कदाचित् एकेन्द्रियों

1. कषायपाहुड़सुत्त, पृ.408।



में जाकर असंख्यात वर्षों तक पुनः भ्रमण कर सकते हैं।

इसलिये यह वीतराग चारित्र या शुद्धोपयोग कथंचित् मोक्ष का कारण है कथंचित् नहीं भी रहा। हाँ, जो मुनि क्षपक श्रेणी में आरोहण करते हैं वे नियम से घातिया कर्मों का क्षय करते ही हैं। इसलिये उपशमश्रेणी वालों के लिए यह शुद्धोपयोग यद्यपि मोहनीय के उपशम करने रूप कार्य के लिये कारण है फिर भी घातिया कर्म के नाश के लिये कारण नहीं है किन्तु क्षपक श्रेणी का शुद्धोपयोग घातिया कर्म के नाश के लिये भी कारण है।

इसी प्रकार से तीर्थंकर प्रकृति का बंध अधिक से अधिक नियम से तृतीय भव में मोक्ष प्राप्ति करायेगा ही करायेगा। अतः तीर्थंकररूप पुण्य प्रकृति भी मोक्ष का कारण ही है तथा क्षायिक सम्यक्त्व भी चतुर्थ भव का उल्लंघन नहीं कर सकता, इसलिये यह भी महत्त्वशाली है।

तत्त्वार्थराजवार्तिक में श्री भट्टाकलंकदेव ने तो गुप्ति आदि को संवर के लिए 'करण' कहा है। यथा—

**''संवृण्वतो गुप्त्यादयः करणम्।8। संवरितुः संवरणक्रियायाः साधकतमत्व-विवक्षायां गुप्त्यादीनां करणभावः प्रत्येतव्यः[1]।''**

संवर करने वाले मुनि के संवरक्रिया की साधकतम विवक्षा में गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषहजय ये करण भावरूप हैं ऐसा जानना चाहिए।

अर्थात् इन गुप्ति आदि के होने पर नियम से संवर होता ही होता है।

यहाँ पर अभिप्राय यही समझना चाहिये कि व्यवहार नयाश्रित रत्नत्रय साधन है और निश्चय नयाश्रित रत्नत्रय साध्य है तथा व्यवहार के बिना वह होता नहीं अतः वर्तमान में व्यवहार रत्नत्रय उपादेय ही है और उसका आश्रय लेने वाले मुनिगण सर्वदा वंद्य हैं अतः चारित्र की सार्थकता स्पष्ट है।

(इस प्रकार व्यवहारनय-निश्चयनयों को कहने वाला यह चतुर्थ परिच्छेद पूर्ण हुआ।)

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक अ.9, सूत्र 2।

## तथ्य क्या है ?

1. निश्चयनय का हेतु द्रव्यार्थिकनय है और व्यवहारनय का हेतु पर्यायार्थिकनय है अतः द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयों को भी समझना चाहिए।
2. अपने विषय को कहकर दूसरे विषय की उपेक्षा करने वाले दुर्नय हैं तथा अपने विषय को कहकर दूसरे की अपेक्षा रखने वाले सुनय हैं।
3. व्यवहारनय असत्य नहीं है। श्री गौतम स्वामी और श्री कुंद-कुंददेव आदि व्यवहारनय के आश्रित चारित्र के धारी थे और इसी का आश्रय लेकर ग्रंथ रचना की है।
4. अपरमभाव सातवें गुणस्थान तक है। वहाँ तक व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है।
5. व्यवहाररत्नत्रय साधन है और निश्चयरत्नत्रय साध्य है। यह सातवें से शुरू होता है।
6. व्यवहारनय और व्यवहारचारित्र ध्यान में स्वयं छूट जाता है बुद्धिपूर्वक छोड़ा नहीं जाता है।
7. जो निश्चय से निश्चयनय को नहीं समझकर उसका अवलंबन ले लेते हैं वे व्यवहारचारित्र और क्रियाओं को हेय समझकर उभय भ्रष्ट हो जाते हैं।
8. श्रावक व्यवहार धर्म का ही पालन करता है निश्चय का तो श्रद्धान करता है चूँकि उसके अभेद चारित्र, सामायिक चारित्र या निश्चय चारित्र नहीं है।
9. श्री गौतम स्वामी और श्री कुंदकुंद आदि आचार्यों के आचरण से और शब्दों से चारित्र की सार्थकता स्पष्ट हो जाती है।
10. व्यवहारचारित्र हेय नहीं है। द्रव्यलिंगी मुनि भी वंद्य हैं।



**(5)**

# निमित्त-उपादान

**बाह्याभ्यंतरहेतुभ्यां, प्रपद्यात्मानमात्मनि।**
**स्वोपादानबलेनैव, ह्यात्मा शुद्धो भवेन्मम।।1।।**

बाह्य और अभ्यंतर निमित्तों से आत्मा में आत्मा को प्राप्त करके अपने उपादान के बल से ही मेरी आत्मा शुद्ध होवे।

[ वर्तमान में मोक्षमार्ग की चर्चा के संदर्भ में यह 'निमित्त' भी कुछ लोगों के लिये विवाद का निमित्त बन गया है। वास्तव में निमित्त, हेतु, साधन और कारण ये पर्यायवाची ही हैं।

सर्वप्रथम सम्यक्त्व के कारणों का स्पष्टीकरण करके यद्यपि निमित्त पर अच्छी तरह से प्रकाश डाला गया है फिर भी यहाँ पर सामान्यतया मोक्ष के लिये या अन्य किसी भी प्रसंग के लिये निमित्त जो कार्य करता है उस पर प्रकाश डाला जा रहा है।

यह नियम है कि प्रत्येक कार्य बाह्य और अंतरंग दोनों हेतुओं की अपेक्षा रखता ही है फिर भी जब बाह्य निमित्त की प्रधानता होती है तब उसी से कार्य हुआ है ऐसा कहा जाता है। यहाँ भी वही अभिप्राय समझ लेना चाहिए कि निमित्त मिलने पर कार्य हो, न भी हो, किन्तु कार्य की सिद्धि बिना निमित्त के नहीं होती है।

सहकारी कारण को निमित्त कहते हैं। अंतरंग कारण को उपादान कहते हैं अथवा जो स्वयं कार्यरूप परिणत हो जावे उसे उपादान कहते हैं। जैसे– सम्यक्त्व की उत्पत्ति में बाह्य कारण जिनबिम्बदर्शन हुआ और अंतरंग कारण दर्शनमोह का उपशम, क्षय या क्षयोपशम हुआ एवं सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये आत्मा के गुण हैं अतः आत्मा सम्यक्त्वरूप से परिणत हुआ है। यहाँ पर आत्मा उपादान है तथा बाह्य और अभ्यंतर दोनों निमित्त कारण हैं।

परन्तु कहीं-कहीं पर अंतरंग हेतु को ही 'उपादान' नाम दे देते हैं जैसे– पुरुषार्थ को निमित्त कहकर दैव को उपादान समझ लेना इत्यादि।]

प्रत्येक कार्य बाह्य और अंतरंग कारणों से ही होते हैं उन उभय के बिना नहीं।

श्री समंतभद्र स्वामी ने कहा है–

**बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः[1]।।60।।**

हे भगवन् ! घट आदि कार्यों में यह जो बाह्य और आभ्यंतर कारणों की पूर्णता है वह आपके मत में जीवादि द्रव्यगत स्वभाव ही है।

**अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा।[2]**

शुभ-अशुभ कर्म अथवा बाह्य और आभ्यंतर दोनों कारणों से उत्पन्न होने वाला कार्य ही जिसका लिंग-ज्ञापक है ऐसी यह भवितव्यता–होनहार किसी भी तरह टाली नहीं जा सकती है।

बाह्य और अंतरंग कारण अथवा निमित्त-उपादान कारण से ही समस्त कार्यों की सिद्धि होती है।

प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिये जो कारण कहे गये हैं वे बाह्य कारण हैं। यद्यपि निसर्गज सम्यक्त्व में बाह्य गुरु के उपदेश रूप कारणों की अपेक्षा नहीं है। फिर भी 'जातिस्मरण और जिनबिम्बदर्शन' ये दो कारण माने ही हैं। वीरसेन स्वामी ने तो 'इन दो कारणों के बिना असंभव है' ऐसा पद दे दिया है तथा क्षायिक सम्यक्त्व के लिये केवली या श्रुतकेवली का पादमूल आवश्यक है उसके बिना सात प्रकृतियों का क्षय असंभव है।

जिन कारणों के होने पर कार्य हो अथवा न भी हो, किन्तु जिन कारणों के बिना कार्य न हो वे समर्थ कारण माने जाते हैं।

जैसे–सम्यक्त्व के होने पर तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो न भी हो, किन्तु सम्यक्त्व के बिना तीर्थंकर प्रकृति का बंध असंभव ही है।

## सम्यक्त्व में ही तीर्थंकर प्रकृति बंधती है

**''सम्मेव तित्थबंधो आहारदुगं पमादरहिदेसु[3]।।''**

असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक सम्यग्दृष्टि के ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। आहारक शरीर और आहारक आंगोपांग का बंध अप्रमत्तसंयत (सातवें) गुणस्थान से लेकर आठवें के छठे भाग तक ही होता है। तथा–

**''पढमुवसमिये सम्मे सेसतिये अविरदादिचत्तारि।**
**तित्थयर बंधपारंभया णरा केवलिदुगंते[4]।।93।।**

1. वासुपूज्य जिन स्तुति–स्वयंभूस्तोत्र। 2. सुपार्श्वजिनस्तुति–स्वयंभूस्तोत्र। 3. कर्मकाण्ड गाथा 92। 4. गोम्मटसार कर्मकांड।



प्रथमोपशम सम्यक्त्व में अथवा बाकी के तीनों (द्वितीयोपशम, क्षयोपशम और क्षायिक) सम्यक्त्व में, असंयत से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक (आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक) मनुष्य ही केवली या श्रुतकेवली के निकट में तीर्थंकर प्रकृति के बंध का आरंभ करते हैं।

यद्यपि यह केवली-श्रुतकेवली का चरण सान्निध्य बाह्य निमित्त कारण है फिर भी इसके बिना कोई भी मनुष्य तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर नहीं सकता है।

## सोलहकारण भावनायें तीर्थंकर प्रकृतिबंध में कारण हैं

''दर्शनविशुद्धता आदि सोलहकारणों से जीव तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म को बांधते हैं।''[1] धवलाकार ने तो एक-एक भावना में अन्य-अन्य भावनाओं को गर्भित करके एक-एक भावना के द्वारा भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध माना है अर्थात् जब एक-दो आदि व्यक्त भावनाओं से तीर्थंकर प्रकृति का बंध माना जाय तब यह समझना कि उस भावना में शेष भावनायें अंतर्गर्भित हैं[2]।''

## द्रव्यवेद मोक्ष में निमित्त है भाववेद नहीं

ऐसे ही यदि कोई द्रव्य से पुरुषवेदी है और भाव से वह पुरुष स्त्रीवेदी या नपुंसक वेदी है तो वह क्षपकश्रेणी पर आरोहण करके कर्मों का नाशकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। किन्तु जो स्त्री द्रव्य से स्त्रीवेदी है तथा भाव से पुरुषवेदी है वह भावों से पंचम गुणस्थान के ऊपर न चढ़ सकने के कारण उस भव में मोक्ष की अधिकारिणी नहीं है। यहाँ पर बाह्य निमित्त इतना बलवान देखा जाता है जो कि अंतरंग भाववेदों की महत्ता नहीं रखता है।

## शास्त्र भी शुद्धस्वरूप के लिए निमित्त हैं

मूलाचार की टीका में श्री वसुनन्दि आचार्य कहते हैं–

**''मूलगुणैः शुद्धस्वरूपं साध्यं, साधनमिदं मूलगुणशास्त्रं[3]।''**

मूलगुणों के द्वारा आत्मा का शुद्धस्वरूप साध्य है और मूलगुण प्रतिपादक यह शास्त्र साधन है।

## मूलगुण उत्तर गुणों के लिए निमित्त हैं

**''मूलगुणाः प्रधानानुष्ठानानि उत्तरगुणाधारभूतानि।''**

मूलगुण अर्थात् प्रधान अनुष्ठान जो उत्तर गुणों के लिए आधारभूत हैं।

1. धवला पु. 8, सूत्र 41। 2. धवला पु. 8, पृ.79 से 90 तक। 3. मूलाचार सटीक पृ. 4।

**''मूलगुणान् सर्वोत्तरगुणाधारतां गतानाचरणविशेषान्''**[1]

सभी उत्तर गुणों के आधारपने को प्राप्त ऐसे आचरण विशेष जो मूलगुण हैं उनको मैं कहूँगा।

अभिप्राय यह हुआ कि मूलगुणों के बिना आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति और उत्तर गुणों की सिद्धि असम्भव है। ऐसे ही आवश्यक क्रिया का लक्षण करते हुए कहा है–

## आवश्यक क्रियायें कर्मनिर्मूलन में निमित्त हैं

**''आवासया-आवश्यकानि निश्चयक्रिया सर्वकर्मनिर्मूलन समर्थनियमाः[2]।''**

अवश्य करने योग्य कार्य को आवश्यक कहते हैं। ये ही निश्चय क्रियायें हैं ये ही सर्व कर्मों के निर्मूलन करने में समर्थ नियम हैं।

समता, स्तव, वंदना आदि छह आवश्यक क्रियाएँ हैं। आगे इन आवश्यक क्रियाओं में वंदना आवश्यक में कृतिकर्म का लक्षण करते हुए कहा है–

**''कृत्यते छिद्यते अष्टविधं कर्म येनाक्षरकदंबकेन परिणामेन क्रियया वा तत्कृतिकर्म पापविनाशनोपायः[3]।।''**

जिन अक्षर समूह से, परिणामों से या क्रिया से आठ प्रकार के कर्मों को काटा जाता है, छेदा जाता है वह कृतिकर्म है।

यहाँ पर स्तव आदि के अक्षरसमूह से भी कर्मों का छेदन होना माना गया है।

## अरहंत भगवान कर्मक्षय में निमित्त हैं

इसी अभिप्राय को लेकर श्रीकुंदकुंददेव भी कहते हैं–

**चउसट्ठिचमरसहिओ चउतीसहि अइसएहिं संजुत्तो।**
**अणबरबहुसत्तहिओ कम्मक्खयकारणणिमित्तो[4]।।29।।**

जिन पर चौंसठ चंवर ढुराये जा रहे हैं, जो चौंतीस अतिशयों से संयुक्त हैं, जो अनवरत बहुत से जीवों का हित करते हैं ऐसे वे अर्हंत भगवान कर्मक्षय के कारण में निमित्त हैं।

श्री गौतम स्वामी के द्वारा बनाई हुई चैत्य भक्ति व श्री कुंदकुंददेव रचित दश भक्तियों में ऐसे अनेकों उदाहरण दिखते हैं।

श्री कुंदकुंददेव ने नियमसार में सम्यक्त्व के लिए बाह्य निमित्त व अंतरंग निमित्त को तो कहा ही है किन्तु अंत में उन्होंने ग्रंथ के बनाने में भी हेतु व्यक्त किया है–

1. मूलाचार पृ. 2, 3। 2. मूलाचार पृ. 3। 3. मूलाचार पृ.440। 4. दर्शनपाहुड़।



**'णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं।**
**णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं।।187।।**

मैंने पूर्वापर दोष रहित, जिनोपदेश का परिज्ञान कर निज भावना में निमित्त कारणभूत इस नियमसार नामक शास्त्र को बनाया है।

## संसारस्थितिछेद के कारण

समयसार के आस्रव अधिकार में आचार्य श्री जयसेन ने 'उक्तं च' कहकर परमागम के कहे अनुसार संसार स्थिति छेद के कारण बताये हैं–

तथा चोक्तं सिद्धांते **''द्वादशांगावगमस्तत्तीव्रभक्तिरनिवृत्तिपरिणामः केवलि-समुद्घातश्चेति संसारस्थितिघातकरणानि भवंति।''**

''द्वादशांग का ज्ञान, उसकी तीव्र भक्ति, अनिवृत्ति परिणाम और केवलीसमुद्घात ये चार संसार स्थिति का घात करने वाले होते हैं।''

पुनः टीकाकार ने 'द्वादशांगावगम' से द्रव्यश्रुत और भावश्रुत ज्ञान 'तत्तीव्र भक्ति' से **'भक्तिः पुनः सम्यक्त्वं भण्यते'** ऐसा कहकर व्यवहार और निश्चय सम्यक्त्व एवं 'अनिवृत्तिपरिणाम' से एकाग्र परिणतिरूप चारित्र लिया है। उसमें **सरागचारित्रान्तरं वीतराग चारित्रं जातं** ऐसा कहकर व्यवहार और निश्चयरूप उभय चारित्र को लिया है। यथा– **सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि भेदाभेदरत्नत्रय-रूपेण संसारविच्छित्तिकारणानि भवन्ति। केषां ? छद्मस्थानामिति।** ये भेद-अभेद रत्नत्रय संसार का घात करने वाले हैं। किनके ? छद्मस्थजनों के। और केवली समुद्घात केवली भगवान के संसार का घात करने वाला है[1]।''

अर्थात् रत्नत्रय तो छद्मस्थों के संसार स्थिति का घात करते हैं और केवली समुद्घात केवली भगवान के अघाति कर्मों की स्थिति का घात करता है।

## तीर्थंकर का विहार प्राणियों के सुख में निमित्त है

**तित्थयरस्स विहारो लोअसुहो णेव तत्थ पुण्णफलो।**
**वयणं च दाणपूजारंभयरं तं ण लेवेइ।।54।।**

तीर्थंकरों का विहार संसार के लिए सुखकर है परन्तु उससे तीर्थंकर को पुण्यरूप फल प्राप्त होता हो ऐसा नहीं है तथा दान और पूजा आदि आरंभ के करने वाले वचन उन्हें कर्मबंध से लिप्त नहीं करते अर्थात् वे दान, पूजा आदि आरम्भों का जो उपदेश देते हैं उससे उन्हें कर्मबंध नहीं होता है।

1. समयसार गाथा 173-176 की तात्पर्यवृत्ति टीका।

इससे यह भी स्पष्ट है कि तीर्थंकरों ने दान-पूजा आदि करने का उपदेश दिया है अतः वह सब मोक्षमार्ग है, हेय नहीं है।

## सम्यग्दृष्टि का पुण्य संसार का कारण नहीं है प्रत्युत्मोक्ष का कारण है

भावसंग्रह में श्री देवसेनाचार्य कहते हैं–

**सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।।404।।**

सम्यग्दृष्टि का पुण्य संसार का कारण नहीं होता। प्रत्युत्–

**तम्हा सम्माइट्ठी, पुण्णं मोक्खस्स कारणं हवइ।।424।।**

अतः सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण होता है।

## अरिहंत भगवान पुण्य के फल हैं

तीर्थंकर प्रकृति पुण्य प्रकृति है। इसका बंध आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक माना है। जबकि आठवें में जीव श्रेणी आरोहण में है और वहाँ शुक्लध्यान है, निर्विकल्प परिणति है तथा उस प्रकृति का उदय आने पर अर्हंत भगवान 'पुण्य के फल' माने जाते हैं। सो ही कहा है–

**पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।**
**मोहादीहिं विरहिया तम्हा सा खाइग त्ति मदा[1]।।45।।**

अरहंत भगवान (तीर्थंकर नामक) पुण्य प्रकृति के फल हैं और उनकी क्रिया निश्चय से औदयिकी है, वह क्रिया मोहादि से रहित है अतः वह 'क्षायिकी' ऐसा मानी गई है।

**अर्हंतः खलु सकलसम्यक्परिपक्वपुण्यकल्पपादपफला एव भवन्ति।**

''अर्हंत भगवान वास्तव में सम्यक् प्रकार से सम्पूर्ण परिपक्व हुए पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के फल ही हैं। उनकी सब क्रियायें पुण्य के उदय से औदयिकी हैं फिर भी मोह का अभाव हो जाने से वे कर्मबंध नहीं कर सकती हैं अतः उन्हें क्षायिकी ही क्यों न कह देवें[2]।''

श्री जयसेनाचार्य भी इसकी टीका में कहते हैं–जो पंच महाकल्याणक की पूजा को करने वाला है, त्रैलोक्य को जीतने वाला है वह तीर्थंकर नाम का पुण्य कर्म है उसी के फलभूत अर्हंत भगवान होते हैं, इत्यादि।

अर्थात् तीर्थंकर प्रकृति को सातिशय पुण्य प्रकृति कहा गया है। वे अनंत प्राणियों के अनुग्रह करने में समर्थ ऐसे धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं। यह प्रकृति कर्मरूप होते हुए भी कथमपि संसार का कारण नहीं है।

1. प्रवचनसार। 2. श्री अमृतचंद्रसूरिकृत टीका।



## दिगम्बर मुद्रा मुक्ति का कारण है

श्री कुंदकुंददेव सूत्रपाहुड़ में कहते हैं–

**णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।**
**णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे।।23।।**

वस्त्र धारण करने वाला मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है भले ही वह तीर्थंकर ही क्यों न हो, ऐसा जिनशासन में कहा है। अतः नग्न दिगम्बरपना ही मोक्ष का मार्ग है, इसके सिवाय शेष सभी उन्मार्ग हैं।

## पुण्यास्रव भी मोक्ष का कारण है

देखिये श्री भट्टाकलंक देव के वचन–

**''तत्र पुण्यास्रवो व्याख्येयः प्रधानत्वात् तत्पूर्वकत्वात् मोक्षस्य[1]।''**

इस सप्तम अध्याय में अब पुण्यास्रव का व्याख्यान करना चाहिए, क्योंकि वह प्रधान है। ऐसा क्यों ? तो उस पुण्यास्रवपूर्वक ही मोक्ष होता है अर्थात् मोक्ष के लिए यह कारण है।

तभी तो जीवों से व्याप्त इस लोक में विचरण करते हुए भी मुनि कर्मों की निर्जरा करते रहते हैं–

प्रश्न यह हुआ कि–

**'कथं चरे कथं चिट्ठे कथमासे कथं सए।**
**कथं भुंजेज्ज भासेज्ज जदो पावं ण बंधइ'।।**

हे भगवन्! कैसे आचरण करें ? कैसे ठहरें ? कैसे बैठें ? कैसे शयन करें ? कैसे भोजन करें ? और कैसे बोलें कि जिससे पापों का बंध नहीं होवे।

तब–**जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सए।**
**जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बंधइ[2]।।63।।**

यत्नपूर्वक आचरण करो, यत्नपूर्वक खड़े रहो, यत्नूपूर्वक बैठो, यत्नपूर्वक शयन करो, यत्नपूर्वक भोजन करो और यत्नपूर्वक संभाषण करो, इस प्रकार से पाप कर्म का बंध नहीं होता है।

और तभी तो कहा है–

**घडियाजलं व कम्मे अणुसमयसंखगुणियसेढीए।**
**णिज्जरमाणे संते वि महव्वईणं कुदो पावं[3]।।60।।**

1. तत्त्वार्थवार्तिक अ.7, पृ.533। 2. मूलाचार, जय ध.पु.पृ.112।3. जयधवला पु.1, पृ.107।

जब महाव्रतियों के प्रतिसमय घटिका यंत्र के जल के समान असंख्यात गुणश्रेणीरूप से कर्मों की निर्जरा होती रहती है तब उनके पाप कैसे संभव है? अर्थात् कथमपि उनके पाप का बंध नहीं हो सकता। निष्कर्ष यह निकला कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये ही बंध के कारण हैं न कि अणुव्रत, महाव्रत आदि। ये व्रत तो मोक्ष के लिए कारणभूत ऐसे रत्नत्रय के अंतर्गत हैं।

## व्रत निर्जरा के कारण हैं

यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि के व्रतों के वृद्धिंगत होने पर क्रम-क्रम से कर्मों की निर्जरा बढ़ती चली जाती है–

"तीनों कारणों के अंतिम समय में वर्तमान विशुद्ध मिथ्यादृष्टि के जो गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य है उससे प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति होने पर असंयतसम्यग्दृष्टि के प्रतिसमय में होने वाली गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यातगुणा है। इससे देशविरत के गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुणा है। इससे सकलसंयमी के गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यातगुणा है.....।"

## कर्मनिर्जरा का काल निश्चित नहीं है

इसीलिये तो श्री भट्टाकलंक देव ने कर्मनिर्जरा का काल निश्चित नहीं किया है–

**"कालानियमाच्च निर्जरायाः।9। यतो न भव्यानां कृत्स्नकर्मनिर्जरापूर्वकमोक्षकालस्य नियमोऽस्ति[2]।"**

निर्जरा के काल का कोई नियम नहीं है, क्योंकि, भव्यों के सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरापूर्वक मोक्ष के काल का कोई नियम नहीं है।

## मोक्ष अकारण नहीं है

कुछ सम्प्रदाय वाले मोक्ष को अकारण मानते हैं व कुछ सम्प्रदाय वाले संसार को ही अहेतुक कहते हैं। अष्टसहस्री ग्रंथ में उनकी मान्यता का निरसन करते हुये आचार्य महोदय ने मोक्ष व संसार दोनों को सकारण सिद्ध किया है।

**"सकारणको मोक्षः, प्रतिनियतकालादित्वात् पटादिवत्। तस्याकारणकत्वे सर्वदा सर्वत्र सर्वस्य सद्भावानुषङ्गः, परापेक्षारहितत्वादिति। नागमेनापि मोक्षकारणतत्त्वं बाध्यते, तस्य तत्साधकत्वात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः, इति वचनात्[3]।"**

1. जयधवला पु.1, पृ.106। 2. तत्त्वार्थवार्तिक अ.1, सूत्र 3, पृ.24। 3. अष्टसहस्री मूल, कारिका 6, पृ.62।



मोक्ष कारण सहित है, क्योंकि प्रतिनियत काल आदिपूर्वक होती है वस्त्रादि के समान अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और तीर्थ आदि सामग्री के बिना मोक्ष नहीं हो सकता है इसलिए सकारण है। अन्यथा मोक्ष को बिना निमित्त के मानने पर तो सर्वदा सभी जगह सभी को मोक्ष प्राप्त हो जायेगा, चूँकि वह पर की अपेक्षा से रहित है तथा आगम से भी मोक्ष का कारण तत्त्व बाधित नहीं है। बल्कि वह उस निमित्त का साधक ही है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं, यह आगम वाक्य है।

## संसार अकारणक नहीं है

ऐसे ही संसार भी अनिमित्तक नहीं है–

**"निर्हेतुकः संसारोऽनाद्यनन्तत्वादाकाशवत्।" इति चेन्न, पर्यायार्थादेशात्संसारस्यानाद्यनन्तत्वासिद्धे...। तस्य तत्साधकत्वात् 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः' इति वचनात् बंधहेतुनामेव संसारहेतुत्वात्[1]।"**

कोई कहता है कि "संसार अहेतुक है क्योंकि वह अनादि अनंत है आकाश के समान। तो आचार्य कहते हैं ऐसा नहीं कहना, पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से संसार अनादि अनंत नहीं है। द्रव्यार्थिकनय से है तो हमें इष्ट ही है। सुखदुख आदि पर्यायों के वर्तनरूप जो यह संसार है वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पाँच प्रकार का है। 'मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बंध के कारण हैं'। और ये बंध के कारण ही तो संसार के कारण हैं।"

निष्कर्ष यही निकला कि जैसे संसार सनिमित्तक है वैसे ही मोक्ष भी सनिमित्तक है। मोक्ष के कारण सम्यक्चारित्र में सकल चारित्र और विकल चारित्र से दो भेद हो जाते हैं। विकल चारित्र में बारह व्रतों के अंतर्गत चार शिक्षाव्रतों में दान और पूजा का ग्रहण है अतः ये दान पूजा आदि मोक्ष के ही कारण हैं यह निश्चित समझना चाहिए।

## संसार के कारण

श्री कुंदकुंददेव ने समयसार ग्रंथ में भी संसार के कारण व मोक्ष के कारण बताये हैं।

**मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।**
**अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा[2]।।87।।**

1. अष्टसहस्री मू.पृ.66। 2. समयसार।

मिथ्यात्व पुनः दो प्रकार का है–एक जीव मिथ्यात्व, दूसरा अजीव मिथ्यात्व, और उसी प्रकार से अज्ञान, अविरति, योग, मोह और क्रोधादि कषाय ये सभी भाव जीव-अजीव के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। यहाँ अजीव मिथ्यात्व आदि बाह्य निमित्त हैं और जीव मिथ्यात्व आदि अंतरंग निमित्त हैं अथवा उपादान कारण हैं।

**जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।**
**कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं[1]।।91।।**

यह आत्मा जिस भाव को करता है उसी भाव का कर्त्ता आप होता है। उसके कर्त्ता होने पर पुद्गल द्रव्य कर्मरूप से अपने आप परिणमन कर जाता है।

**जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।**
**तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा[2]।।102।।**

आत्मा जिस शुभ या अशुभ भाव को करता है वह निश्चय से उस भाव का कर्त्ता होता है और वह भाव उसका कर्म होता है, वही आत्मा उस कर्म का भोक्ता होता है।

**सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।**
**मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा।।109।।**
**तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो।**
**मिच्छादिट्ठी आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं[3]।।110।।**

सामान्य से प्रत्यय चार हैं वे बंध के करने वाले हैं। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। उनके भी भेद तेरह हो जाते हैं जो कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर सयोगी पर्यंत जानना अर्थात् पहले गुणस्थान से लेकर सयोगी गुणस्थान पर्यंत ही ये कारण होते हैं। सयोगी में मात्र एक योग ही कारण है। उस योग में एक समय की स्थितिवाला साता कर्म बंधता है। यहाँ भी जीव मिथ्यात्वादि व अजीव मिथ्यात्वादि समझने चाहिए।

यदि जीव का कर्म के साथ बंध न हो और जीव क्रोधादि विकार भावों से परिणमन नहीं करता हो तो क्या होगा ?

**संसारस्य अभावो पसज्जदे संखसमओ वा[4]।।122।।**

तो संसार का अभाव हो जायेगा या सांख्य का एकांत मत आ जायेगा। इत्यादि रूप से गाथा 121 से 125 तक जीव को संसारी कहा है।

1-2-3-4. समयसार।



## मोक्ष के कारण

अब आप श्री कुंदकुंददेव के समयसार में मोक्ष के कारणों को देखिये–

**दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।**
**ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो॥16।।**

साधु को दर्शन, ज्ञान और चारित्र नित्य ही सेवन करने योग्य है। पुनः इन तीनों को भी निश्चय से आत्मा ही जानना चाहिए अर्थात् व्यवहार से ये तीन हैं और निश्चय से तीनों स्वरूप एक आत्मा ही है।

यहाँ पर भी भेदरत्नत्रय बाह्य कारण होने से निमित्त है और अभेदरत्नत्रय अंतरंग कारण होने से उपादान है।

आगे और कहते हैं–

**जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।**
**रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो।।155।।**

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान सम्यक्त्व है, उन्हीं का जानना वह ज्ञान है और रागादि का त्याग करना चारित्र है यही मोक्ष का पथ है।

## भेदाभेदरत्नत्रय से यतियों के ही कर्मों का क्षय होता है

**मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।**
**परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ।।15।।**

विद्वान्जन निश्चय के विषय को छोड़कर व्यवहार से प्रवृत्ति करते हैं परन्तु परमार्थभूत–आत्मस्वरूप के आश्रित यतीश्वरों के ही कर्म का नाश कहा गया है अथवा जयसेन स्वामी ने इसका ऐसा अर्थ किया है कि–

निश्चय को छोड़कर व्यवहार में विद्वान् प्रवृत्ति नहीं करते हैं क्योंकि निश्चय का आश्रय लेने वाले यतियों के ही कर्मों का क्षय होता है।

इस गाथा से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि श्री कुंदकुंद आचार्य ने समयसार में निश्चय का आश्रय लेने का उपदेश मुनियों के लिये ही दिया है। वे ही निश्चय के अवलम्बन के पात्र हैं श्रावक नहीं हैं। जगह-जगह गाथाओं में साधु, यति, मुनि आदि का प्रयोग किया है कहीं पर भी श्रावक का प्रयोग नहीं किया है चूँकि वे पहले श्रावक के देशव्रतों से आगे मुनि के सकलव्रतों में आयेंगे तभी वे निश्चय के विषयभूत आत्मा का अवलम्बन ले पायेंगे, अन्यथा नहीं।

आगे भी कहते हैं कि–

1. समयसार।

**''जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा[1]।''**

जो सर्व परिग्रह से रहित आत्मा है वही आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा को ध्याता है.....।

## संसार से छूटने का क्रम

आगे संवर अधिकार में भी बहुत ही सुंदर क्रम बताया है–

''पूर्व में कहे हुये राग-द्वेष मोहरूप आस्रवों के हेतु सर्वज्ञदेव ने मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग ये चार अध्यवसान कहे हैं सो ज्ञानी के इन हेतुओं का अभाव होने से नियम से आस्रव का निरोध होता है। आस्रव भाव के बिना कर्म का भी निरोध हो जाता है। कर्म के अभाव से नोकर्मों का भी निरोध हो जाता है तथा नोकर्मों का निरोध हो जाने से संसार का निरोध हो जाता है[2]।''

व्यवहार-निश्चय रत्नत्रय को आगे भी लिया है–

**आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं।**
**छज्जीवणिकं च तहा भणइ चरित्तं तु ववहारो।।276।।**

**आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च।**
**आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो[3]।।277।।**

आचारांग आदि शास्त्र तो ज्ञान है, जीवादि तत्त्व है वह दर्शन है और छह काय के जीवों की रक्षा सो चारित्र है यह व्यवहारनय कहता है और निश्चय से मेरी आत्मा ही ज्ञान है, मेरी आत्मा ही दर्शन और चारित्र है, मेरी आत्मा ही प्रत्याख्यान है, मेरी आत्मा ही संवर और योगध्यान है, इत्यादि।

## कर्म के निमित्त से जीव संसारी है

श्री अकलंकदेव आत्मा को कर्म के निमित्त से मूर्तिक कह रहे हैं–

**अमूर्तित्वादभिभवानुपपत्तिरिति चेत्; न; तद्विशेषसामर्थ्योपलब्धेश्चैतन्यवत् ।24**
**अनेकांतात्।25।.....यस्यैकांतेनामूर्त्तिरेवात्मा भवेत्, तस्यायं दोषो नार्हतस्य।**

उक्तं च– **बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो होदि तस्स णाणत्तं।**
**तम्हा अमुत्तिभावो णेयंतो होदि जीवस्स[4]।।**

''चूँकि आत्मा अमूर्त है अतः उसका कर्मपुद्गलों से अभिभव नहीं होना चाहिए।''

''अनादि कर्मबंधन के कारण उसमें विशेष शक्ति आ जाती है। अनादि

1. समयसार गा.188। 2. समयसार गा. 190, 191, 192। 3. समयसार। 4. तत्त्वार्थवार्तिक अ.2 सू.7।



पारिणामिक चैतन्यवान आत्मा की नर-नारकादि अथवा मतिज्ञानादिरूप पर्यायें भी चेतन ही हैं, फिर भी वह अनादि कार्मण शरीर के कारण मूर्तिमान हो रहा है और इसीलिये उस पर्याय संबंधी शक्ति के कारण कर्मों को ग्रहण करता है। जैन सिद्धांत में अनेकांत है, आत्मा कर्मबंध के कारण कथंचित् मूर्तिक है तथा अपने ज्ञानादि स्वभाव को न छोड़ने के कारण 'कथंचित्' अमूर्तिक है।''.....

कहा भी है–

बंध की दृष्टि से आत्मा और कर्म में एकत्व है और लक्षण की दृष्टि से दोनों में भिन्नता है अतः आत्मा एकांत से अमूर्तिक नहीं है।

इसी बात को पर्यायांतर से समयसार में भी कहा है–

**सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणवच्छण्णो।**
**संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं।।160।।**

यह आत्मा स्वभाव से सर्व को जानने, देखने वाला सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है तो भी अपने कर्मरूपी रज से आच्छादित होता हुआ संसार अवस्था को प्राप्त है अतः सर्व प्रकार से सर्व-लोकालोक को नहीं जानता है।

दोनों नयों की अपेक्षा से भी समयसार में कहते हैं–

**जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।**
**सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं।।141।।**

जीव में कर्म बद्ध है तथा स्पृष्ट है यह व्यवहारनय का वचन है और जीव में कर्म अबद्धस्पृष्ट है अर्थात् न बंधता है न स्पर्शता है यह शुद्धनय का वचन है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव से कर्म का संबंध निमित्तरूप से ही है उपादानरूप से नहीं। फिर भी निमित्त-नैमित्तिक संबंध से ही यह जीव संसार में चारों गतियों में दुःख उठा रहा है और इन कर्मों से छूटकर ही मुक्त होता है।

कर्म यद्यपि पुद्गल हैं, जड़ हैं तो भी **''कर्मोदयहेतुभिर्विनापि शुद्धजीवस्य रागादिपरिणामो जायते स च प्रत्यक्षविरोध आगमविरोधश्च[1]।''** कर्मोदयरूप कारण के बिना भी शुद्धजीव के रागादि परिणाम होते हैं ऐसा मानना तो प्रत्यक्ष से विरूद्ध है और आगम से भी विरुद्ध है अर्थात् कर्मोदय के निमित्त से ही जीव के राग-द्वेष आदि भाव होते हैं और उन भावों से ही आत्मा में पौद्गलिकद्रव्य कर्मों का बंध होता है।

1. समयसार गा. 137, 138 की तात्पर्यवृत्तिटीका।

## आत्मा कर्मों का कर्त्ता भी है और भोक्ता भी है

**''द्रव्यकर्मणामनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण कर्त्ता जीवः रागादिभाव कर्मणाम-शुद्धनिश्चयेन।''**

यह जीव अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्य कर्मों का कर्त्ता है और अशुद्धनिश्चयनय से रागादि भाव कर्मों का कर्त्ता है।

नियमसार में भी यही बात कही है–

**कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारो।**
**कम्मज-भावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो।।18।।**

यह आत्मा व्यवहारनय से पुद्गल कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है तथा निश्चयनय से (अशुद्ध निश्चयनय से) कर्मजनित भावों का कर्त्ता और भोक्ता है।

इन प्रकरणों से यह स्पष्ट है कि संसारी आत्मा व्यवहारनय से ही निमित्त रूप से पुद्गल कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता है, अशुद्ध निश्चयनय से उपादान रूप से निज अशुद्ध भावों का ही कर्त्ता-भोक्ता है। जैसे–कुम्भकार मिट्टी से घड़े को बनाता है उसमें मिट्टी घड़े के लिए उपादान कारण है और कुम्भकार निमित्त कारण है वैसे ही यह आत्मा पुद्गलवर्गणाओं को कर्मरूप परिणमाता है उसमें यह निमित्त कारण है तथा उन पुद्गलों के लिये भी जीव के भाव निमित्त कारण हैं अन्यथा वह पुद्गल कर्मरूप नहीं बनता तथा आत्मा स्वयं अपने रागादि भावों का उपादान कारण है वैसे ही पुद्गल द्रव्य भी कर्मों के लिए उपादान कारण है और जो कारण सहकारी रहता है वह निमित्त कारण है। यद्यपि मिट्टी में हमेशा उपादान कारण मौजूद है किन्तु निमित्तरूप कुम्भकार, चाक, दण्ड आदि के मिले बिना वह मिट्टी कभी घट रूप नहीं बन सकती है वैसे ही कार्मण वर्गणारूप पुद्गल में कर्मरूप होने की उपादान शक्ति मौजूद है किन्तु जीव के रागादि भाव हुये बिना वे पुद्गल वर्गणायें कर्मरूप परिणत नहीं हो सकती हैं। किन्तु जीव के परिणामों का निमित्त लेकर ही कर्मभाव को प्राप्त होती हैं अतः निमित्त के बिना भी कार्य का होना असम्भवही है। जीव के रागादि भाव होवें और कर्म न बंधे ऐसा हो सकता है क्या ? नहीं।

# कर्मनिर्जरा के निमित्तकारण

## मंगल व सरागसंयम कर्मनिर्जरा में निमित्त है

**शंका**–पुण्य कर्म बांधने के इच्छुक देशव्रतियों को मंगल करना युक्त है किन्तु कर्मक्षय के इच्छुक मुनियों को मंगल करना युक्त नहीं है ?



**समाधान**–नहीं, क्योंकि पुण्य बंध के कारणों के प्रति दोनों में समानता है। और तो क्या, देशव्रत के समान सरागसंयम भी पुण्यबंध का कारण है।

**शंका**–तब तो मुनि सरागसंयम का परित्याग कर दें, क्या हानि है ?

**समाधान**–यदि मुनि सरागसंयम को छोड़ दें तो उनके मुक्तिगमन के अभाव का प्रसंग आ जायेगा।

किन्तु सरागसंयम से तो बंध की अपेक्षा मोक्ष ही होता है अर्थात् कर्मों की निर्जरा असंख्यातगुणी होती है। अतः सरागसंयम में मुनियों की प्रवृत्ति होना योग्य ही है।[1]

## महामंत्र भी कर्मनिर्जरा में निमित्त है

''उसी प्रकार से अरहंत नमस्कार मंत्र भी तत्कालीन बंध की अपेक्षा असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा का कारण है।[2]''

इस प्रकरण से यह स्पष्ट है कि देशव्रती तो पुण्य ही करता है, मुनिराज भी सराग संयम, मंगल और महामंत्र के द्वारा पुण्य बंध के साथ-साथ कर्मों की असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरा भी किया करते हैं।

निष्कर्ष यह निकला कि यह मंगल, सरागसंयम और महामंत्र का स्मरण पुण्यबंध के साथ-साथ कर्मनिर्जरा में भी निमित्त है।

## परमानंद और आनंदस्वरूप भावों के लिए ग्रंथ निमित्त है

''परमानंद और आनंदमात्र की 'दो ग्रंथ' यह संज्ञा है। यहाँ परमानंद और आनंदभूत द्रव्यों को भी उपचार से 'दो ग्रंथ' संज्ञा दी है। उनमें से केवल परमानंद और आनंदरूप भावों का भेजना बन नहीं सकता है, इसलिये उनके निमित्तभूत द्रव्यों का भेजना 'दो ग्रंथिक पाहुड़' समझना चाहिए। परमानंदपाहुड़ और आनंदपाहुड़ के भेद से दो ग्रंथिक पाहुड़ दो प्रकार का है। उनमें से केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप नेत्रों से जिसने समस्त लोक को देख लिया है और जो राग-द्वेष से रहित है ऐसे जिनेन्द्रदेव के द्वारा निर्दोष श्रेष्ठ विद्वान् आचार्यों को परम्परा से भव्यजनों के लिए भेजे गये बारह अंगों के वचनों का समुदाय अथवा उनका एक देश 'परमानंद दो ग्रंथिक पाहुड़' कहलाता है। इससे अतिरिक्त शेष जिनागम आनंदपाहुड़ मात्र है[3]।''

इस कथन से यह बात सिद्ध हुई कि 'षट्खण्डागम' और 'कसायपाहुड़'

1. जयधवला पु.1, पृ.8-9। 2. जयधवला पु. 1, पृ.9। 3. जयधवला पु.1, पृ.325।

ग्रंथ तो परमानंद पाहुड़ हैं। शेष समयसार आदि जो भी ग्रंथ हैं वे मात्र 'आनंद पाहुड़ हैं' षट्खण्डागम और कषायप्राभृत द्वादशांग के अंश हैं यह बात प्रारंभ में कह दी गई है।

## निमित्त की बलवत्ता को और भी देखिये

### औषधि भी कर्म को शांत करने में निमित्त है

**''.....मुत्तोसहसंबंधेण परिणामंतरगमणण्णहाणुववत्तीदो।.....''**

''कृत्रिम होते हुये भी कर्म मूर्त ही है। यदि कर्म को मूर्त न माना जाय तो मूर्त औषधि के संबंध से परिणामांतर की उत्पत्ति नहीं हो सकती है अर्थात् रुग्णावस्था में औषधि सेवन करने से रोग के कारणभूत कर्मों में जो उपशांति आदि देखी जाती है वह नहीं बन सकती है इससे मालूम पड़ता है कि कर्म मूर्त ही है।

यह परिणामांतर की प्राप्ति असिद्ध भी नहीं है क्योंकि ऐसा माने बिना ज्वर, कुष्ठ और क्षय आदि रोगों का विनाश बन नहीं सकता। इसलिये औषधि से कर्म में भिन्न परिणाम की प्राप्ति हो जाती है यह बात सिद्ध है।''[1] अर्थात् औषधि असाता कर्म को दूर करने में निमित्त है।

यही बात 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' ग्रंथ में भी कही गई है।

**'सत्यप्यसद्वेद्योदयेंऽतरंगे हेतौ दुःखं बहिरंगे वातादिविकारे तत्प्रतिपक्षौषधौपयोगोपनीते दुःखस्यानुत्पत्तेः प्रतिकारः स्यात्।''.....**

**''कटुकादिभेषजोपयोगजपीडामात्रं स्वफलं दत्वैवासद्वेद्यस्य निवृत्तेर्न कृतप्रणाशः।''**

अंतरंग में असातावेदनीय का उदय होने पर और बहिरंग में वात आदि विकार के होने पर दुःख (रोग) होता है, उस समय उसके विरोधी औषधि के उपयोग करने पर दुःख (रोग) की उत्पत्ति न होने से उसका उपचार हो जाता है।

यदि कोई कहे कि तब तो असाता का उदय होने पर भी दुःखरूप जो उसका फल था उसको बिना भोगे ही वह कर्म चला गया सो 'किये हुए का फल नहीं मिलना' यह एक दोष उपस्थित हुआ ?

आचार्य कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। कडुवी आदि औषधि के उपयोग

1. जयधवला पु.1, पृ.57।



से उत्पन्न हुई जो पीड़ा है उतने मात्र ही अपना फल देकर उस असाता की निवृत्ति हो जाती है। इसलिये 'कृतप्रणाश' दोष नहीं आता है[1]।

यह प्रकरण अकालमृत्यु से सिद्धि के प्रसंग का है। यहाँ पर यह भी समझ लेना चाहिए कि कर्मभूमिज मनुष्य-तिर्यंचों के अकालमृत्यु के लिये 'विषवेदना, रक्तक्षय, भय आदि कारण होते हैं।

श्री कुंदकुंददेव भी कहते हैं–

### अकालमृत्यु में विष भक्षण आदि निमित्त हैं

यथा– **विसवेयणरत्तक्खय-भयसत्थग्गहण-संकिलेसाणं।**
**आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जदे आऊ[2]।।25।।**

विषभक्षण से, वेदना की पीड़ा के निमित्त से, रुधिर के क्षय हो जाने से, भय से, शस्त्रघात से, संक्लेश परिणाम से, आहार तथा श्वांस के निरोध से इन कारणों से आयु का क्षय हो जाता है अर्थात् आयु की उदीरणा होकर अकाल में मरण हो जाता है।

### क्रोध भी निमित्त से ही उत्पन्न होता है

''जिस मनुष्य के निमित्त से क्रोध उत्पन्न होता है वह मनुष्य समुत्पत्ति कषाय की अपेक्षा क्रोध है।''

''किसी अन्य के निमित्त से किसी अन्य में क्रोध उत्पन्न नहीं हो सकता ?''

''यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि कर्मों से कलंकित हुये जीव में कटु वचन के निमित्त से क्रोध की उत्पत्ति देखी जाती है और जो बात पाई जाती है उसके विषय में यह कहना कि यह बात नहीं बन सकती है'' यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा कहने में विरोध आता है[3]।

निमित्त के विषय में धवलाकार की और भी मान्यताएँ देखिये–

### पूर्वाचार्यों की आचार परंपरा का अनुसरण रत्नत्रय में निमित्त है–

**''इदि णायमाइरियपरंपरागयं मणेणावहारिय पुव्वाइरियायाराणुसरणं तिरयणहेउ त्ति पुप्फदंताइरियो मंगलादीणं छण्हं सकारणाणं परूवणट्ठ सुत्तमाह–''[4]**

''आचार्य परम्परा से आये हुए इस न्याय को मन में धारण करके और

1. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, मूल पृ.343। 2. भावपाहुड़। 3. जय धवला पु.1, पृ. 295। 4. धवला पु.1, पृ.8।

पूर्वाचार्यों के आचार का अर्थात् व्यवहार परम्परा का अनुसरण करना 'रत्नत्रय का कारण है' ऐसा समझ कर पुष्पदंताचार्य सकारण मंगलादिक छहों अधिकारों का व्याख्यान करने के लिये मंगलसूत्र कहते हैं'– इत्यादि।

श्री गौतमस्वामी भी व्रतों में लगे हुये दोषों की शुद्धि के लिये प्रतिक्रमण आदि को निमित्त मानते हैं तभी तो उन्होंने मुनियों के पाक्षिक, दैवसिक आदि प्रतिक्रमणों के दण्डक सूत्रों की रचना करके सभी महाव्रती साधुओं के लिये एक अनुपम दोषविशोधक रसायन प्रदान की है। जिसको कि वर्तमान में साधुवर्ग बड़ी ही श्रद्धा भक्ति से ग्रहण करके अपने आपको धन्य मान रहे हैं। देखिये-

## दैवसिक और पाक्षिक आदिक प्रतिक्रमण दोषों की शुद्धि में निमित्त हैं–

**''श्रीगौतमस्वामी मुनीनां दुष्षमकाले दुष्परिणामादिभिः प्रतिदिनमुपार्जितस्य कर्मणो विशुद्ध्यर्थं प्रतिक्रमणलक्षणमुपायं विदधानस्तदादौ मंगलार्थमिष्टदेवता-विशेषं नमस्करोति–**

**श्रीमते वर्धमानाय नमो नमितविद्विषे।**
**यज्ज्ञानान्तर्गतं भूत्वा त्रैलोक्यं गोष्पदायते।।1।।**

श्री गौतमस्वामी इस दुःषमकाल में मुनियों के दुष्परिणाम आदि से प्रतिदिन उपार्जित कर्म की विशुद्धि के हेतु प्रतिक्रमण लक्षण उपाय को कहते हुये उसकी आदि में मंगल हेतु इष्टदेवता विशेष को नमस्कार करते हैं। 'श्रीमते इत्यादि।'

पुनः पाक्षिक प्रतिक्रमण की उत्थानिका में देखिये–

**''श्रीगौतमस्वामी दैवसिकादिप्रतिक्रमणादिभिर्निराकर्तुमशक्यानां दोषाणां निराकरणार्थं बृहत्प्रतिक्रमणलक्षणमुपायं णमो जिणाणमित्यादि।''[2]**

श्री गौतमस्वामी दैवसिक आदि प्रतिक्रमणादिकों के द्वारा निराकरण करने में अशक्य ऐसे दोषों के निराकरण हेतु वृहत्प्रतिक्रमणलक्षण उपाय को कहते हुये उसकी आदि में मंगलार्थ इष्ट देवताविशेष को नमस्कार करते हुये 'णमो जिणाणं' इत्यादि कहते हैं–

## श्री गौतमस्वामी ने अंतिम तीर्थंकर को नमस्कार क्यों किया ?

इन 'णमो जिणाणं' आदि गणधरवलय मंत्रों के अंत में वर्धमान भगवान का नमस्कार पद है तो यह प्रश्न सहज हो सकता है कि 'चौबीसों' तीर्थंकर ही स्तुत्य हैं पुनः अंतिम तीर्थंकर को ही यहाँ क्यों लिया' मानेाउसके उत्तर में ही

1. प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी, पृ.1। 2. प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी, पृ.89।



श्रीगणधर देव कहते हैं–(ऐसा प्रश्न श्री टीकाकार प्रभाचंद्राचार्य ने रखा है।)

**जस्संतियं धम्मपहं णिगच्छे, तस्संतियं वेणयियं पउंजे।**
**कायेण वाचा मणसा वि णिच्चं, सक्कारए तं सिरपंचमेण।।**

जिनके पास में मैंने धर्मपथ को प्राप्त किया है उनके निकट मैं विनय का प्रयोग करता हूँ। मन वचन काय से शिर झुकाकर पंचांग नमस्कारपूर्वक मैं उन वर्धमान स्वामी का सत्कार (नमस्कार) करता हूँ।

इससे भी निमित्त की प्रधानता हो जाती है कि जिनके निमित्त से मुझे मोक्षपद मिला है मैं उनकी विशेष भक्ति करता हूँ।

## निमित्त और उपादान परस्पर सापेक्ष ही सम्यक् हैं

**प्रश्न–**कभी-कभी बिना पुरुषार्थ किए भी कार्यसिद्धि होती देखी जाती है जैसे कि किसी को आकस्मिक भूमि में गड़ा हुआ धन का घड़ा मिल जावे तो इसमें निमित्त क्या रहा ?

**उत्तर–**इसमें बाह्य निमित्त अप्रधान है और अंतरंग का पुण्योदय निमित्त प्रधान है। स्याद्वाद सिद्धांत के वेत्ताओं को बाह्य और अंतरंग कारणों में सापेक्ष दृष्टि रखना चाहिए। इसी बात को श्री समंतभद्रस्वामी ने बहुत ही अच्छे ढंग से समझाया है।

यदि कोई देव का ही एकांत ग्रहण करे तो उसके लिए कहते हैं–

**दैवादैवार्थसिद्धिश्चेद्दैवं पौरुषतः कथं।**
**दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत्।।88।।**

यदि दैव (भाग्य) से ही कार्यों की सिद्धि मानो तो दैव पुरुषार्थ से कैसे बना ? यदि दैव का निर्माण दैव से ही होता है तो किसी को मोक्ष नहीं हो सकेगा और पुरुषार्थ भी निष्फल हो जाएगा।

किन्तु ऐसी बात नहीं है। वर्तमान के पुरुषार्थ से ही भावी समय का निर्माण होता है। यदि कोई पुरुषार्थ का ही एकांत ग्रहण करे तो कहते हैं–

**पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथं।**
**पौरुषाच्चेदमोघं स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम्।।89।।**

यदि पुरुषार्थ से ही कार्य की सिद्धि होती है तो फिर पुरुषार्थ दैव से कैसे हुआ ? यदि कहो कि पुरुषार्थ, पुरुषार्थ से ही होता है तब तो सभी के सभी कार्य सफल हो जाएँगे, क्योंकि पुरुषार्थ तो सभी प्राणियों में है ही है।

किन्तु देखा जाता है कि एक साथ खेत में बीज बोने वालों के भी फसल

में अंतर पड़ जाता है। सो ऐसा क्यों ? कहना पड़ेगा कि उसका भाग्य अनुकूल नहीं है।[1]

अब इस समस्या में श्री समंतभद्रस्वामी कहते हैं–

**अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।**
**बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात्।।91।।**

अनायास–बिना सोचे-विचारे कोई अनुकूल या प्रतिकूल कार्य हो जाता है तो वह स्वदैवकृत माना जाता है, क्योंकि उसमें बुद्धिपूर्वक की अपेक्षा नहीं है अतः वहाँ पुरुषार्थ अप्रधान है दैव प्रधान है और इससे विपरीत प्रयासपूर्वक यदि कोई इष्ट या अनिष्ट कार्य होता है तो वह पुरुषार्थकृत् माना जाता है क्योंकि वहाँ बुद्धिपूर्वक की अपेक्षा विद्यमान है, अतः वहाँ पर दैव की अप्रधानता है, पुरुषार्थ की प्रधानता है।

**शंका–**सर्वज्ञ के ज्ञान में जो झलका है सो तो होगा ही होगा पुनः पुरुषार्थ करने की, नाना निमित्तों को जुटाने की क्या आवश्यकता है ?

**समाधान–**सर्वज्ञ का ज्ञान तो दर्पण के समान है। उसमें हमारा पुरुषार्थ, मोक्ष जाने का समय व उसके लिए मिलने वाले निमित्त सभी झलक चुके हैं। यदि हमारे सामने दर्पण रखा है तो जो हमारी चेष्टाएँ हो रही हैं सो ही उसमें झलक रही हैं तद्वत् सर्वज्ञदेव के ज्ञान में हमारी सम्पूर्ण ही त्रैकालिक स्थिति स्पष्ट है। फिर भी बिना पुरुषार्थ किये कोई भी जीव न आज तक मोक्ष जा सका है और न जा सकता है। यह बात भी उस ज्ञान में झलकी होगी।

आश्चर्य है कि लोग आत्महित के लिए ऐसी कर्तव्यशून्यता का अवलंबन ले लेते हैं किन्तु वैसे ही व्यापार आदि प्रसंगों में थोड़ा संतोष कर लें और सोच लें कि जो मिलना होगा सो मिलेगा, धर्म व कर्तव्य को जलांजलि देकर धन कमाने में आसक्त क्यों होना ? तो उससे उनको लाभ ही होगा न कि हानि। हाँ, जब अतीव प्रयत्न करने के बाद भी कोई कार्य सफल न हो सके अथवा बिगड़ जाए उस समय यही विचार करना चाहिए कि जो होनहार होती है, होकर ही रहती है। अतः अब पश्चात्ताप या अशांति करने से क्या लाभ ? अथवा जो कुछ सर्वज्ञदेव के ज्ञान में प्रतिभासित हुआ है सो हो रहा है। अशांति करने से या संक्लेश करके अशुभ कर्म बंध से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

1. अष्टसहस्री मूल पृ.256, 257, 258।



इसलिए अनेकांत का आश्रय लेकर निश्चय और व्यवहारनय में से किसी एक को मुख्य करके, दूसरे को गौण करना चाहिए और जब दूसरे को मुख्य करें तो प्रथम को गौण कर वस्तु स्वरूप को समझना चाहिए। तभी निमित्त और उपादान का भी सही स्वरूप समझ में आता है, अन्यथा नहीं।

श्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा भी है कि–

**'एकेनाकर्षंती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।**
**अंतेन जयति जैनी नीतिर्मंथाननेत्रमिव गोपी[1]।।225।।**

जैसे ग्वालिन दधि मंथन करते समय हाथ में एक ओर की रस्सी को खींचती है तथा दूसरे हाथ की रस्सी को शिथिल करती है और इस प्रक्रिया से वह नवनीत निकाल लेती है इसी प्रकार से जैनशासन में एक नयदृष्टि (निश्चय) को मुख्य करके दूसरी नयदृष्टि (व्यवहार) को गौण कर दिया जाता है और जब दूसरी दृष्टि (व्यवहार) मुख्य होती है तब पहली दृष्टि (निश्चय) गौण हो जाती है। इससे दोनों ही दृष्टियों का महत्त्व समान है यह स्पष्ट हो जाता है।

## अनेकांत

**प्रश्न–**अनेकांत किसे कहते हैं ?

**उत्तर–**प्रत्येक वस्तु अनंत धर्मात्मक होती है। उन परस्पर विरोधी धर्मों को समझने के लिये ही सप्तभंगी प्रक्रिया मानी गई है। नयों को मुख्य-गौण करके वह प्रक्रिया सिद्ध होती है।

सो ही अकलंकदेव तत्त्वार्थराजवार्तिक में स्पष्ट करते हैं–

''उस स्याद्वादनय से संस्कृत श्रुतनामक प्रमाण के द्वारा प्रत्येक पर्याय के प्रति सप्तभंगी घटित कर जीवादि पदार्थों को जानना चाहिये।''

## सप्तभंगी क्या है ?

**'प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी।।5।।**

एक ही वस्तु में प्रश्न के वश से प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के अविरुद्ध विधि-प्रतिषेध की कल्पना सप्तभंगी है।

जैसे–जीवद्रव्य स्यात् शुद्ध है, निश्चयनय की अपेक्षा से। जीवद्रव्य स्यात् अशुद्ध है, व्यवहारनय की अपेक्षा से।

जीवद्रव्य स्यात् शुद्ध-अशुद्ध है, क्रम से दोनों नयों की विवक्षा करने से।

1. पुरुषार्थसिद्धयुपाय।

जीवद्रव्य स्यात् अवक्तव्य है, युगपत् दोनों नयों की विवक्षा करने से। जीवद्रव्य स्यात् शुद्ध अवक्तव्य है, क्रमशः निश्चयनय की और युगपत् दोनों नयों की अपेक्षा करने से।

जीवद्रव्य स्यात् अशुद्ध अवक्तव्य है, क्रमशः व्यवहारनय की और युगपत् दोनों नयों की अपेक्षा करने से।

जीवद्रव्य स्यात् शुद्ध-अशुद्ध अवक्तव्य है, क्रमशः दोनों नयों की और युगपत् दोनों नयों की विवक्षा होने से।

इसी प्रकार से यह सप्तभंगी वस्तु के प्रत्येक धर्म में घटित कर लेना चाहिए।

**शंका**—यदि अनेकांत में भी विधि-प्रतिषेध कल्पना घटित होती है तो जिस समय अनेकांत में 'नास्ति' भंग प्रयुक्त होगा उस समय एकांतवाद का प्रसंग आ जावेगा और यदि अनेकांत में अनेकांत नहीं लगेगा तो वह उसमें एकांत व्यवस्था हो जावेगी ?

**समाधान**—अनेकांत में भी प्रमाण और नय की दृष्टि से अनेकांत और एकांतरूप से अनेकमुखी कल्पनायें हो सकती हैं। अनेकांत और एकांत दोनों ही सम्यक् और मिथ्या के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं।

प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एकदेश को सयुक्तिक ग्रहण करने वाला सम्यक् एकांत है।

एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकांत है।

एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मों को ग्रहण करने वाला सम्यक् अनेकांत है।

वस्तु को तत्-अतत् आदि स्वभाव से शून्य कहकर उसमें अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करने वाला जो अर्थशून्य वचन विलास है वह मिथ्या अनेकांत है।

सम्यक् एकांत नय कहलाता है एवं सम्यक् अनेकांत प्रमाण कहलाता है। यदि अनेकांत को अनेकांत ही माना जाये और एकांत का लोप किया जाय तो सम्यक् एकांत के अभाव में 'शाखादि के अभाव में वृक्ष के अभाव की तरह' तत्समुदाय रूप अनेकांत का भी अभाव हो जायेगा और यदि एकांत ही माना जाये तो उसके अविनाभावी इतर धर्मों का लोप होने पर प्रकृत धर्म का भी लोप हो जाने से सर्वलोप का प्रसंग प्राप्त होगा। अतः अनेकांत भी अनेकांत रूप है।



जैसे—अनेकांत कथंचित् अस्तिरूप है, प्रमाण की अपेक्षा से। अनेकांत कथंचित् नास्तिरूप है, नय (सम्यक् एकांत) की विवक्षा से। इत्यादि सप्तभंगी प्रक्रिया लगा लेना चाहिए।

अनेकांत छलरूप नहीं है, क्योंकि जहाँ वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करके वचन विघात किया जाता है वहाँ छल होता है। किन्तु अनेकांत सुनिश्चित मुख्य गौण विवक्षा से संभव अनेक धर्मों का सुनिर्णीतरूप से प्रतिपादन करने वाला है।

**प्रश्न**—एक वस्तु में विरोधी अनेक धर्मों का रहना असंभव है अतः अनेकांत संशय का हेतु है ?

**उत्तर**—सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष होने से और विशेष धर्मों के प्रत्यक्ष न होने से किन्तु उभय विशेषों का स्मरण होने पर संशय होता है। जैसे—धुंधली रात्रि में स्थाणु को देखकर पुरुष का संशय होना। किन्तु अनेकांतवाद में विशेष धर्मों की अनुपलब्धि नहीं है, सभी धर्मों की सत्ता अपनी-अपनी निश्चित अपेक्षाओं से स्वीकृत है और उन-उन धर्मों का विशेष प्रतिभास विवादरहित सापेक्षरीति से बताया है। जैसे—एक ही देवदत्त में परस्पर विरोधी पिता-पुत्र, चाचा-भतीजा, मामा-भानजा, शत्रु-मित्र आदि संबंध पाये जाते हैं उसी तरह से एक ही जीव में नित्य-अनित्य, शुद्ध-अशुद्ध, एक-अनेक आदि परस्पर विरोधी धर्म अपनी-अपनी अपेक्षा से पाये जाते हैं। यह निर्विवाद है[1]।

इस प्रकार से नयों को मुख्य-गौण करके अनेकांतरूप से वस्तु के सही स्वरूप को समझना चाहिए और एकांत दुराग्रह से होने वाले मिथ्यात्व को छोड़ देना चाहिए।

## मिथ्यात्व

**शंका**—मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

**समाधान**—जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान न करना अथवा अन्य के द्वारा उपदिष्ट असत् अर्थ का श्रद्धान करना सो मिथ्यात्व है।

इसके गृहीत, अगृहीत की अपेक्षा दो भेद हैं, गृहीत, अगृहीत और सांशयिक की अपेक्षा तीन भेद हैं। एकांत, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान की अपेक्षा से पाँच भेद हैं तथा क्रियावाद आदिकों की अपेक्षा से तीन सौ त्रेसठ भेद भी हेा जाते हैं अथवा जीव के भावों की अपेक्षा संख्यात, असंख्यात और अनंतभेद भी हो जाते हैं। मध्यम रीति से तीन सौ त्रेसठ भेदों का संक्षिप्त स्वरूप देखिये—

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक अ. 1, सूत्र 6।

## तीन सौ त्रैसठ पाखंडमत

''क्रियावादियों के 180, अक्रियावादियों के 84, अज्ञानवादियों के 67 और वैनयिकवादियों के 32 ऐसे 180 + 84 + 67 + 32 = 363 पाखंडमत होते हैं। इनका विशेष वर्णन इस प्रकार है–

'अस्ति' पद को 'आप से' 'पर से' नित्यपने से' और 'अनित्यपने से' इन चार से, जीवादि नव पदार्थ से तथा 'काल', 'ईश्वर', 'आत्मा', 'नियति' और 'स्वभाव' इन पाँच से, ऐसे क्रम से गुणा करने से 1 × 4 × 9 × 5 = 180 भेद क्रियावादियों के होते हैं।

'नास्ति' पद को 'आपसे', 'पर से', पुण्य-पाप रहित सात पदार्थ से और 'काल' आदि पाँच से गुणा करने पर 1× 2 × 7 × 5 = 70 भंग होते हैं। पुनः 'नास्ति' पद को सात पदार्थ और 'नियति' तथा 'काल' इन दो से गुणा करने पर 1× 7 × 2 = 14 भेद हुये। दोनों मिलाकर 70+14=84 भेद अक्रियावादियों के होते हैं।

नव पदार्थ को सप्तभंगी से गुणा करने पर 9 × 7 = 63 भेद हुये। पुनः 'शुद्ध पदार्थ' को अस्ति, नास्ति, उभय और अवक्तव्य इन चार भेदों से गुणा करने पर 1 × 4 = 4 भेद हुये। दोनों मिलाकर 63 + 4 = 67 भेद अज्ञानवाद के होते हैं।

इसका अर्थ यह है कि जीवादि नव पदार्थों में एक-एक को सप्त भंग से न जानना। जैसे कि 'जीव' अस्तिरूप है ऐसा कौन जानता है, नास्ति रूप है ऐसा कौन जानता है, इत्यादि।

देव, राजा, ज्ञानी, यति, वृद्ध, बालक, माता और पिता इन आठों का मन, वचन, काय और दान, इन चार से विनय करना सो 8 × 4 = 32 ये बत्तीस भेद विनयवादियों के हैं। ये विनयवादी गुण-अगुण की परीक्षा किये बिना विनय से ही सिद्धि मानते हैं।

पूर्व में क्रियावादी के भेदों में जो 'अस्ति' 'स्व' 'पर' 'नित्य' 'अनित्य' और नवपदार्थ तथा काल आदि पाँच आये हैं, उनमें से सबका अर्थ तो स्पष्ट ही है। काल ईश्वर आदि पाँचों का अर्थ बताते हैं।

काल ही सबको उत्पन्न करता है और सबका नाश करता है, काल ही सोते हुए प्राणियों में जागता है ऐसे काल को ठगने के लिये कौन समर्थ है। इस प्रकार काल से ही सब कुछ मानना **कालवाद** है।

आत्माज्ञान रहित है, अनाथ है, कुछ कर नहीं सकता, उस आत्मा का



सुख-दुःख तथा स्वर्ग-नरक में गमन आदि सब ईश्वर का किया हुआ होता है। ऐसी मान्यता **ईश्वरवाद** है।

संसार में एक ही महान् आत्मा है, वही पुरुष है, वही देव है, वह सबमें व्यापक है, सर्वांगपने से अगम्य है, चेतना सहित है, निर्गुण है और उत्कृष्ट है। इस तरह आत्मस्वरूप से ही सबको मानना **आत्मवाद** है।

जो जिस समय, जिससे, जैसे, जिसके नियम से होता है, वह उस समय, उससे, वैसे और उसके ही होता है। ऐसा नियम से ही सब वस्तु को मानना **नियतिवाद** है।

कांटे आदि तीक्ष्ण वस्तुओं में तीक्ष्णता कौन करता है ? मृग आदि पशु पक्षियों के अनेक आकार कौन बनाता है ? इत्यादि प्रश्न होने पर कहना पड़ेगा कि सबमें स्वभाव ही है। ऐसे सब को कारण के बिना स्वभाव से ही मानना **स्वभाववाद** है।

इस प्रकार से काल आदि की अपेक्षा से 'अस्ति' आदि के साथ एकांत पक्ष ग्रहण करने से क्रियावादी और अक्रियावादी के भेद होते हैं।

इस प्रकार स्वच्छंद श्रद्धानी पुरुषों ने इन 363 मतों की कल्पना की है। ये पाखण्डी लोगों को ही अच्छे प्रतीत होते हैं।

आगे और भी एकांतवादों को कहते हैं।

जो आलसी है, उद्यम करने में उत्साह रहित है वह कुछ भी फल नहीं भोग सकता। जैसे माता के स्तन का दूध पीना भी बिना पुरुषार्थ के नहीं होता है। इस तरह पुरुषार्थ से ही सर्वकार्य की सिद्धि मानना **पौरुषवाद** है।

मैं केवल भाग्य को ही उत्तम मानता हूँ, निरर्थक पुरुषार्थ को धिक्कार हो। देखो! किले के समान ऊँचा राजा कर्ण युद्ध में मारा गया। इस तरह दैव से ही सिद्धि मानना **दैववाद** है।

जैसे एक अंधा और एक पंगु दोनों वन में प्रतिष्ठ हुये, सो किसी समय वहाँ आग लग जाने से ये दोनों एक दूसरे के संयोग से बचकर नगर में आ गये। ऐसे ही संयोग से ही सर्वकार्य सिद्ध होते हैं। ऐसा कहना **संयोगवाद** है।

एक बार की उठी हुई लोकप्रसिद्धि देवों द्वारा भी दूर नहीं की जा सकती, अन्य की तो बात क्या है। देखो! द्रौपदी ने केवल अर्जुन के गले में वरमाला डाली थी किन्तु 'इसने पाँचों को वरा है' ऐसी प्रसिद्धि हो गयी। इस तरह लोक प्रवृत्ति को ही सर्वस्व मानना **लोकवाद** है।

आचार्य कहते हैं कि बहुत कहने से क्या ? जितने भी वचन बोलने के मार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय हैं। तात्पर्य यही है कि जो कुछ भी बोला जाता है वह कुछ न कुछ अपेक्षा को लिये ही होता है। उस जगह जो अपेक्षा है वही नय है और बिना अपेक्षा से बोलना या एक ही अपेक्षा से अनंत धर्मवाली वस्तु को सिद्ध करना यही परमतों में मिथ्यापना है।

सो ही स्वयं कहते हैं–

पर मतों के वचन 'सर्वथा' कहने से नियम से असत्य होते हैं और जैनमत के वचन 'कथंचित्' (किसी एक प्रकार) से कहने से सत्य होते हैं।"[1]

**शंका**–हमेशा अपने मत का मंडन करना चाहिए, दूसरों के मत को मिथ्या कहने और उसके खंडन करने की क्या आवश्यकता है ?

**समाधान**–सर्वथा ऐसा एकांत नहीं है, चूँकि दूसरों के मिथ्यामत के स्वरूप को समझे बिना और शिष्यों को समझाये बिना उनका त्याग करना असंभव है तथा यह पाखंडमतों का निराकरण तो द्वादशांग के अंतर्गत है। दृष्टिवाद नाम के बारहवें अंग में इनका वर्णन आता है। यथा–

"दृष्टिवाद नाम के अंग में कौत्कल, काण्ठेविद्धि, कौशिक आदि क्रियावादियों के 180 मतों का; मारीचि, कपिल, उलूक आदि अक्रियावादियों के 84 मतों का शाकल्य, बल्कल आदि अज्ञानवादियों के 67 मतों का तथा वशिष्ठ, पाराशर आदि वैनयिकवादियों के 32 मतों का वर्णन और उनका निराकरण किया गया है।[2]"

ऐसे ही कुश्रुतज्ञान के प्रकरण में कहा है कि–"चौर शास्त्र, हिंसा शास्त्र, भारत और रामायण आदि के तुच्छ और साधन करने के अयोग्य उपदेशों को श्रुत अज्ञान कहा है।"[3]

तात्पर्य यही हुआ कि ये सब मिथ्यामत, मिथ्या अनेकांत और मिथ्या एकांत से ही कल्पित किये गये हैं तथा इनके कहने वाले शास्त्र भी मिथ्यात्व के पोषक होने से कुश्रुत ही हैं। इनके स्वरूप को समझकर इन सबका त्याग करके स्याद्वादमय अनेकांत धर्म का आश्रय लेना चाहिए।

हुंडावसर्पिणी के निमित्त से इस काल में अनेकों द्रव्य मिथ्यात्व उत्पन्न हो गये हैं किन्तु भाव मिथ्यात्व तो सर्वत्र-विदेह क्षेत्र में, विजयार्ध की श्रेणियों में, स्वर्गादि में व सर्वकाल में पाया ही जाता है। ये द्रव्य और भाव दोनों मिथ्यात्व सर्वदा त्याज्य ही हैं।

1. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा 886 से 895। 2. धवला पु. 1, पृ.108-109। 3. धवला पु.1 , पृ. 360।



## द्रव्य की स्वतन्त्रता का अभिप्राय

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं। इनमें से धर्म आदि चार द्रव्य सदा निष्क्रिय, अमूर्त और शुद्ध हैं। इनमें स्वभाव परिणमन ही होता है, विभाव परिणमन नहीं। किन्तु जीव और पुद्गल अनादिकाल से विभावरूप परिणमन कर रहे हैं। पुद्गद द्रव्य स्कंधरूप परिणत होकर अशुद्ध हो रहा है।[1] वह जब अणुरूप होता है तब भेद से ही होता है। अनादिकाल से कभी अणुरूप शुद्ध नहीं था "भेदादणुः।" इस सूत्र से यह बात स्पष्ट है। ऐसे ही जीव भी संसारावस्था में अशुद्ध ही है पुनः कर्म से मुक्त होकर ही शुद्ध होता है। धर्म आदि चार द्रव्यों में यद्यपि विभाव परिणमन नहीं है फिर भी ये अन्य द्रव्य के लिये निमित्त अवश्य बनते हैं। अन्यथा यदि ऐसी बात न होती तो श्री कुंदकुंददेव ऐसा क्यों कहते कि–

**जीवाण पोग्गलाणं गमणं जाणेइ जाव धम्मत्थी।**
**धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति[3]।।3।।**

जहाँ तक धर्मास्तिकाय है वहीं तक जीव और पुद्गलों का गमन जानना चाहिए क्योंकि धर्मास्तिकाय के अभाव में उसके आगे ये नहीं जाते हैं।

श्री उमास्वामी आचार्य ने भी अलोकाकाश में जीव के गमन का निषेध करते हुए यही हेतु दिया है–

**"धर्मास्तिकायाभावात्[4]।"**

यदि यह धर्मद्रव्य जीवों की गति में निमित्त न होता तो आचार्य कह सकते थे कि 'लोकाकाश के परे गमन करने की योग्यता का अभाव है' किन्तु ऐसा तो नहीं है प्रत्युत् धर्मास्तिकाय के अभाव को हेतुरूप में लिया है।

**शंका**–पुनः द्रव्यों की स्वतंत्रता कहाँ रही ?

**समाधान**–फिर भी द्रव्य अपनी-अपनी सत्ता से स्वतंत्र हैं। देखिये–

**"अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।**
**मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति[5]।।7।।"**

ये द्रव्य एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, परस्पर में एक-दूसरे को अवकाश देते हैं और परस्पर में मिल जाते हैं तो भी सदा अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं।

श्री अमृतचंद्रसूरि ने इसकी टीका में इस बात को स्पष्ट कर दिया कि 'जीव और कर्म के व्यवहारनय से एकत्व होते हुए भी परस्पर में स्वरूप का

1. खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जाओ। (नियमसार) 2. तत्त्वार्थसूत्र अ.5 सूत्र 27। 3. नियमसार। 4. तत्त्वार्थसूत्र अ. 10, सूत्र 8। 5. पंचास्तिकाय।

उपादान नहीं है।' अर्थात् एक द्रव्य-दूसरे द्रव्य स्वरूप नहीं हो जाता है।

संसार में तो सर्वत्र छहों द्रव्य हैं ही हैं, सिद्धलोक में जहाँ कि अनंतानंत सिद्ध विराजमान हैं, वहाँ भी छहों द्रव्य हैं। शुद्धजीव के सिवाय वातवलय आदि के आश्रित तथा सूक्ष्म स्थावरकाय आदि जीव वहाँ पर हैं। पुद्गल का सबसे बड़ा महास्कंध लोकाकाश प्रमाण है एवं वातवलय आदि से संबंधित पुद्गलद्रव्य वहाँ पर विद्यमान है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य हैं ही हैं। फिर भी वे शुद्ध हुये सिद्ध जीवों का कुछ बिगाड़ नहीं सकते हैं।

संसारी जीवों के लिये सर्वथा ऐसा एकांत नहीं है। इनमें परद्रव्य के निमित्त से परिवर्तन भी देखा जाता है अन्यथा संसार नाम की व्यवस्था समाप्त हो जावेगी। फिर भी कोई जीव या पुद्गलद्रव्य अपने स्वरूप को छोड़ते नहीं हैं और पर के उपादान से परिणमन करते नहीं हैं और यह निमित्त-नैमित्तिक संबंध कल्पनामात्र ही नहीं है अन्यथा संसार और मोक्षतत्त्व ही नहीं रहेंगे।

श्री कुंदकुंददेव समयसार ग्रंथ में भी जीव और पुद्गल के परस्पर में निमित्त-नैमित्तिक संबंध को बतलाते हुए कहते हैं–

**जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।**
**पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ।।80।।**
**णवि कुव्वइ कम्मगुणे जावो कम्मं तहेव जीवगुणे।**
**अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि।।81।।**
**एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।**
**पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं।।82।।**[1]

जीव के परिणाम को निमित्त करके पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाते हैं और जीव भी पुद्गल कर्म को निमित्त करके उसी प्रकार से परिणमन कर जाता है। जीव कर्म के गुणों को नहीं करता है और कर्म जीव के गुणों को नहीं करते हैं फिर भी परस्पर में एक-दूसरे के निमित्त से ही इन दोनों में परिणमन होता है ऐसा तुम जानो। इस कारण से यह आत्मा अपने भावों से ही परिणत होकर कर्त्ता कहलाता है किन्तु पुद्गल कर्मकृत सर्वभावों का वह कर्त्ता नहीं है।

टीकाकार श्री अमृतचंद्र सूरि ने और जयसेनाचार्य ने टीका में मिट्टी के कलश का उदाहरण लिया है। उससे जीव और पुद्गल के निमित्त कर्तृत्व का सुंदर समाधान हो जाता है।

1. समयसार कर्तृ कर्म अधिकार।



जैसे कुम्भकार घट को बनाता है उसमें मिट्टी तो घट के लिये उपादान है और चाक, दण्ड तथा कुंभकार निमित्त हैं। कुंभकार, चाक आदि कारण घटरूप नहीं परिणमते हैं किन्तु मिट्टी ही घटाकार से परिणत होती है। उसी प्रकार से जीव भी उपादानरूप से कर्मों का कर्त्ता नहीं होता है वह कभी कर्मरूप परिणमन नहीं करता है किन्तु पुद्गलकर्मों के उदय को निमित्त बनाकर स्वयं राग, द्वेष, मोह आदिरूप परिणत हो जाता है अतः यह जीव अपने विभाव भावों का तो उपादानरूप से कर्त्ता होता है और पुद्गल कर्मों का निमित्तरूप से कर्त्ता होता है। वैसे ही पुद्गल के विषय में समझना।

**शंका–** कर्म कुछ नहीं कर सकते ऐसा मानने से क्या हानि है ?

**समाधान–** यदि कर्म के निमित्त से जीव में परिणमन न माना जाय और जीव के निमित्त से पुद्गल में परिणमन न माना जाय तो क्या-क्या दोष आवेंगे। सो ही कुंदकुंददेव स्वयं कहते हैं–

"जीव में पुद्गल कर्म स्वयं बंधे नहीं हैं और न कर्मरूप से स्वयं परिणमन ही करते हैं, यदि ऐसा मानो तो पुद्गल द्रव्य अपरिणामी ठहरेगा अथवा यदि कर्मवर्गणायें कर्मभाव से नहीं परिणमती हैं तो संसार का ही अभाव हो जायेगा अथवा सांख्यमत का प्रसंग आ जावेगा[1]।"

उसी प्रकार से जीव के विषय में कहते हैं–

"तुम्हारी बुद्धि में यदि यह जीव कर्मों के साथ न तो स्वयं आप बंधा ही है और न क्रोधादि विभाव भावों से आप परिणमन ही करता है तब तो वह अपरिणामी हो जावेगा और क्रोधादि भावों से जीव के परिणमन न करने पर तो संसार का ही अभाव हो जावेगा अथवा सांख्य मत का प्रसंग आ जावेगा[2]।"

सांख्यमत में एकांत से जीव को अकर्त्ता कहा है और प्रकृति-जड़ को ही कर्त्ता कहा है। न्याय ग्रंथों में इस मत का विस्तार से खंडन किया गया है।

1. जीवे ण सयं बद्ध ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि।।116।।
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा।।117।।(समयसार)
2. ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि।।121।।
अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संख समओ वा।।122।।(समयसार)

आगे चलकर स्वयं आचार्य अपना सिद्धांत बताते हैं–

"जब यह आत्मा क्रोध के उपयोग से सहित होता है अर्थात् क्रोधकषाय से परिणत होता है तब स्वयं क्रोध ही है। जब मान से उपयुक्त होता है तब स्वयं मान ही है, जब माया से परिणमन करता है तब माया ही है और जब लोभ से उपयुक्त होता है तब वह लोभ ही है।"[1]

इन पंक्तियों से जीव और पुद्गल का पररूप से परिणमन कथंचित् (निमित्त-नैमित्तिकरूप से) सिद्धांत मान्य ही सिद्ध हो जाता है।

## यदि एकांत से कर्म को ही कर्म का कर्त्ता मानें तो क्या-क्या दोष आते हैं ?

देखिये–"पुरुषवेदकर्म तो स्त्री का अभिलाषी है और स्त्रीवेदकर्म पुरुष को चाहता है तब तो कोई भी जीव अब्रह्मचारी नहीं रहेगा[2]।"

अतः कथंचित् जीव पुद्गल कर्म का कर्त्ता भी है कथंचित् भोक्ता भी है। हाँ, यदि उपादानरूप से मान लेंगे तो जीव दो क्रियावाद हो जावेगा। इसलिये अनेकांत की व्यवस्था को समझना चाहिये।

श्री अमृतचंद्रसूरि कहते हैं कि "जब यह जीव ज्ञानरूप से ही परिणमन करता है तब केवल–मात्र ज्ञाता स्वरूप होने से साक्षात् अकर्त्ता हो जाता है। उससे पहले तो कर्त्ता होता ही है[3]।"

**शंका**–जब यह आत्मा कथंचित् पुद्गल कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता है। पुनः द्रव्य त्रैकालिक शुद्ध है पर्यायें मात्र अशुद्ध हैं यह कथन कैसे बनेगा ?

**समाधान**–जब जीव द्रव्य शुद्ध है तब उसकी पर्यायें अशुद्ध नहीं रह सकती हैं क्योंकि पर्यायों के समूह का नाम ही द्रव्य है। जैसे कि स्कंध, शाखा और पत्तों के बिना वृक्ष कोई चीज नहीं है उन अवयवों के समुदाय का नाम ही वृक्ष है वैसे ही गुण और पर्यायों के समूह का नाम ही द्रव्य है। इनको छोड़कर द्रव्य कुछ नहीं है। देखिये–

**"सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा[4]।।49।।"**

शुद्धनय से संसार में रहने वाले सभी जीव सिद्धस्वभावी हैं।

इसकी टीका में श्री पद्मप्रभमलधारीदेव कहते हैं–

1. समयसार गाथा 125। 2. समयसार गाथा 336।
3. "ज्ञानरूपेणैव ज्ञानपरिणामेन परिणममानस्य केवलं ज्ञातृत्वात्साक्षादकर्तृत्वं स्यात्।" (आत्मख्याति टीका पृ. 427)
4. नियमसार गाथा 49।



"जो जीव चार विभाव भाव (औदयिकादि) रूप परिणत होते हुये संसार में रह रहे हैं वे भी सभी जीव शुद्धनय की अपेक्षा से भगवान् सिद्धों की **शुद्धगुणपर्यायों के सदृश** शुद्ध हैं[1]।"

श्री देवसेनाचार्य भी कहते हैं–"शुद्धद्रव्यार्थिक नय से संसारी जीव सिद्ध सदृश शुद्ध हैं चूँकि वे कर्मोपाधि से निरपेक्ष हैं[2]।"

यह द्रव्यार्थिकनय पर्यायों को गौण कर देता है। पुनः पर्यायार्थिक का कथन देखिये–

"अनित्यशुद्ध पर्यायार्थिकनय से संसारी जीवों की पर्यायें सिद्धों की पर्याय सदृश शुद्ध हैं क्योंकि यह नय कर्मोपाधि से निरपेक्ष स्वभाव को ग्रहण करता है[3]।"

तात्पर्य यह हुआ कि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य शुद्ध है और शुद्ध पर्यायार्थिक नय से उसकी पर्यायें भी शुद्ध हैं। तथैव "अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय से जीव कर्मोपाधि सापेक्ष होने से क्रोधादि कर्मजनित विभावभाव रूप है[4]।" और अशुद्ध पर्यायार्थिक नय से संसारी जीव की पर्यायें अशुद्ध हैं उसे जन्म मरण हो रहा है[5]।"

अतः जो कहते हैं कि "द्रव्य त्रैकालिक शुद्ध है, पर्यायें अशुद्ध हैं, वे आगमज्ञान से शून्य हैं। शुद्धनय से संसारी जीव की द्रव्य और पर्यायें सभी शुद्ध हैं, अशुद्धनय से उसकी द्रव्य और पर्यायें सभी अशुद्ध हैं।"

**शंका**–शुद्धनय से अभव्य जीवों को शुद्ध नहीं मानना चाहिये क्योंकि वे कभी भी शुद्ध नहीं हो सकते हैं ?

**समाधान**–नहीं, **"सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया"** इस कथन से भव्य और अभव्य तथा दूरानुदूर भव्य सभी संसारी जीवराशि शुद्ध ही हैं। एकेन्द्रियों में पृथ्वीकायिक आदि चार प्रकार के स्थावर जीव तो पृथक्-पृथक् असंख्यातासंख्यात हैं, वनस्पतिकायिक अनंतानंत हैं, त्रसकायिक के चार भेदों में प्रत्येक असंख्यातासंख्यात हैं। इनमें से जितने भी भव्य हैं वे तो मोक्ष जावेंगे ही। अभव्य और दूरानुदूर भव्य तो कभी भी मोक्ष नहीं जावेंगे किन्तु शुद्धनय की अपेक्षा से वे भी सिद्ध हैं।

1. संसृतावपि ये विभावभावैश्चतुर्भिः परिणताः सन्तस्तिष्ठन्ति अपि च ते सर्वे भगवतां सिद्धानां शुद्धगुणपर्यायैः सदृशाः शुद्धनयादेशादिति।" (नियमसार टीका)। 2. आलापपद्धति सूत्र 47, पृ.11। 3. आलापपद्धति सूत्र 62, पृ. 13। 4. आलापपद्धति सूत्र 50, पृ.12। 5. आलापपद्धति सूत्र 63, पृ.63।

**शंका**—क्या त्रैकालिक सिद्धों को नमस्कार करने से इन अभव्यों को भी नमस्कार हो जाता है ?

**समाधान**—नहीं, क्योंकि नमस्कार व्यवहारनय की अपेक्षा से ही होता है शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा नमस्कार की आवश्यकता ही क्या है ? हाँ! इतना अवश्य है कि जो भव्यजीव अनंतानंत काल में कभी भी सिद्ध होंगे, भावी सिद्धों को नमस्कार करने से उन सबको नमस्कार हो जाता है। किन्तु अभव्यों में शक्ति की अपेक्षा सिद्धत्व विद्यमान होने पर भी उसका कुछ भी मूल्य नहीं है।

**शंका**—क्या अभव्य में केवलज्ञान शक्तिरूप में है ?

**समाधान**—हाँ! देखिये, "अभव्यजीव में मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य है या नहीं ? यदि है तो वह अभव्य नहीं रहा और यदि नहीं है तो उसके इन दो ज्ञानावरण को मानना व्यर्थ है ? ऐसा नहीं कहना, क्योंकि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से सत्रूप मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान पर आवरण होता है और पर्यायार्थिकनय से असत्रूप दोनों पर। यदि पुनः द्रव्यार्थिकनय से दोनों ज्ञान अभव्य के मौजूद हैं तो वह भव्य हो जावेगा ? ऐसा नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की शक्ति के होने और न होने की अपेक्षा भव्यत्व और अभव्यत्व की बात नहीं है। पुनः क्या है ? सम्यक्त्व आदि की प्रकटता के होने और न होने की अपेक्षा से ही भव्य-अभव्य की व्यवस्था है अर्थात् सम्यक्त्व आदि गुणों की प्रकटता जिसके हो सकती है वही भव्य है उससे विपरीत अभव्य है। शक्तिरूप से तो सम्यक्त्वादि गुण भव्य-अभव्य दोनों में समान ही हैं।"

निष्कर्ष यही निकलता है कि जीव को एकांत से शुद्ध, अमूर्त और कर्मों का अकर्त्ता नहीं मानना चाहिये। क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष से विरोध है देखिये—

## हिंसा व पापबंध व्यवहार से ही तो है

"कोई कहता है कि निश्चयनय से जीव से प्राण भिन्न हैं अतः हिंसा भी व्यवहारनय से होती है निश्चयनय से नहीं। इस पर आचार्य कहते हैं कि आपने ठीक ही कहा है जैसे हिंसा व्यवहारनय से है वैसे ही पाप भी और नारकादि दुःख भी व्यवहारनय से ही हैं यह बात हमें मान्य ही है। यदि वे नारकादि दुःख आपको इष्ट हैं तो आप हिंसा कीजिये और यदि इन दुःखों से भय लगता है

1. "……। न सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रशक्तिभावाभावाभ्यां भव्याभव्यत्वंल्प्य ते। कथं तर्हि ? सम्यक्त्वादिव्यक्तिभावाभावाभ्यां भव्याभव्यत्वमिति विकल्पः कनकेतरपाषाणवत्।।9।।" तत्त्वार्थराजवार्तिक, अ.8, सूत्र 6।



तो हिंसादि छोड़ दीजिये[1]।"

इन सभी बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव और पुद्गल का परस्पर से उपादान संबंध न होकर निमित्त-नैमित्तिक संबंध है फिर भी पुद्गल कर्म के निमित्त से ही वह संसारी, मूर्तिक और दुःखी हो रहा है।

आचार्य कुंदकुंददेव भी "इन कर्मों के निमित्त से जीव के दर्शन, ज्ञान आदि गुणों का आच्छादन मानते ही हैं[2]।" मिथ्यात्वादि को दूर करने के लिए भेदाभेद रत्नत्रय को भी निमित्त मानते हैं। और तो क्या इस रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये साधनभूत ऐसे देश, कुल, जाति आदि की शुद्धि को भी मोक्ष में निमित्त मानते हैं तभी तो उन्होंने 'आचार्य भक्ति' में आचार्यों की स्तुति करते हुए कहा है—

**"देसकुलजाइसुद्धा विसुद्धमणवयणकायसंजुत्ता।**
**तुम्हं पायपयोरुहमिह मंगलमत्थु मे णिच्चं।।"**

देश, काल और जाति से शुद्ध तथा विशुद्ध मन, वचन, काय से संयुक्त हे आचार्यों! आपके चरण कमल हमेशा मेरे लिए मंगल करें।

निष्कर्ष यह निकला कि जीव के संसार के लिये निमित्त मोह, राग, द्वेष, मिथ्यात्व, अविरति आदि हैं। मोक्ष के लिये निमित्त रत्नत्रय है। उसमें भक्ति, पूजा, दान, शास्त्र स्वाध्याय, संयम, तप आदि गर्भित हैं। भेदरत्नत्रय बहिरंग निमित्त है और अभेद रत्नत्रय अंतरंग निमित्त है किन्तु बाह्य के बिना अंतरंग नहीं होता है।सभी द्रव्य स्वभाव से स्वतंत्र होते हुये भी परस्पर में एक दूसरे के लिये निमित्त होते रहते हैं। धर्मास्तिकाय का ऊपर में अभाव होने से सिद्धों को भी लोकाग्र में ठहरना होता है। संसारी जीव तो प्रत्यक्ष में ही कर्म के निमित्त से पराधीन और दुःखी हैं। जब वे मोक्ष के निमित्तों का श्रद्धान कर लेते हैं और उनका आश्रय ले लेते हैं तभी अपने-अपने उपादान स्वरूप को पूर्ण शुद्ध करके पूर्ण स्वातन्त्र्य को प्राप्त कर लेते हैं।

(इस प्रकार निमित्त-उपादान को कहने वाला यह पाँचवाँ परिच्छेद पूर्ण हुआ)

1. समयसार गाथा 332-344। टीका, श्री जयसेनाचार्यकृत, पृ.425।2. समयसार गाथा 157-163।

## तथ्य क्या है ?

1. मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग संसार के निमित्त हैं।
2. सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्ष के लिए निमित्तकारण हैं।
3. रत्नत्रय के अंतर्गत जीवदया, देव शास्त्र गुरु की भक्तिपूजा, गुरुओं को दान और शील उपवास आदि पुण्य सामग्री भी मोक्ष के लिए निमित्त है।
4. विष वेदना आदि के निमित्त से अकालमृत्यु होती है ऐसा श्री कुंदकुंद देव ने कहा है।
5. औषधि भी असाता की हानि करके रोग को शांत करने में निमित्त है।
6. प्रतिक्रमण आदि व्रतों में लगे हुए अतिचारों को दूर करने में निमित्त हैं।
7. कथंचित् निमित्त प्रधान है कथंचित् उपादान (दैव) प्रधान है। अनेकांत जैनधर्म का प्राण है।
8. प्रत्येक द्रव्य स्वभाव से अपना स्वतंत्र अस्तित्व लिए हुए हैं फिर भी अन्य के लिए निमित्त बनते हैं।
9. धर्मादि चार द्रव्य निमित्त बनकर भी न स्वयं विकारी होते हैं और न अन्य को विकारी करते हैं किन्तु जीव और पुद्गल एक दूसरे के निमित्त से विकारी हो रहे हैं फिर भी उपादान रूप से अन्यरूप परिणमन नहीं करते हैं।
10. जीव और पुद्गल के निमित्त-नैमित्तिक संबंध को दूर कर ही जीव द्रव्य को पूर्ण स्वतंत्र किया जा सकता है अन्यथा नहीं।



# (6)

# चारों अनुयोगों की सार्थकता

**द्वादशांग श्रुतं भाव-श्रुतञ्चाप्युपलब्धये।**
**चतुरनुयोगाब्धौ मेऽनिशमन्तोऽवगाह्यताम्।।7।।**

द्वादशांग श्रुत और भावश्रुत की उपलब्धि के लिये चारों अनुयोगरूपी समुद्र में मेरा मन नित्य ही अवगाहन करता रहे।

(जिनेन्द्र भगवान के मुखकमल से निर्गत पूर्वापर विरोधरहित जो वचन हैं उन्हें आगम कहते हैं। उसके ही प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग ये चार भेद हैं। इन चारों अनुयोगों को 'चार वेद' भी कहते हैं। ये चारों ही अनुयोग सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिये कारण हैं। सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व को मल आदि दोषों से रहित निर्दोष करने वाले हैं और उसकी रक्षा करने में भी पूर्ण सहायक हैं। ऐसे ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को भी प्रकट करने वाले हैं तथा इनकी वृद्धि और रक्षा करके अंत में समाधि की सिद्धि कराने वाले हैं।

ये चारों अनुयोग मोक्षमार्ग में चलने के लिये दीपक हैं। यह अनुपयोगरूप द्रव्यश्रुत ही भावश्रुत के लिये कारण है और यह भावश्रुत केवलज्ञान के लिये बीजभूत है। अतएव इस श्रुतज्ञान की उपासना का फल केवलज्ञान का प्राप्त होना ही है। ''इस शास्त्ररूपी अग्नि में भव्यजीव तपकर विशुद्ध हो जाता है और दुष्टजन अंगार के समान तप्त हो जाते हैं अथवा भस्म के समान भस्मीभूत हो जाते हैं।[1]'' अर्थात् वे शास्त्र के अर्थ का अनर्थ करके उसे शस्त्र बना लेते हैं अतः क्रम से और गुरुपरम्परा से शास्त्रों को पढ़ना चाहिये। उनके अर्थ को सही समझकर अपनी आत्मा को शुद्ध कर लेना चाहिए।)

सम्पूर्ण जिनागम द्वादशांगरूप है इसे शब्दब्रह्म भी कहते हैं। भगवान् महावीर स्वामी की प्रथम देशना विपुलाचल पर्वत पर श्रावण वदी प्रतिपदा के दिन हुई थी उस समय सप्तऋद्धि से समन्वित गौतम गणधर को पूर्वाण्ह में समस्त अंगों के अर्थ और पद स्पष्ट जान पड़े। उसी दिन अपराण्ह में अनुक्रम से उन्हें पूर्वों के अर्थ तथा पदों का भी स्पष्ट बोध हो गया। पुनः मनःपर्यय

1. शास्त्रागनौ मणिवद् भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृत्तः।
अंगारवत् खलो दीप्तो मली वाभस्य वा भवेत्।।(आत्मानुशासन)

ज्ञानधारी श्री गणधर देव ने उसी दिन रात्रि के पूर्ण भाग में अंगों की और पिछले भाग में पूर्वों की ग्रंथ रचना की।''[1]

इस ग्यारह अंग चौदह पूर्व रूप श्रुतसमुद्र में कोई विषय अपूर्ण नहीं है। अष्टांग निमित्त, अष्टांग आयुर्वेद, मंत्र, तंत्र आदि सभी विषय इसमें आ जाते हैं। आज द्वादशांगरूप से श्रुतज्ञान उपलब्ध नहीं है। हाँ, अग्रायणीय नामक द्वितीय पूर्व के चयनलब्धि नामक चतुर्थ अधिकार का ज्ञान श्री धरसेनाचार्य को था जिनके प्रसाद से वह षट्खण्डागमरूप ग्रंथ में निबद्ध हुआ है।

इस द्वादशांगरूप शास्त्र को आचार्यों ने चार अनुयोगों में विभक्त किया है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। ये चारों ही अनुयोग भव्य जीवों को रत्नत्रय की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के कारण हैं। इन अनुयोगरूप द्रव्यश्रुत से उत्पन्न हुआ भावश्रुत परम्परा से केवलज्ञान का कारण है। कहा भी है–

**'विणयेण सुदमधीदं जदि वि पमादेण होदि विस्सरिदं।**
**तमुअवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि।।'**[2]

विनयपूर्वक पढ़ा हुआ शास्त्र यदि प्रमाद से विस्मृत भी हो जाता है तो भी जन्मांतर में पूरा का पूरा उपस्थित हो जाता है और अंत में केवलज्ञान को प्राप्त करा देता है।

यह समस्त श्रुतज्ञान की महिमा है न कि एक किसी अनुयोग की। श्री कुंदकुंद देव कहते हैं–

**''जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं।**
**जरमरणबाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं[3]।।17।।''**

जिनेन्द्रदेव के वचन औषधिरूप हैं, ये विषयसुखों का विरेचन कराने वाले हैं, अमृतस्वरूप हैं, इसीलिये ये जन्म-मरणरूप व्याधि का नाश करने वाले हैं और सर्वदुःखों का क्षय करने वाले हैं।

## श्रुतज्ञान महान् वृक्ष सदृश है

अनादिकाल की अविद्या के संस्कार से प्रत्येक मनुष्य का मन मर्कट के समान अतीव चंचल है, उसको रमाने के लिये श्री गुणभद्रसूरि इस श्रुतज्ञान को महान् वृक्ष की उपमा देते हुये कहते हैं–

**''अनेकांतात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते।**
**वचःपर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते।।**

1. उत्तरपुराण पर्व 74, धवला पु.प्र., पृ.66। 2. मूलाचार गा. 286। 3. दर्शनपाहुड़।



**समुत्तुंगे सम्यक् प्रततमतिमूले प्रतिदिनं।**
**श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम्।।170।।''**

जो श्रुतस्कंधरूप वृक्ष अनेक धर्मात्मक पदार्थरूप फूल एवं फलों के भार से अतिशय झुका हुआ है, वचनोंरूप पत्ते से व्याप्त है, विस्तृत नयों रूप सैकड़ों शाखाओं से युक्त है, उन्नत है तथा समीचीन एवं विस्तृत मतिज्ञानरूप जड़ से स्थिर है उस श्रुतस्कन्ध वृक्ष के ऊपर बुद्धिमान साधु अपने मनरूपी बंदर को प्रतिदिन रमण करावे।

इस श्रुतस्कंध वृक्ष में चारों ही अनुयोग समाविष्ट हैं। चूँकि एक अनुयोग से होने वाला ज्ञान अपूर्ण ही है।

# प्रथमानुयोग

**प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।**
**बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः[2]।।43।।**

समीचीन ज्ञान चारों पुरुषार्थों को कहने वाले चरित–पुराणों को प्रथमानुयोग कहता है। यह प्रथमानुयोग स्वयं पुण्यस्वरूप है और बोधिरत्नत्रय की प्राप्ति और समाधि का खजाना है।

टीकाकार श्री प्रभाचंद्राचार्य कहते हैं–वह प्रथमानुयोग अर्थाख्यान अर्थात् परमार्थ विषय का प्रतिपादन करने वाला है, इसके सुनने से पुण्य उत्पन्न होता है अतः पुण्य का हेतु होने से यह 'पुण्य' कहलाता है। नहीं प्राप्त हुये सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की प्राप्ति होना बोधि है, प्राप्त हुये रत्नत्रय को अंतपर्यंत पहुँचा देना समाधि है अथवा धर्म-शुक्ल ध्यान को भी समाधि कहते हैं अर्थात् इस अनुयोग को सुनने वालों को सम्यग्दर्शन आदि की प्राप्ति होती है और धर्मध्यान आदि भी होते हैं।

## तीर्थंकर प्रमाण हैं यह प्रथमानुयोग ही बतायेगा

प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव अयोध्या में हुये हैं। उन्होंने असि, मसि आदि छह प्रकार से आजीविका का उपाय बतलाया था। दीक्षा लेकर मुनिमार्ग को दिखाया था। भगवान महावीर स्वामी अंतिम तीर्थंकर थे। वे आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्व इस भारत वसुन्धरा पर जन्मे थे, उन्होंने बारह वर्ष तक तपश्चरण करके केवलज्ञान को प्राप्त किया। इत्यादि रूप से तीर्थंकरों के

1. आत्मानुशासन। 2. रत्नकरण्डश्रावकाचार।

आदर्श जीवन को जाने बगैर उनके वचनों में श्रद्धा कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती। अतएव जिनागम को प्रमाण मानने के लिए प्रथमानुयोग का अध्ययन अतीव आवश्यक हो जाता है।

**शंका**—इन कथा पुराणों से सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती ?

**समाधान**—सम्यक्त्व के दश भेदों में जो 'उपदेश सम्यग्दर्शन' नाम का तीसरा भेद है उसका लक्षण यही है कि 'तीर्थंकर आदि शलाका पुरुषों के उपदेश को सुनकर जो तत्त्व श्रद्धान होता है उसे 'उपदेश सम्यग्दर्शन' कहते हैं[1]।

इसी प्रकार से जातिस्मरण आदि के निमित्त से उत्पन्न होने वाले सम्यक्त्व के उदाहरणों को प्रथमानुयोग में ही देखा जा सकता है।

विदेह क्षेत्र में प्रभाकरी नगरी के समीप पर्वत पर राजा प्रीतिवर्धन ठहरे हुए थे। वहाँ पर मासोपवासी पिहितास्रव मुनिराज को आहारदान दिया। उस समय देवों द्वारा पंचाश्चर्य किये गये। इस दृश्य को देखकर वहीं पर्वत पर एक सिंह था उसे जातिस्मरण हो गया उसने सम्यक्त्व और श्रावक के व्रत ग्रहण कर चतुराहार त्यागकर सल्लेखना ग्रहण कर ली। कालान्तर में वही सिंह का जीव भरत चक्रवर्ती हुआ है।[2]

नकुल, सिंह, वानर और सूकर इन चारों जीवों को भी आहारदान देखने से जातिस्मरण हो गया जिससे वे सभी संसार से विरक्त हो दान की अनुमोदना के फल से भोगभूमि में आर्य हुये। अनंतर आठवें भव में श्री वृषभदेव के पुत्र होकर मोक्ष चले गये[3]।

मारीचि कुमार ने मान कषाय से मिथ्यात्व का प्रचार करके असंख्य भवों तक त्रस स्थावर योनियों में परिभ्रमण किया। अनंतर सिंह की पर्याय में जब वह हरिण का शिकार कर रहा था। उस समय अजितंजय और अमितगुण नामक चारण मुनियों के द्वारा धर्मोपदेश को प्राप्तकर सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लिया। श्रीगुणभद्रसूरि कहते हैं कि—'सिंह की आँखों से बहुत देर तक अश्रुरूपी जल गिरता रहा जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो हृदय में सम्यक्त्व को स्थान देने के लिए मिथ्यात्व ही बाहर निकल रहा है।[4]

इस पर्याय में सम्यक्त्व, देशसंयम और बालपण्डितमरणरूप सल्लेखना को ग्रहण कर उस सिंह ने देव पद प्राप्त किया। इस सिंह से दशवें भव में वह

1. आत्मानुशासन श्लोक 12। 2. आदि पुराण पर्व 8, श्लोक 201 से 207।
3. आदि पु., पर्व 8। 4. उत्तर पुराण पर्व. 74, श्लोक 196।



भगवान महावीर हुआ। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि मुनियों का दर्शन, उनका उपदेश सम्यक्त्वोत्पत्ति में कारण बन गया।

किसी समय अरविंद महाराज ने विरक्त होकर दीक्षा ले ली और संघ सहित सम्मेदशिखर की यात्रा को जा रहे थे। मार्ग में एक वन में प्रतिमायोग से वे मुनि विराजमान हो गये। उन्हें देखकर मदोन्मत्त हाथी (मरुभूति का जीव) उन्हें मारने के लिए दौड़ा। किन्तु उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिन्ह देखते ही उसे जातिस्मरण हो गया। पुनः उसने शांतचित्त होकर मुनिराज के मुख से धर्मोपदेश श्रवण कर श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिये। इस हाथी की पर्याय में सम्यक्त्व को प्राप्त कर वह जीव उससे आठवें भव में श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर हुआ।

इन उदाहरणों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि गुरुओं के उपदेश से मनुष्य ही नहीं तिर्यंच भी लाभ लेते थे तथा आचार्य भी संघ सहित सम्मेदशिखर की यात्रा करते थे।

इन अचेतन भी तीर्थस्वरूप सम्मेदशिखर आदि की भक्ति में श्री गौतमस्वामी ने बहुत ही सुंदर सूत्रवाक्यों का उच्चारण किया है यथा—

**''उड्ढमहतिरियलोए सिद्धायदणाणि णमंसामि, सिद्धिणिसीहियाओ अट्ठावयपव्वए सम्मेदे उज्जंते चंपाए पावाए मज्झिमाए हत्थिवालियसहाए जाओ अण्णाओ काओ वि णिसीहियाओ जीवलोयम्मि।''**

'ऊर्ध्व, अधो, मध्यलोक में जो सिद्धायतन हैं—कृत्रिम-अकृत्रिम जिनमंदिर हैं और जो सिद्धों की निषीधिकायें हैं अर्थात् निर्वाण क्षेत्र हैं, ये कौन-कौन हैं ? अष्टापद—कैलाशपर्वत, सम्मेदपर्वत, ऊर्जयंत—गिरनारपर्वत, चम्पानगरी, पावानगरी, मध्ययानगरी और हस्तिवालिकामंडप ये मुक्त जीवों की निर्वाणभूमि हैं, इनसे अतिरिक्त और भी जो निर्वाणभूमियाँ इस ढाई द्वीप में हैं उन सबको मैं नमस्कार करता हूँ।'[1]

**शंका**—मुनि तीर्थों की वंदना करें किन्तु वे किसी विधान आदि उत्सवों में तो सम्मिलित नहीं हो सकते ?

**समाधान**—क्यों नहीं हो सकते ? देखिये गुणभद्रसूरि कहते हैं कि ''अयोध्या के अधिपति, 'आनंद' महावैभव के धारक मण्डलेश्वर राजा हुये हैं। इन्होंने किसी समय वसंत ऋतु की आष्टान्हिका में 'महापूजा' कराई। उसे देखने के लिये वहाँ पर विपुलमति नाम के महामुनिराज पधारे थे। उन्होंने राजा के प्रश्नानुसार 'अचेतन रत्नादि की मूर्तियाँ अचिन्त्य फल देने वाली हैं' इस

1. मुनियों का दैवसिक प्रतिक्रमण।

विषय पर बहुत ही विस्तृत उपदेश दिया था पुनः अकृत्रिम चैत्यालयों का वर्णन करते हुये सूर्य विमान में स्थित अकृत्रिम जिनालय का वर्णन किया था।'' वह सब सुनकर आनंदराजा ने भक्ति से विभोर हो सूर्यविमान बनवाकर उसमें स्थित चैत्यालय बनवाया और उसमें जिनप्रतिमायें विराजमान करके उसकी नित्यपूजा करने लगा। राजा को उस सूर्य के मंदिर की पूजा करते देख अज्ञानी लोग उसके रहस्य को न समझकर सूर्य को अर्घ्य चढ़ाना आदि पूजा करने लगे यह 'सूर्य पूजा' तभी से चल पड़ी है[1] इत्यादि।'' ये ही आनंद महाराज तृतीय भव में पार्श्वनाथ तीर्थंकर हुये हैं।

यदि हम प्रथमानुयोग का स्वाध्याय न करें तो हमारी इन शंकाओं का समाधान कैसे हो ?

इन पुराणों के पढ़ने से तत्काल में महान् पुण्य का संचय होता है और अशुभकर्मों की निर्जरा हो जाती है। चूँकि ये भी जिनवचन हैं। बारहवें अंग के पाँच[2] भेदों में से यह 'प्रथमानुयोग' तृतीय भेदरूप है इसलिये द्वादशांग के अंतर्गत ही है।

पद्मपुराण में मर्यादापुरुषोत्तम रामचंद्र का जीवन पढ़कर सहज ही भावना उत्पन्न हो जाती है कि उनके गुणों में से कुछ भी गुणों का अंश मुझे प्राप्त होने का सौभाग्य मिले। रावण के दुराग्रह को पढ़कर कोई भी मनुष्य रावण बनने का इच्छुक नहीं होता है प्रत्युत् रामचंद्र के जीवन को ही अपने में उतारने की भावना करता है। पिता के आदेश को पालन करने के लिये अपने लिये उचित और योग्य ऐसे राज्य का मोह छोड़ना व वन में विचरण करना यह उदाहरण हर किसी को पिता की आज्ञा पालने की शिक्षा देता है।

सीता के आदर्श जीवन से महिलायें अपने सतीत्व की रक्षा के प्रति उत्साहित होती हैं। अहो! शील का माहात्म्य क्या है ? कि जिसने अग्नि को क्षणमात्र में जल का सरोवर बना दिया। कुलीन महिलायें इन पुराणों के आधार से ही अपने शील रत्न को सुरक्षित रख लेती हैं।

'पिता के लिये अपने सर्वस्व को तिलांजलि दे देना यह भीष्म पितामह का आजीवन ब्रह्मचर्यव्रतरूप कठोर त्याग पितृभक्ति को उद्वेलित किये बिना नहीं रहता है।'[3] लक्ष्मण की भ्रातृभक्ति देखकर भाई-भाई आपस में प्रेम करने का उदाहरण ग्रहण करते हैं।

1. उत्तरपुराण पर्व 73। 2. परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। 3. पांडवपुराण।



ब्राह्मी, सुंदरी, अनंतमती, चंदना आदि के उदाहरण बालिकाओं को ब्रह्मचर्य व्रत की प्रेरणा के स्रोत बन जाते हैं। इन आदर्श नारियों का इतिहास पढ़ने वाली महिलायें कभी भी सूर्पनखा बनने की भावना नहीं करती हैं प्रत्युत् चंदना, मनोरमा बनने की ही भावना भाती हैं।

अकलंक निकलंक नाटक देखने वाले नवयुवकों में धर्म की रक्षा के लिए बलिदान का भाव जाग्रत हो उठता है।

जैसे–आजकल सिनेमा और टेलीविजन के अश्लील दृश्य तथा रेडियो के अश्लील गाने सुनकर नवयुवक व नवयुवतियाँ चारित्र च्युत होते हुये दिखाई देते हैं ऐसे ही धार्मिक कथायें और नाटक भी बेमालूम कुछ न कुछ संस्कार अवश्य ही छोड़ देते हैं।

यद्यपि यह नियम है कि पानी का प्रवाह स्वभावतः नीचे की ओर ही जाता है। प्रयोग से, यंत्रों के निमित्त से ही वह ऊपर जाता है। उसी प्रकार से मन अनादिकालीन अविद्या के संस्कार से सदैव नीचे–अशुभ प्रवृत्तियों की ओर ही झुकता है उसको ऊपर की ओर उठाने के लिये इन महापुरुषों का आदर्श सामने रखना ही चाहिये। इसका अभिप्राय यही है कि प्रतिदिन प्रथमानुयोग ग्रंथ अवश्य पढ़ने चाहिए। इससे चारित्र की प्रेरणा मिलती है तथा अपने में अन्यों को चारित्र में स्थिर करने की युक्ति सूझती है।

'एक बार राजा श्रेणिक ने समवसरण में एक मुनि के बारे में प्रश्न किया, उत्तर में श्री गौतमस्वामी ने कहा–राजन्! तुम शीघ्र ही वहाँ जावो, उन मुनि के ध्यान में इस समय रौद्र भावना चल रही है यदि अंतर्मुहूर्त काल यही स्थिति रही तो उनके नरकायु का बंध हो जायेगा अतः तुम जाकर उन्हें संबोधन करो। राजा श्रेणिक ने जाकर उन्हें संबोधित किया उसी समय वे मुनि रौद्रध्यान से हटकर धर्मध्यान में आये और तत्क्षण ही शुक्लध्यान में आरुढ़ हो गये, अंतर्मुहूर्त में ही उन्हें केवलज्ञान प्रगट हो गया।''[1]

सुकुमाल, गजकुमार आदि मुनियों ने उपसर्ग के समय भी धैर्य से अपने परिणामों को संभाला और सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हो गये। सल्लेखना के समय क्षपक मुनि को निर्यापकाचार्य ऐसे-ऐसे उदाहरण सुनाकर धर्मभावना में स्थिर करते हैं। अकंपनाचार्य आदि सात सौ मुनियों का उपसर्ग दूर करने के लिये श्री विष्णुकुमार महामुनि ने अपना वेष छोड़ दिया और अपनी विक्रिया

1. उत्तर पुराण पर्व 76।

ऋद्धि के बल से उन मुनियों की रक्षा की। यह घटना भी धर्मात्माओं के प्रति वात्सल्य का एक ज्वलंत उदाहरण ही है।

## तीर्थंकर होने वाले महापुरुष भी कितने भव तक पुरुषार्थ करते हैं

सम्यग्दर्शन होते ही मोक्षप्राप्ति सुलभ नहीं है। तीर्थंकरादि महापुरुषों ने भी कई भव तक दीक्षा ले-लेकर घोर तपश्चरण किया है जब कहीं सिद्धि मिली है। यह बात प्रथमानुयोग से ही तो जानी जाती है। देखिये–

भगवान वृषभदेव के जीव ने महाबल विद्याधर की पर्याय में स्वयंबुद्ध मंत्री के सम्बोधन से आठ दिन आष्टान्हिक पूजा करके 22 दिन की सल्लेखना ग्रहण की, पुनः ललितांग देव हुआ था। वहाँ से आकर वज्रजंघ राजा होकर श्रीमती रानी के साथ चारण मुनियों को आहार देकर जो पुण्य संचित किया उसके फलस्वरूप भोगभूमि में उत्पन्न हुये, तब तक उन्हें सम्यक्त्व नहीं था। भोगभूमि में मुनियों के उपदेश से सम्यक्त्व प्राप्त किया पुनः श्रीधर देव हुये, अनंतर सुविधि राजा होकर पुत्र (श्रीमती के जीव केशव) के मोह में पड़कर दीक्षा न ले सकने के कारण श्रावक के उत्कृष्ट व्रत (क्षुल्लक) तक धारण करके अंत में दीक्षा लेकर सल्लेखना से मरण कर अच्युतेन्द्र हुये। पुनः वज्रनाभि चक्रवर्ती होकर छह खंड का राज्य भोगकर उसका त्याग करके दीक्षित हो गये। उनके पिता वज्रसेन तीर्थंकर थे उनके समवसरण में दीक्षा लेकर 'सम्पूर्ण द्वादशांगरूप'[1] श्रुत का अध्ययन करके सोलहकारण भावनाओं द्वारा तीर्थंकर के पादमूल में तीर्थंकर प्रकृति बांध ली व जिनकल्पी मुनि होकर विचरण करने लगे। एक समय ध्यान में आरुढ़ थे उस समय उपशम श्रेणी पर चढ़ गये और ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचकर यथाख्यात चारित्र के धारक पूर्ण वीतरागी हो गये। पुनः वहाँ से उतरकर वापस सातवें-छठे गुणस्थान में आ गये।

'पुनरपि द्वितीय बार उपशम श्रेणी में आरोहण करके पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान को पूर्णकर उत्कृष्ट समाधि को प्राप्त हुये। उसी समय उनकी आयु पूर्ण हो गई और उस ग्यारहवें गुणस्थान में मरण कर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हो गये।' वहाँ से चयकर भगवान वृषभदेव हुये हैं।

इस प्रकार से भगवान के इन दश भवों को पढ़ने के बाद यह निश्चित हो जाता है कि जब तीर्थंकर होने वाले महापुरुषों को इतनी तैयारी करनी पड़ती है। अहो! पूर्वभव में दो बार उपशम श्रेणी में आरोहण करने की उत्कृष्ट विशुद्धि

1. आदिपुराण, पर्व 11, श्लोक 110, 111।



को प्राप्त कर लेना पुनः अविरति हो जाना कितनी विचित्रता है। फिर तीर्थंकर के भव में भी हजार वर्ष तक तपश्चरण करना पड़ा तब कहीं जाकर घातिया कर्मों के नाश हेतु क्षपक श्रेणी पर आरोहण कर पाये और उत्कृष्ट आत्मध्यान के ध्याता हो पाये।

'महाबल विद्याधर के चार मंत्रियों में तीन मंत्री मिथ्यादृष्टि थे उनमें से संभिन्नमति और महामति तो मिथ्यात्व के पाप से निगोद में चले गये और शतमति नरक में चला गया। उस नरक में जाने वाले मंत्री के जीव को तो श्रीधर देव ने धर्म का उपदेश देकर सम्यक्त्व ग्रहण करा दिया किन्तु निगोद में कैसे सम्बोधन दिया जा सकता है ?'[1]

इस उदाहरण को पढ़कर मिथ्यात्व से कितना भय उत्पन्न होता है, अहो! यदि मैं किंचित् भी जिनवाणी के प्रति अश्रद्धा करके मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाऊँगा तो पुनः यदि निगोद में चला गया तो क्या होगा ? मुझे कौन उपदेश देगा ? इसलिये शास्त्र के वाक्यों पर अश्रद्धा करके अपने सम्यक्त्व को नहीं गंवाना चाहिये।

जिनप्रतिमा के अपमान से अंजना ने बाईस वर्ष तक पति वियोग का दुःख सहन किया। किंचित् मुनिनिंदा के पाप से वेदवती ने जो निकाचित बंध किया उसके फलस्वरूप सीता की पर्याय में लोकापवाद को प्राप्त होकर देश निष्कासन का दुःख सहन किया। लक्ष्मीमती आदि अनेकों महिलाओं ने मुनियों का अपमान करके कुष्ट रोग से पीड़ित होकर तिर्यंच योनियों के और नरकों के घोर दुःख सहे हैं। पुनः मुनियों के उपदेश से रोहिणी व्रत, सुगंधदशमी व्रत आदि के अनुष्ठान से उत्तम गति पाई है। मैनासुंदरी ने पति के कुष्ट रोग को दूर करने के लिए मुनि के उपदेश से सिद्धचक्र विधान का अनुष्ठान किया था। मैनासुंदरी भी सम्यग्दृष्टि थी और वैसा संकट दूर करने का उपाय बतलाने वाले मुनि भी सम्यग्दृष्टि भावश्रमण ही थे।

राजा सुभौम ने जीवन के लोभ से महामंत्र का अपमान कर सप्तम नरक को प्राप्त कर लिया। जीवंधर के द्वारा दिये गये महामंत्र को सुनकर कुत्ते ने प्राणछोड़े तो यक्षेन्द्र हो गया और जीवन भर जीवंधर स्वामी के प्रति कृतज्ञ होकर उपकार करता रहा। रात्रि भोजन त्याग करने मात्र से सियार ने तिर्यंच योनि छोड़कर मनुष्य पर्याय पाकर प्रीतिंकर कुमार होकर उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर लिया।

1. आदिपुराण, पर्व 10।

इस प्रकार से पुण्य और पाप के फलस्वरूप नाना उदाहरणों को देखकर सहज ही पाप से भय उत्पन्न होता है तथा धर्म में श्रद्धा, अनुराग और गाढ़ भक्ति जाग्रत हो जाती है।

अतः श्रावकों को ही नहीं, मुनि आर्यिकाओं को भी प्रतिदिन प्रथमानुयोग का स्वाध्याय करना चाहिए।

## करणानुयोग

**लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।।**
**आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च[1]।।4।।**

जो श्रुतज्ञान लोक-अलोक के विभाग को, युग के परिवर्तन को और चतुर्गतियों के परिवर्तन को दर्पण के समान जानता है उसे करणानुयोग कहते हैं।

जिसमें जीव, पुद्गल आदि छहों द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोकाकाश कहते हैं। यह तीन सौ तेतालीस राजू प्रमाण है। इससे परे चारों तरफ अनंतानंत अलोकाकाश है। इस लोक के मध्य में एक राजू की चौड़ाई में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। सबसे प्रथम बीचोंबीच में जम्बूद्वीप है। इत्यादि रूप से जो लोक का वर्णन तिलोयपण्णत्ति आदि ग्रंथों में वर्णित है, नरक, स्वर्ग, सिद्धशिला आदि का जो भी वर्णन है उसको पढ़कर पूर्ण आस्तिक्य भावना रखना ही सम्यग्दर्शन है। इस मध्यलोक के अंतर्गत ढाईद्वीप में पंद्रह कर्मभूमियाँ हैं। वहीं पर जन्म लेने वाले मनुष्य मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि कर सकते हैं अन्य नहीं।

सुषमासुषमा आदि छह कालरूप युग परिवर्तन को समझकर, चतुर्गतियों के परिभ्रमण को तथा पंच परावर्तन को पढ़कर संसार से भय उत्पन्न होता है। जीवों के कुल, योनि, जीवसमास, मार्गणा आदि को भी समझना चाहिए। तभी तो जीवों की दया का पूर्णतया पालन किया जा सकता है। अध्यात्म ग्रंथ नियमसार में श्री कुंदकुंददेव कहते हैं–

**''कुलजोणिजीवमग्गणठाणाइसु जाणिऊण जीवाणं।**
**तस्सारंभणियत्तणपरिणामो होदि पढमवदं[2]।।''**

कुल, योनि, जीव समास और मार्गणा आदि स्थानों में जीवों को जान करके उनके आरंभ में निवृत्तिरूप परिणाम का होना प्रथम अहिंसा महाव्रत है।

यह सब वर्णन इस करणानुयोग के अध्ययन से ही जाना जा सकता है। खेद है कि आजकल कुछ लोग गुणस्थानों के लक्षण को भी नहीं समझते हैं

1. रत्नकरण्डश्रावकाचार। 2. नियमसार गा. 56।



और समयसार जैसे महान् ग्रंथों को बगल में दबाए रहते हैं। सचमुच में वे लोग अध्यात्म के मर्म को न समझकर अपनी आत्मा की ही वंचना कर लेते हैं। गुणस्थानों को समझने से ही सराग चारित्र कहाँ तक है और वीतराग चारित्र कहाँ से शुरू होता है इसकी जानकारी मिलती है।

श्री कुंदकुंद स्वामी ने जीवों की विभाव पर्यायों का वर्णन करते हुये कहा है कि मनुष्य के दो भेद हैं – कर्मभूमिज और भोगभूमिज। नारकी सात पृथिवियों के भेद से सात प्रकार के हैं, तिर्यंच चौदह जीवसमास की अपेक्षा चौदह प्रकार के हैं तथा चतुर्णिकाय की अपेक्षा देव चार प्रकार के हैं। इन सबका विस्तार से वर्णन लोकविभाग ग्रंथों से जान लेना चाहिये।[1]

संस्थानविचय धर्मध्यान भी करणानुयोग के अध्ययन से ही किया जाता है।

सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए जो करण लब्धि होती है तथा चारित्र के लिये जो लब्धि होती है, इनका सविस्तार वर्णन भी करणानुयोग ही बतलाता है। किस गुणस्थान में कितनी प्रकृतियाँ बंधती हैं, कितनी उदय में रहती हैं और कितने की सत्ता रहती है इत्यादि विवरण भी इसी अनुयोग से जाना जाता है। करणसूत्रों के द्वारा गणित का सूक्ष्म से सूक्ष्म विवेचन परिणामों की एकाग्रता के लिए सर्वोत्कृष्ट साधन है।

आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज की पीठ में एक बार अदीठ नाम का भयंकर फोड़ा हुआ था। उसकी शल्य चिकित्सा के समय सभी चिन्तित थे कि महाराज इतनी वेदना को कैसे झेलेंगे। आचार्यश्री ने अपना उपयोग कर्म प्रकृतियों के बंध-उदय आदि के गणित में लगा लिया जिससे उन्हें उस विषय में तन्मयता हो जाने से डाक्टर ने सफलतापूर्वक आपरेशन कर दिया। इन प्रकृतियों के उदय आदि के चिंतन के समय विपाकविचय धर्मध्यान होता है।

यह जीव सम्यक्त्व व संयम को प्राप्त कर भावलिंगी श्रमण शुद्धोपयोगी आत्मध्यानी बनकर ग्यारहवें गुणस्थान तक भी चला जाता है। पुनः वहाँ से गिरकर कदाचित् मिथ्यात्व में आकर यदि एकेन्द्रिय आदि पर्यायों में चला जाता है तो वह पुनः संसार में कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तन काल तक परिभ्रमण करता रहता है। इन सब प्रकरणों को पढ़कर बोधि को प्राप्त कर उसकी सुरक्षा के लिये पुरुषार्थ जाग्रत होता है और मिथ्यात्व से भय उत्पन्न होता है।

1. 'एदेसिं वित्थारं लोयविभायेसु णादव्वं'।। नियमसार।

इस प्रकार से यह करणानुयोग भी सम्यक्त्व व संयम का कारण है। इसके प्रसाद से रत्नत्रय की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा होती रहती है। इस विषय में भी प्रमाद न करके इस अनुयोग का सतत अध्ययन करना चाहिये।

## चरणानुयोग

**गृहमेध्यनगाराणां, चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।**
**चरणानुयोगसमयं, सम्यग्ज्ञानं विजानाति[1]।।45।।**

जो सम्यग्ज्ञान श्रावक और अनगार के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा का साधन है ऐसे शास्त्रों को आचार्य चरणानुयोग आगम कहते हैं।

श्री गौतमस्वामी ने मुनियों के पाक्षिक प्रतिक्रमण में 'श्रुतं मे आयुष्मन्तः।' ऐसा संबोधन करके स्पष्ट कहा है कि मुनियों के महाव्रत आदि मुनिधर्म का तथा श्रावक-श्राविकाओं के बारह व्रत, सप्त व्यसन त्याग, ग्यारह प्रतिमा आदि श्रावक धर्म का भगवान महावीर ने उपदेश दिया है और हे आयुष्मान् भव्यों! मैंने स्वयं सुना है।

श्री कुंदकुंददेव भी चारित्रपाहुड़ में कहते हैं–

**णाणं दंसणं सम्मं चारित्तं सोहिकारणं तेसिं।**
**मुक्खाराहणहेउं चारित्तं पाहुडं वोच्छे[2]।।2।।**

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये आत्मा के गुण हैं। वह चारित्र इनकी शुद्धि को करने वाला है और मोक्ष आराधना का कारण है ऐसे चारित्र प्राभृत को मैं कहूँगा।

पुनः सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण ऐसे दो भेद करके सम्यक्त्वचरण में सम्यक्त्व के आठ अंग आदि को लिया है तथा संयमचरण के मुनिधर्म और गृहस्थ धर्म की अपेक्षा दो भेद करके श्रावकों के बारह व्रतों का वर्णन किया है।

और तो क्या द्वादशांग में भी आचारांग नामक अंग सबसे प्रथम अंग है जिसमें मुनियों के चारित्र का सांगोपांग वर्णन रहता है।

भगवान के समवसरण में भी बारह सभाओं में से भगवान के सन्मुख पहली सभा में मुनिगण ही विराजते हैं चूँकि भगवान के उपदेश को साक्षात् ग्रहण करके मोक्ष की सिद्धि करने वाले वे ही हैं।

बिना सम्यक्त्व व बिना चारित्र के किसी को 'पात्र' संज्ञा नहीं है। जीवंधर स्वामी वन में विचरण कर रहे थे। अकस्मात् उनके मन में अपने बहुमूल्य वस्त्र

1. रत्नकरण्डश्रावकाचार। 2. चारित्रपाहुड़।



और अलंकारों को दान कर देने का भाव जाग्रत हुआ उस समय उन्होंने सामने आते हुए एक कृषक को धर्म का उपदेश देकर पाँच अणुव्रत ग्रहण कराये पुनः उसे आभूषणों का दान कर दिया[1]। चूँकि अपात्र में दिया गया दान निरर्थक है और कुपात्र में दिया गया दान कुफल को देने वाला है।

यह चारित्र ही ज्ञान को परमावधि, सर्वावधि तथा मनःपर्यय ज्ञान बना सकता है पुनः आगे केवलज्ञान भी करा सकता है। इस चारित्र के बिना असंयमी मोक्षमार्गस्थ नहीं है।

### असंयत के मोक्षमार्ग नहीं है

श्री कुंदकुंददेव स्वयं कहते हैं–

**ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु।**
**सद्दहणादो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि[2]।।237।।**

यदि पदार्थों का श्रद्धान न हो तो आगम में सिद्धि नहीं होती है और पदार्थों का श्रद्धान करने वाला भी यदि असंयत है तो भी निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकता है।

श्री अमृतचंद्र सूरि के वचन देखिये–

**''.....ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः। अतः आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानामयौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटेतैव[3]।''**

इसलिये संयमशून्य श्रद्धान व ज्ञान से सिद्धि नहीं होती है। इससे आगमज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयतपना ये तीनों ही युगपत् जिनके पास नहीं हैं उनके मोक्षमार्गत्व विघटित ही हो जाता है।

### इस पंचमकाल में चारित्र का महत्त्व देखिये

**वरिससहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण काएण।**
**तं संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसंहणणे[4]।।1131।।**

चतुर्थकाल में मुनि हजार वर्ष तपस्या करके जितने कर्मों की निर्जरा करते थे। आज पंचमकाल में हीन संहनन होने से एक वर्ष में उतने कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

इस चरणानुयोग के बिना चारित्र के महत्त्व को कौन बता सकता है ?

व्रतों में लगे हुये अतिचारों का शोधन, गुरु, विनय, वैयावृत्य, सोलह कारण भावनायें, दशलक्षण धर्म आदि का उपदेश चरणानुयोग ही देता है। व्रतों के भंग

1. क्षत्रचूड़ामणि। 2. प्रवचनसार। 3. प्रवचनसार गा.237 की टीका। 4. भावसंग्रह।

हो जाने पर उनमें पुनः उपस्थापना का आदेश इसी अनुयोग का है। प्रायश्चित्त विधि द्वारा व्रतों का प्रतिपादन करके दोषों का विशोधन यही अनुयोग करता है।

द्रव्यलिंगी मुनि भी इस चारित्र के सम्पर्क से लोक में पूजे जाते हैं। जैसे कि 'पुष्पडाल' मुनि व 'भवदेव मुनि' पूजे जाते थे। श्रावक उन्हें आहार देने में कोई अंतर नहीं करते थे।

## व्रत और तप का माहात्म्य

कुंदकुंदस्वामी ने यहाँ तक कह दिया है कि–

**वरवयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं।**
**छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं[1]।।25।।**

व्रत और तप से स्वर्ग प्राप्त कर लेना श्रेष्ठ है किन्तु अव्रत और अतप से नरकगति में दुःख उठाना ठीक नहीं है। किसी की प्रतीक्षा में छाया और आतप में बैठने वाले जीवों के समान व्रत और अव्रत में महान अंतर है।

आगे कहते हैं कि–'जो देव और गुरु के भक्त हैं, साधर्मी और संयतों में अनुरागी हैं, सम्यक्त्व से सहित हैं ऐसे योगी ही ध्यान में रत हो सकते हैं[2]।

जो अतिचार या अनाचार के भय से चारित्र ग्रहण नहीं करते हैं वे अपनी आत्मा की ही वंचना कर लेते हैं। सागार धर्मामृत में कहते हैं–

**समीक्ष्य व्रतमादेयमात्तं पाल्यं प्रयत्नतः।**
**छिन्नं दर्पात्प्रमादाद्वा प्रत्यवस्थाप्यमंजसा[3]।।79।।**

देश, काल, शक्ति आदि का विचार करके व्रत लेना चाहिए, ग्रहण किये हुये व्रतों का प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिये तथा यदि दर्प से अथवा प्रमाद से कदाचित् व्रत भंग हो जावे तो शीघ्र ही गुरु के पास प्रायश्चित लेकर पुनः व्रत ग्रहण कर लेना चाहिए। ग्रंथकारों ने तो यहाँ तक कह दिया है कि–

'जब तक आप किसी वस्तु का सेवन नहीं करते हैं तब तक के लिये भी आप यदि उसका त्याग कर देते हैं तो यदि कदाचित् कर्मवश उस त्याग सहित अवस्था में मरण हो गया तो वह परलोक में सुखी हो जाता है[4]।

'वसुभूति ब्राह्मण को दयामित्र सेठ ने धन के लोभ में मुनि बना दिया, कालान्तर में वह सच्चा भावलिंगी बन गया।'[5]

सूर्यमित्र ब्राह्मण ने भी गिरी पड़ी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिये दीक्षा ली थी किन्तु उस चारित्र के प्रसाद से वे भावलिंगी महाश्रमण हो गये।[6]

1. मोक्षपाहुड़। 2. मोक्षपाहुड़ गा.52। 3. सागार ध.अ.2।
4. सागार ध.अ.2, श्लोक 77। 5. धर्मामृत। 6. आराधना कथाकोश, कथा 57।



**शंका–**आत्मतत्त्व के जान लेने से ही सिद्धि होती है तप आदि से शरीर को शोषण करने से आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती है ? चूँकि तप आदि में आकुलता होती है।

**समाधान–**तप में प्रारम्भ में अभ्यास के समय आकुलता अवश्य होती है। किन्तु अभ्यास के द्वारा वे सरल हो जाते हैं। फिर बिना कष्ट सहन किये मुक्ति असम्भव है। आचार्य श्री कुंदकुंददेव कहते हैं–

**तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो।**
**तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं[1]।।59।।**

तपरहित ज्ञान और ज्ञानरहित तप दोनों भी अकार्यकारी हैं अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कराने में असमर्थ हैं अतः ज्ञान और तप से संयुक्त योगी ही निर्वाण प्राप्त करते हैं। पुनः उसी बात को दृढ़ करते हुये कहते हैं।

**धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।**
**णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि[2]।।60।।**

जिनको नियम से मोक्ष होना है ऐसे तीर्थंकर भी जो कि दीक्षा लेते ही अंतर्मुहूर्त में मनःपर्ययज्ञान से सहित हो जाते हैं तो भी वे तपश्चरण करते हैं ऐसा समझकर ज्ञानयुक्त होकर भी तपश्चरण करना चाहिये।

तपश्चरण आदि से जो शरीर को कष्ट नहीं देना चाहते उनके प्रति श्री कुंदकुंददेव क्या कहते हैं–

**सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।**
**तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए[3]।।63।।**

सुख में भाया गया ज्ञान दुःख के आने पर नष्ट हो जाता है इसलिये योगी यथाशक्ति दुःखों के द्वारा अर्थात् अनशन-कायक्लेश आदि तपों के द्वारा आत्मतत्त्व की भावना करे।

आगे और भी कहते हैं कि 'आहार, आसन और निद्रा को जीतकर तथा जिनमत के अनुसार गुरु के प्रसाद से समझकर निज आत्मा का ध्यान करना चाहिये[4]।

चारित्र की उपेक्षा करके आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने की जो बात है वह कहाँ तक ठीक है। देखिये–

**जाम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए ताम।**
**विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं[5]।।66।।**

1-5. मोक्षपाहुड़।

जब तक मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति करता रहता है तब तक वह आत्मा को नहीं जानता है। विषयों से विरक्त हुआ योगी ही आत्मा को जानता है।

## चारित्र सभी के द्वारा और सदा पूज्य है

रामचंद्र जैसे महापुरुष क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे फिर भी क्षयोपशम सम्यक्त्वी किन्तु उपचार से महाव्रतिनी ऐसी आर्यिकाओं की भी पूजा करते थे। त्याग की ही सर्वत्र पूजा देखी जाती है। गृहस्थी चाहे जितना ज्ञानी हो परन्तु उसकी पूजा का विधान आगम में नहीं है।

मूलाचार में भी श्री कुंदकुंद ने कहा है कि–'जो धीर पुरुष वैराग्य सहित हैं वे अल्प भी पढ़कर सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं किन्तु वैराग्य शून्य मनुष्य सर्व शास्त्र को पढ़कर भी मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते हैं[1]।'

श्री समन्तभद्रस्वामी ने भी आप्तमीमांसा में ज्ञान के एकान्त का निरसन बहुत ही सुंदर शब्दों में किया है–

'यदि कहा जाय कि अज्ञान से नियम से बंध होता है, तो ज्ञेय वस्तु अनंत हैं, उनका ज्ञान न हो सकने से कोई भी सर्वज्ञ नहीं हो सकेगा। यदि कहा जाय कि अल्पज्ञान से मोक्ष होता है, तब तो जो उसके साथ बहुत-सा अज्ञान है वह बंध का कारण रहेगा, उससे भी मोक्ष नहीं हो पायेगा[2]।

पुनः समाधान करते हुए कहते हैं कि–

**'अज्ञानात् मोहतो बंधो नाज्ञानाद्वीतमोहतः।**
**ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहतोऽन्यथा।।'**

मोहयुक्त अज्ञान से बंध होता है, वीतमोह पुरुष के अज्ञान से बंध नहीं होता है। उसे (मोहरहित) अल्पज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है किन्तु मोहयुक्त ज्ञान से बंध ही होता है।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वीतरागता को प्राप्त करने के लिये चारित्र ही आवश्यक है। उसके बिना आज तक कोई वीतरागी नहीं हुये हैं। ऐसा समझकर इस चरणानुयोग के आश्रय से चारित्र को ग्रहण करना चाहिये। पुनः सतत उसका मनन करते हुये चारित्र को निर्दोष निरतिचार बनाना चाहिए। श्रावकों का भी कर्तव्य है कि पहले देशचारित्र को ग्रहण कर सकल चारित्र की भावना भाते रहें यही क्रम मोक्ष का साधक है।

1. मूलाचार समयसार अधिकार। 2. आप्तमीमांसा कारिका 96। 3. आप्तमी. का. 98।



# द्रव्यानुयोग

**जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बंधमोक्षौ च।**
**द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते[1]।।46।।**

द्रव्यानुयोगरूपी दीपक जीव-अजीव तत्त्व का, पुण्य-पाप का और बंध-मोक्ष का श्रुत विद्या के प्रकाश से विस्तार रूप से प्रकाशन करता है।

यह द्रव्यानुयोग जीव के बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा रूप से तीन भेद करता है। अजीव के पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल का विस्तार से कथन करता है। पुण्य और पापरूप प्रकृतियों का वर्णन करता है और बंध-मोक्ष की व्यवस्था बतलाता है।

समयसार, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रंथ इसी अनुयोग में आते हैं।

**शंका–**पुण्य-पाप और बंध-मोक्ष की व्यवस्था को जानने से आत्महित कैसे होगा ? क्योंकि ये चर्चायें तो हमेशा करते ही आये हैं आत्महित तो आत्मा के ज्ञान से ही होगा ? कहा भी है–

**सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।**
**एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विभत्तस्स[2]।।4।।**

'सभी को काम, भोग और बंध की कथा हमेशा सुनने में, परिचय में और अनुभव में आई हुई हैं अतः वह सुलभ हैं किन्तु भिन्न आत्मा के एकत्व की उपलब्धि सुलभ नहीं है।' अतः उसी की कथा करनी चाहिये।

**समाधान–**जब तक पुण्य-पाप और बंध-मोक्ष पदार्थों को नहीं समझेंगे तब तक पाप से व बंध के कारणों से बचने का उपाय भी कैसे करेंगे तथा पुण्यरूप साधन सामग्री के बिना मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकेगी। अतः इनका ज्ञान भी आवश्यक ही है। पुण्य में तीर्थंकर प्रकृति, वज्रवृषभनाराच संहनन आदि मोक्ष में सहायक हैं। यहाँ गाथा में काम, भोग, बंध से विषयभोग संबंधी कथा का भी अभिप्राय है अथवा बंध की कथा उन्हीं के लिए वर्जित है जो बंध के स्वरूप को पहले अच्छी तरह समझ चुके हैं।

इस प्रकार से प्रथमानुयोग से महापुरुषों का आदर्श ग्रहण कर करणानुयोग से संसार से भयभीत होकर चरणानुयोग के अवलम्बन से चारित्र को धारण कर द्रव्यानुयोग के बल से शुद्ध आत्मा का ध्यान करके श्रुतज्ञान का फल जो अच्युत (मोक्ष) पद की प्राप्ति है उसे हस्तगत करना चाहिये।

(इस प्रकार चारों अनुयोगों की सार्थकता को कहने वाला यह छठा परिच्छेद पूर्ण हुआ)

1. रत्नकरंडश्रावकाचार। 2. समयसार गाथा।

## तथ्य क्या है ?

1. जिनेन्द्र भगवान के वचन का नाम आगम है वही जिनागम है। वह द्वादशांग रूप है।
2. वर्तमान में उपलब्ध षट्खंडागम और कषायपाहुड़ ये दोनों सिद्धांत ग्रंथ अंग-पूर्व के अंश रूप हैं।
3. समयसार, मूलाचार, तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार, आदिपुराण आदि शास्त्र भी द्वादशांग के अंश ही हैं अतः प्रामाणिक हैं।
4. प्रथमानुयोग के बिना तीर्थंकर आदिकों का इतिहास, पुण्य और पाप के फल तथा मोक्ष प्राप्त करने वालों के उदाहरण अन्यत्र नहीं मिल सकते हैं।
5. महापुरुषों के आदर्श बिना अपने जीवन को आदर्श व पवित्र बनाना कठिन ही होता है अतः प्रथमानुयोग अधिक उपयोगी है।
6. करणानुयोग से चतुर्गति के परिवर्तन, लोक का स्वरूप आदि जानकर नरकगति आदि से भय उत्पन्न होता है।
7. चरणानुयोग से चारित्र का लक्षण जानकर उसे धारण किया जाता है।
8. द्रव्यानुयोग से छह द्रव्य, सात तत्त्व आदि को समझ कर आत्मद्रव्य को पुद्गल द्रव्य से पृथक करने का बोध होता है।
9. चारों अनुयोगों के बिना ज्ञान अपूर्ण और एकांगी है।



**(7)**

# पंचमकाल में मुनियों का अस्तित्व

**अहो! दुःषमकालांतं श्रमणाश्चार्यिका इह।**
**विहरन्ति निराबाधं कुर्युस्ते ताश्च मंगलम्।।1।।**

अहो! प्रसन्नता की बात है कि इस भरतक्षेत्र में दुःषमकाल के अंत तक मुनि और आर्यिकायें निराबाध विहार करते रहेंगे। वे मुनि और आर्यिकायें सदा मंगल करें।

[ निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनियों में जो जिनकल्पी और स्थविरकल्पी भेद हैं, उनका क्या स्वरूप है ? वर्तमान में जिनकल्पी मुनि हो सकते हैं क्या ? संघ परंपरा और श्रुतपरम्परा का क्या महत्त्व है ? आचार्य कुंदकुंददेव आदि महामुनि संघ के अधिपति हुये थे या एकलविहारी थे ? क्या वे सदा वन में रहते थे ?

पुलाक आदि पाँच प्रकार के मुनि प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में होते चले आये हैं। पुनः वे प्रामाणिक हैं या नहीं ? द्रव्य लिंग और भाव लिंग की क्या व्यवस्था है ? इस पंचमकाल में चातुर्वर्ण संघ का व्युच्छेद हो सकता है क्या ? आज के मुनि ग्राम, नगर, मंदिर या धर्मशाला आदि में रह सकते हैं या नहीं ? एक स्थान पर अधिक दिन रह सकते हैं या नहीं ?

आर्यिकाओं की क्या चर्या है ? वे पूजा के योग्य हैं या नहीं ? इत्यादि सामयिक शंकाओं का समाधान जब आगमरूपी दर्पण में दिख जायेगा, तब आप स्वयं निर्णय कर लेंगे कि आज भी सच्चे भावलिंगी मुनि होते हैं। उनकी चर्या आगम के अनुकूल है और पंचमकाल के अंत तक निर्दोष मुनि विचरण करते रहेंगे किन्तु ऐसा जो नहीं मानते हैं वे अज्ञानी हैं; आगम की अवहेलना करने वाले हैं।]

अब सबसे पहले आप जिनकल्पी और स्थविरकल्पी मुनियों की चर्या देखिये –

**''जिनेन्द्रदेव ने मुनियों के जिनकल्प और स्थविरकल्प ऐसे दो भेद कहे हैं।''**

## जिनकल्पी मुनि

जो उत्तम संहननधारी हैं उनके जिनकल्प होता है। जो मुनि पैर में कांटा लग जाने पर या नेत्र में धूलि पड़ जाने पर स्वयं नहीं निकालते हैं। यदि कोई

निकाल देता है तो मौन रहते हैं। जल वर्षा हो जाने पर गमन रुक जाने से छह मास तक निराहार रहते हुए कायोत्सर्ग में स्थित हो जाते हैं। जो ग्यारह अंगधारी हैं धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान में तत्पर हैं। अशेष कषायों को छोड़ चुके हैं, मौनव्रती हैं और गिरि कंदराओं में निवास करने वाले हैं। जो बाह्याभ्यंतर परिग्रह से रहित, स्नेहरहित, निःस्पृही, यतिपति 'जिन' (तीर्थंकर) के समान विचरण करते हैं वे ही श्रमण जिनकल्प में स्थित हैं अर्थात् जिनकल्पी होते हैं[1]।''

## स्थविरकल्पी मुनि

'जिनेन्द्रदेव ने अनगारों के लिये स्थविरकल्प भी बताया है। सो यह ऐसा है कि पाँच प्रकार के वस्त्रों का त्याग करना, अकिंचन वृत्ति धारण करना और प्रतिलेखन–पिच्छिका ग्रहण करना। पाँच महाव्रत धारण करना, स्थिति भोजन और एकभक्त करना, भक्ति सहित श्रावक के द्वारा दिया गया आहार करपात्र में ग्रहण करना, याचना करके भिक्षा नहीं लेना। बारह विध तपश्चरण में उद्युक्त रहना, छह आवश्यक क्रियाओं को सदा पालना, क्षितिशयन करना, शिर के केशों का लोच करना। जिनेन्द्रदेव की मुद्रा को धारण करना। **संहनन की अपेक्षा से इस दुःषमा काल में पुर, नगर और ग्राम में निवास करना।** ऐसी चर्या करने वाले साधु स्थविरकल्प में स्थित हैं। ये वही उपकरण रखते हैं कि जिससे चारित्र का भंग न होवे, अपने योग्य पुस्तक आदि को ग्रहण करते हैं। ये स्थविरकल्पी साधु समुदाय में–संघ सहित विहार करते हैं। अपनी शक्ति के अनुसार धर्म की प्रभावना करते हुये भव्यों को धर्मोपदेश सुनाते हैं और शिष्यों का संग्रह करके उनका पालन भी करते हैं।

इस समय संहनन अतिहीन है, दुःषम काल है और मन चंचल है, फिर भी वे धीर वीर पुरुष ही हैं जो कि महाव्रत के भार को धारण करने में उत्साही हैं।

पूर्व में–चतुर्थ काल में जिस शरीर से एक हजार वर्ष में जितने कर्मों की निर्जरा की जाती थी, इस समय हीन संहनन वाले शरीर से एक वर्ष में उतने ही कर्मों की निर्जरा हो जाती है[2]।

अन्यत्र भी ऐसे ही कहा है। यथा–

1. दुविहो जिणेहिं कहिओ जिणकप्पो तह य थविरकप्पो य।
   सो जिणकप्पो उत्तो उत्तमसंहणणधारिस्स।।119।।
2. जिण इव विहरंति सया ते जिणकप्पे ठिया सवणा।।123।।(भावसंग्रह)



## जिनकल्पी

''जो जितेन्द्रिय साधु सम्यक्त्वरत्न से विभूषित हैं, एक अक्षर के समान एकादश अंग के ज्ञाता हैं। .....निरंतर मौन रहते हैं, वज्रवृषभनाराच संहनन के धारक हैं, पर्वत की गुफा, वन, पर्वतों पर तथा नदियों के किनारे रहते हैं। वर्षाकाल में षट्मासपर्यंत निराहार रहकर कायोत्सर्ग करते हैं। जो 'जिन भगवान्' के सदृश विहार करते हैं वे जिनकल्पी कहे गये हैं।

## स्थविरकल्पी

जो जिनमुद्रा के धारक हैं, .....संघ के साथ-साथ विहार करते हैं, धर्म-प्रभावना तथा उत्तम-उत्तम शिष्यों के रक्षण में और वृद्ध साधुओं के रक्षण व पोषण में सावधान रहते हैं इसीलिये महर्षिगण इन्हें स्थविरकल्पी कहते हैं। इस भीषण कलिकाल में हीन संहनन होने से ये साधु स्थानीय नगर, ग्राम आदि के जिनालय में रहते हैं। यद्यपि यह काल दुस्सह है, संहननहीन है, मन अत्यंत चंचल है और मिथ्यामत सारे संसार में विस्तीर्ण हो गया है तो भी ये साधु संयम पालन में तत्पर रहते हैं।

जो कर्म पूर्व काल में हजार वर्ष में नष्ट किये जाते थे, वे कलियुग में एक वर्ष में ही नष्ट किये जा सकते हैं[1]।''

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तम संहननधारी मुनि ही जिनकल्पी कहलाते हैं। इस पंचम काल में उत्तम संहनन का अभाव है, तीन हीन संहनन ही होते हैं। अतः आज के युग में जिनकल्पी मुनि न होकर स्थविरकल्पी ही होते हैं। श्री कुंदकुंददेव आदि भी जिनकल्पी नहीं थे। चूँकि न इनके उत्तम संहनन ही था, न ये ग्यारह अंगों के ज्ञाता ही थे, न ये छह-छह मास तक कायोत्सर्ग में लीन हो सकते थे और न ये सदा गिरि, गुफा, पर्वतों पर ही रहते थे क्योंकि इस स्थिति में ग्रंथों के लेखन आदि का कार्य संभव नहीं हो सकता था।

अब आचार ग्रंथों में सबसे प्रमुख मूलाचार का विधान देखिये–

पदविभागी समाचारी का निरूपण करते हुये आचार्य कहते हैं कि ''कोई

1. .....जिनकल्पाख्यसंयमः।
   सांप्रतं कलिकालेऽस्मिन् हीनसंहननत्वात। स्थानीयनगरग्रामजिनसद्मनिवासिन।।119।।
   कालोऽयं दुःसहो हीनं शरीरं तरलं मनः। मिथ्यामतमतिव्याप्तं तथापि संयमोद्यता।।120।।
   .....(भद्रबाहुचरित, परिच्छेद-4)

धैर्य, वीर्य, उत्साह आदि गुणों से सहित मुनि अपने गुरु के पास उपलब्ध शास्त्रों को पढ़कर पुनः और विशेष अध्ययन के लिये अन्य आचार्य के पास जाना चाहता है। तो वह अपने गुरु के पास विनय से अन्यत्र जाने हेतु बार-बार प्रश्न करता है। अवसर देखकर तीन, पाँच या छह बार प्रश्न करता है, पुनः दीक्षागुरु और शिक्षागुरु की आज्ञा लेकर अपने साथ एक, दो या तीन मुनियों को साथ लेकर जाता है क्योंकि एकाकी गमन करने की शास्त्र में आज्ञा नहीं है[1]।''

## एकलविहारी साधु कैसा होना चाहिये?

''जो साधु बारह प्रकार के तप करने वाले हैं, द्वादश अंग और चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता हैं अथवा क्षेत्र, काल आदि के अनुरूप आगम के ज्ञाता हैं या प्रायश्चित्त आदि ग्रंथों के वेत्ता हैं, देह की शक्ति और हड्डियों के बल से अथवा भाव के सत्त्व से सहित हैं, शरीरादि से भिन्नरूप ऐसी एकत्व भावना में तत्पर हैं। वज्रर्षभनाराच आदि तीन संहनन में से किसी एक संहनन के धारक हैं, मनोबल से सहित हैं–क्षुधादि बाधाओं को सहने में समर्थ हैं, बहुत दिनों के दीक्षित हैं, तपस्या से वृद्ध हैं और आचारशास्त्रों के पारंगत हैं ऐसे मुनि को ही एकलविहारी होने की जिनेन्द्रदेव ने आज्ञा दी है।''[2]

ग्रंथकार पुनः कहते हैं कि–''गमनागमन में, सोने में, उठने में, कुछ वस्तु के ग्रहण करने में, आहार लेने में, मलमूत्रादि विसर्जन करने में और बोलने आदि क्रियाओं में स्वच्छंद प्रवृत्ति करने वाला ऐसा कोई भी मुनि चाहे वह मेरा शत्रु ही क्यों न हो तो भी वह एकाकी विचरण न करे।''[3]

जो संघ के अधिपति आचार्य को और संघ में रहने वाले साधुओं को परिग्रही, मोही आदि संज्ञा देकर उन्हें आगम के विरुद्ध समझते हैं, उन्हें इस आगम आधार से संघ की व्यवस्था को शास्त्रोक्त ही समझकर अपनी धारणा सुधार लेनी चाहिए। क्योंकि श्री कुंदकुंददेव ने प्रवचनसार में भी आचार्य को संघ संचालन का आदेश दिया है। यथा–

1. गाथा 145, 146, 147। (मूलाचार अ.4)
2. तवसुत्तसत्तएगत्तभावसंघडणधिदिसमग्गो य।
   पविया आगमबलिओ एयविहारी अणुण्णादो।।140।।(मूलाचार अ.4)
3. सच्छंदगदागदी सयणणिसयणादाणभिक्खवोसरणे।
   सच्छंदजंपरोचि य मा मे सत्तू वि एगागी।।150।।(मूलाचार अ.4)



''जो अरहंतादि की भक्ति, आचार्य आदि के प्रति वात्सल्य पाया जाता है वह शुभयुक्तचर्या शुभोपयोगी चारित्र है। वंदना-नमस्कार आदि करना, विनय प्रवृत्ति करना, उनकी थकान दूर करना सरागचर्या में निषिद्ध नहीं है। अनुग्रह की इच्छा से दर्शन और ज्ञान का उपदेश देना, शिष्यों का ग्रहण करना और उनका पोषण करना और जिनेन्द्रदेव की पूजा का उपदेश देना, यह सरागी मुनियों की चर्या है। जो मुनि नित्य ही चातुर्वर्ण संघ या जीवों की विराधना से रहित उपकार करता है वह राग की प्रधानता वाला है। रोगी, गुरु, बाल या वृद्ध श्रमणों की वैयावृत्य के लिए शुभोपयोगी मुनि को लौकिकजन से वार्तालाप करने का निषेध नहीं है।[1]''

यहाँ पर जो 'शिष्यों का ग्रहण करना और उनका पोषण करना' यह आदेश ही संघ के संचालन का द्योतक है।

## मूलाचार में भी आचार्यों के लिये संघ बनाने का आदेश दिया है, यथा-

''जो शिष्यों का संग्रह और उनके ऊपर अनुग्रह करने में कुशल हैं, सूत्र और उसके अर्थ में विशारद हैं, कीर्तिमान हैं, क्रिया और आचरण से युक्त हैं, जिनके वचन प्रमाणीभूत हैं और जिन्हें सब मानते हैं ऐसे आचार्य होते हैं।''[2]

ऐसे ही भगवती आराधना में भी संघ की व्यवस्था मानी गई है। एक संघ के आचार्य अपनी सल्लेखना हेतु अपने योग्य शिष्य पर संघ का भार छोड़कर अर्थात् उन्हें आचार्य बनाकर द्वितीय संघ में प्रवेश करते हैं कि जिससे शिष्यों के मोह आदि के निमित्त से हमारी सल्लेखना में विघ्न न आ जावे तथा वहाँ पर भी वे आचार्य अड़तालीस मुनि के साथ उनको सल्लेखना कराते हैं। कम से कम दो मुनि सल्लेखनारत मुनि की परिचर्या के लिये अवश्य होना चाहिये ऐसा ही वहाँ विधान किया गया है।

## संघ परम्परा

भगवान महावीर स्वामी के समय से ही आचार्य परम्परा चली आ रही है। यथा–''वर्धमान तीर्थंकर के निमित्त से गौतम गणधर श्रुतपर्याय से परिणत हुये, इसलिये द्रव्यश्रुत के कर्त्ता गौतम गणधर हैं। उन गौतमस्वामी ने दोनों प्रकार का श्रुतज्ञान लोहाचार्य को दिया। लोहाचार्य ने जम्बूस्वामी को दिया।

1. प्रवचनसार गाथा 246, 247, 248, 249, 253।
2. ''दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।।247।। मूलाचार गाथा 158, अ.4।

परिपाटी क्रम में तीनों ही सकलश्रुत के धारक कहे गये हैं। यदि परिपाटीक्रम की अपेक्षा न की जाये तो संख्यात हजार सकलश्रुत के धारी हुये हैं। गौतमस्वामी, लोहाचार्य और जम्बूस्वामी ये तीनों केवलज्ञानी होकर निर्वाण को प्राप्त हुये हैं। इसके बाद विष्णु, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पाँचों ही आचार्य परिपाटी क्रम से चौदहपूर्व के पाठी हुये। तदनंतर विशाखचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धार्थदेव, धृतिसेन, विजयाचार्य, बुद्धिल, गंगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह ही साधु परिपाटीक्रम से ग्यारह अंग और दशपूर्व के धारी हुए। इसके बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल, पांडुस्वामी, ध्रुवसेन एवं कंसाचार्य ये पाँचों ही आचार्य परिपाटी क्रम से ग्यारह अंगों और चौदहपूर्वों के एकदेश के धारक हुए। तदनंतर सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहाचार्य ये चारों ही आचार्य सम्पूर्ण आचारांग के धारक और शेष अंग तथा पूर्वों के एकदेश के धारक हुये। इसके बाद सभी अंग और पूर्वों का एकदेश ज्ञान आचार्य परम्परा से आता हुआ धरसेन आचार्य को प्राप्त हुआ।''[1]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि धरसेनाचार्य पर्यंत श्रुतपरम्परा और आचार्यपरम्परा का व्युच्छेद नहीं हुआ है। क्योंकि ''आइरियपरम्पराए आगच्छमाणो'' यह वाक्य स्पष्ट आचार्य परम्परा को घोषित कर रहा है।

पुनः अपना यह श्रुतज्ञान श्रीधरसेनाचार्य ने पुष्पदंत और भूतबलि महामुनियों को दिया है जिन्होंने 'षट्खंडागम' सूत्र रूप में उसे लिपिबद्ध किया है।

## आचार्य परम्परा

'प्रथम शुभचंद्र की गुर्वावली' में श्री गुप्तिगुप्त अर्थात् अर्हद्बलि आचार्य से लेकर उन-उन के पट्ट पर आसीन होने वाले आचार्यों की नामावली दी गई है। जिसमें 102 आचार्यों के नाम हैं। यथा–

श्रीमानशेषनरनायकवंदिताघ्रीः श्रीगुप्तिगुप्त (1) इति विश्रुतनामधेयः।
यो भद्रबाहु (2) मुनिपुंगवपट्टपद्मः, सूर्यः स वो दिशतु निर्मलसंघ वृद्धिम्।।1।।
श्रीमूलसंघेऽजनि नंदिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्यः।
तत्राभवत्पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी (3) नरदेववंद्यः।।2।।
पट्टे तदीये मुनिमान्यवृत्तो जिनादिचन्द्र (4) स्समभूदतन्त्रः–
ततोऽभवत्पंचसुनामधाम श्रीपद्मनंदी मुनिचक्रवर्ती।।3।।

1. ....तदो सव्वेसिमंगपुव्वाणमेगदेसो आइरियपरम्पराए आगच्छमाणो धरसेणाइरियं संपत्तो।'' धवला पु.1, पृ.66-68।



आचार्यः कुंदकुंदाख्यो (5) वक्रग्रीवो महामुनिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छः पद्मनंदीति तन्नुतिः।।4।।
पद्मनंदी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी।
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती।
ऊर्ज्जयंतगिरौ तेन गच्छः सारस्वतोऽभवत्।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनंदिने[1]।।63।।

समस्त राजाओं से पूजित पादपद्म वाले मुनिवर 'भद्रबाहु' स्वामी के पट्टकमल को उद्योत करने में सूर्य के समान 'श्री गुप्तिगुप्त' मुनि आप लोगों को शुभसंगति दें। श्री मूलसंघ में नंदिसंघ उत्पन्न हुआ, इस संघ में अतिरमणीय बलात्कारगण हुआ और उस गण में पूर्व के जानने वाले, मनुष्य व देवों से वंद्य श्री 'माघनंदिस्वामी' हुये। उनके पट्ट पर मुनिश्रेष्ठ 'जिनचंद्र' हुये और इनके पट्ट पर पाँच नामधारक मुनिचक्रवर्ती 'श्री पद्मनंदी स्वामी' हुये। कुंदकुंद, वक्रग्रीव, एलाचार्य, गृद्धपिच्छ और पद्मनंदी उनके ये पाँच नाम थे। (ये ही कुंदकुंदाचार्य समयसार आदि ग्रंथ के कर्त्ता हैं।)

पुनः उनके पट्ट पर दशाध्यायी तत्त्वार्थसूत्र के प्रसिद्धकर्त्ता मिथ्यात्व तिमिर के लिये सूर्य के समान 'उमास्वाति' (उमास्वामी) आचार्य हुये, इत्यादि।

इसी क्रम से 102 आचार्यों की परम्परा बताकर अंत में श्री कुंदकुंद स्वामी की विशेषताओं का स्मरण करते हुए उन्हें नमस्कार किया है।

''श्री पद्मनंदी (कुंदकुंद) गुरु ने बलात्कारगण में अग्रसर होकर पट्टारोहण किया और जिन्होंने पाषाण घटित सरस्वती को ऊर्जयंत गिरि पर वादी के साथ वादित कराया (बुलवाया), तब से ही सारस्वतगच्छ चला। इसी उपकृति के स्मरणार्थ उन श्री पद्मनंदी मुनि को मैं नमस्कार करता हूँ।''

इस श्लोक से वृन्दावन कवि की पंक्तियाँ स्मरण में आये बिना नहीं रहती हैं जो कि उन्होंने गुरु के मंगलाष्टक में कही हैं–

संघ सहित श्री कुंदकुंद गुरु वंदन हेत गये गिरनार।
वाद पर्‌यो जहं संशय मति सों साक्षी वदी अंबिकाकार।।
''सत्यपंथ निर्ग्रंथ दिगम्बर'' कही सुरी तहं प्रकट पुकार।
सो गुरुदेव बसो उर मेरे विघ्नहरण मंगल करतार।।1।।

1. ''तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा'' पु.4, पृ.393-399।

इस प्रकरण से श्री कुंदकुंद आचार्य द्वारा गिरनार पर्वत पर श्वेतांबर साधुओं से विवाद होकर निर्ग्रंथ दिगम्बर पंथ ही सत्य है इस बात को सरस्वती की मूर्ति से कहला देने की कथा सत्य सिद्ध हो जाती है।

नंदिसंघ की पट्टावली में तो एक-एक आचार्य किस संवत् में पट्टासीन हुये उनका समय भी दिया गया है। यथा–

1. भद्रबाहु द्वितीय (4), 2. गुप्तिगुप्त (26), 3. माघनन्दी (6), 4. जिनचंद्र (40), 5. कुंदकुंदाचार्य (49), 6. उमास्वामी (101), .....।'[1] इत्यादि।

अर्थात् भद्रबाहु द्वितीय विक्रम संवत् 4 में पट्ट पर बैठे, उनके पट्ट पर श्रीगुप्तिगुप्त वि.सं. 26 में आसीन हुये इत्यादि।

इन पट्टावलियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री कुंदकुंदस्वामी अपने गुरु जिनचंद्र के पट्ट पर आचार्य हुये हैं पुनः उन्होंने संघसहित गिरनार पर्वत की यात्रा की है, अनंतर अपना पट्ट उन्होंने श्रीउमास्वामी को सौंपा है। इस कथन से ''श्रीकुंदकुंददेव एकलविहारी थे या वन में ही रहते थे' ऐसी मान्यता का निराकरण हो जाता है।

## वर्तमान में संघ परम्परा

वर्तमान में आचार्य श्री शांतिसागर महामुनि आदि ने श्रीकुंदकुंदाचार्य की परम्परा को ही समुद्योतित किया है। उनके पट्टाचार्यों की परम्परा भी मूलसंघ के अंतर्गत नंदिसंघ, बलात्कारगण और सरस्वतीगच्छ का आश्रय करने वाली है। इस परम्परा के आचार्य और मुनिगण मूलाचार, भगवती आराधना, आचारसार, अनगार धर्मामृत आदि ग्रंथों के आधार से ही अपनी चर्या का पालन कर रहे हैं।

### किन-किन ग्रंथों को प्रमाण मानें ?

श्री इंद्रनंदि आचार्य कहते हैं–

''श्री भद्रबाहु, श्रीचंद्र, जिनचंद्र, गृद्धपिच्छाचार्य, लोहाचार्य, एलाचार्य, पूज्यपाद, सिंहनंदी, जिनसेन, वीरसेन, गुणनंदी, समंतभद्र, श्रीकुम्भ, शिवकोटि, शिवायन, विष्णुसेन, गुणभद्र, अकलंकदेव, सोमदेव, प्रभाचंद्र और नेमिचंद्र इत्यादि मुनिपुंगवों के द्वारा रचित शास्त्र ही ग्रहण करने योग्य हैं। इनसे अतिरिक्त (सिंह, नंदि, सेन और देवसंघ इन चार संघ के आचार्यों से अतिरिक्त)

1. नंदिसंघ की पट्टावली के आचार्यों की नामावली (इण्डियन एण्टीक्वेरी के आधार पर)
(तीर्थंकर महावीर और उनकी आ. परम्परा, पु.4, पृ.441)



विसंघ्य अर्थात् परम्पराविरुद्ध जनों के द्वारा रचित ग्रंथ अच्छे होकर भी प्रमाण नहीं हैं क्योंकि परम्परागत पूर्वाचार्यों के वचन सर्वज्ञ भगवान के वचनों के सदृश हैं। उन्हीं से ज्ञान प्राप्त करता हुआ अनगार साधु अखिल जनों में पूज्य होता है[1]।''

इस कथन से षट्खंडागमसूत्र तथा कषायपाहुड़ ग्रंथ और उनकी धवला, जयधवलाटीका, तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, रत्नकरंड-श्रावकाचार, भगवती आराधना, महापुराण, उत्तरपुराण, यशस्तिलकचंपू, न्यायकुमुदचंद्र, गोम्मटसार, समयसार आदि ग्रंथ पूर्णतया प्रमाणिक सिद्ध हो जाते हैं।

**प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में पुलाक, वकुश आदि पाँच प्रकार के मुनि होते आये हैं। उनका क्या लक्षण है ? और आजकल कौन से मुनि होते हैं कौन से नहीं ? सो ही देखिये–**

### पुलाक आदि मुनि

मुनियों के पाँच भेद हैं–पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक।

**पुलाक**–जो उत्तर गुणों से हीन हैं और व्रतों में क्वचित् कदाचित दोष लगा देते हैं। ये बिना धुले हुये (किंचित् लालिमा सहित) धान्य सदृश होने से पुलाक कहलाते हैं।

**वकुश**–जो मूलगुणों को तो पूर्णतया पालते हैं, किन्तु शरीर के संस्कार, ऋद्धि, सुख, यश और विभूति के इच्छुक हैं वे वकुश हैं।

**कुशील**–कुशील मुनि के दो भेद हैं–प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील। जो परिग्रह की भावना सहित हैं, मूल और उत्तर गुणों में परिपूर्ण हैं किन्तु कभी-कभी उत्तर गुणों की विराधना करने वाले हैं वे प्रतिसेवना कुशील हैं। ग्रीष्मकाल में जो जंघा प्रक्षालन आदि का सेवन करते हैं, संज्वलनमात्र कषाय के वशीभूत हैं, वे कषाय कुशील हैं।

1. श्रीभद्रबाहुः श्रीचंद्रो जिनचंद्रो महामुनिः। गृद्धपिच्छगुरुः श्रीमान् लोहाचार्यो जितेन्द्रियः।।67।।
एलाचार्यः पूज्यपादः सिंहनंदी महाकविः। जिनसेनो वीरसेनो गुणनंदी महातपाः।।68।।
समंतभद्रः श्रीकुम्भः शिवकोटिः शिवंकरः। शिवायनो विष्णुसेनो गुणभद्रो गुणाधिकः।।69।।
अकलंको महाप्राज्ञः सोमदेवो विदांवरः। प्रभाचंद्रो नेमिचंद्र इत्यादिमुनिसत्तमैः।।70।।
यच्छास्त्रं रचितं नूनं तदेवादेयमन्यकैः। विसंघ्यं रचितं नैव प्रमाणं साध्वपि स्फुटम्।।71।।
पूर्वाचार्यवचः श्रीमत्सर्वज्ञवचनोपमम्। तज्ज्ञानन्नगारोऽत्र पूज्यः स्यादखिलैर्जनैः।।72।।(नीतिसार)

**निर्ग्रंथ**—जल में खींची हुई रेखा के समान जिनके कर्मों का उदय अनभिव्यक्त है और जिनके अंतर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान उत्पन्न होने वाला है वे निर्ग्रंथ हैं। (ये बारहवें गुणस्थानवर्ती ही हैं।)

**स्नातक**—केवली भगवान स्नातक हैं।

**ये पाँचों ही निर्ग्रंथ हैं।**

**शंका**—उत्कृष्ट, जघन्य और मध्यम की अपेक्षा चारित्र भेद होने से इन सब में निर्ग्रंथता नहीं हो सकती ?

**समाधान**—ऐसा नहीं है, क्योंकि जैसे जाति से और चारित्र, अध्ययन आदि भेदों से भेद होने पर भी ब्राह्मण शब्द से सभी ब्राह्मणों में कोई भेद नहीं है उसी प्रकार से इन सबमें निर्ग्रंथ शब्द से कोई भेद नहीं है।

दूसरी बात यह है कि—

संग्रह और व्यवहारनय की अपेक्षा से भी सर्वविशेष का संग्रह हो जाता है तथा सम्यग्दर्शन सहित और वेश, भूषा, आयुध आदि से रहित निर्ग्रंथरूप सामान्यरूप से सभी पुलाक आदि में विद्यमान है अतः सभी में निर्ग्रंथ शब्द का प्रयोग युक्त है।

**शंका**—यदि खंडित व्रत वालों में भी निर्ग्रंथ शब्द का प्रयोग किया जावेगा तब तो श्रावक में भी करना चाहिए ?

**समाधान**—नहीं, क्योंकि उसके निर्ग्रंथरूप नहीं है। यहाँ पर हमें निर्ग्रंथरूप प्रमाण है और वह श्रावक में नहीं है अतः यह दोष नहीं आता है।

**शंका**—यदि रूप ही प्रमाण है तो अन्य भी निर्ग्रंथ सदृश नग्नरूप वाले[1] में निर्ग्रंथ शब्द का प्रयोग करना चाहिये ?

**समाधान**—ऐसा नहीं है, क्योंकि उनमें सम्यग्दर्शन नहीं है। जहाँ सम्यग्दर्शन से साथ मुद्रा है वहीं पर निर्ग्रंथ शब्द का प्रयोग होता है किन्तु नग्नरूप मात्र में नहीं।

**शंका**—पुनः ये पुलाक आदि नाम क्यों हैं ?

**समाधान**—चारित्र गुण की उत्तर-उत्तर प्रकर्षता बतलाने के लिये ये संज्ञायें हैं[2]।''

अब इसमें समझना यह है कि पुलाक मुनियों के ही मूलगुणों में विराधना हो सकती है अथवा यों समझिये कि जिनके मूलगुणों में कदाचित् विराधना हो

1. जैसे कि अन्य संप्रदाय में परमहंस आदि साधु नग्न ही रहते हैं।
2. तत्त्वार्थराजवार्तिक अ.9, सूत्र 46।



जाती है वे 'पुलाक' कहलाते हैं। बाकी के मुनियों में मूलगुण परिपूर्ण हैं किन्तु उत्तर गुणों में किन्हीं के दोष संभव हैं। फिर भी ये पुलाकसंज्ञक मुनि भावलिंगी हैं या नहीं ? पूज्य हैं या नहीं ? इसका समाधान स्वयं श्रीभट्टाकलंक देव के शब्दों में आगे देखिये—

इन पाँचों ही निर्ग्रंथों का संयम आदि आठ अनुयोगों द्वारा व्याख्यान करना चाहिये।

पुलाक, वकुश और प्रतिसेवनाकुशील इनके सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो ही संयम होते हैं। कषायकुशील के सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय ये चार संयम होते हैं तथा निर्ग्रंथ और स्नातक के एक यथाख्यात संयम ही है[1]।

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये पुलाक मुनि भावलिंगी हैं न कि द्रव्यलिंगी। क्योंकि द्रव्यलिंगी में सामायिक और छेदोपस्थापना संयम का होना असंभव है। ये संयम तो छठे सातवें आदि गुणस्थानों में ही होते हैं।

''पुलाक, वकुश और प्रतिसेवना को श्रुतज्ञान उत्कृष्ट से अभिन्नदशपूर्व तक हो सकता है।''

यहाँ पर भी समझ लेना चाहिये कि द्रव्यलिंगी मुनि को पूर्व का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि अधिक से अधिक ग्यारह अंग का ज्ञान हो सकता है।

प्रतिसेवना में—पाँच मूलगुण और रात्रिभोजनत्याग इनमें किसी एक का पर की जबरदस्ती से सेवन कर लेने वाला पुलाक होता है।

इस प्रकरण में तत्त्वार्थवृत्तिकार का स्पष्टीकरण ऐसा है—

''रात्रि भोजन त्याग का विराधक मुनि कैसे होगा ?''

'श्रावक आदिकों का इससे उपकार होगा' ऐसा सोचकर अपने छात्र आदि को जो रात्रि में भोजन करा देते हैं इसलिये विराधक हो जाते हैं[2]।''

इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आचार्यादि मुनिसंघ में अविरत छात्रादि को भी रखते हैं।

''वकुश के भी दो भेद हैं—उपकरण वकुश और शरीर वकुश। जो उपकरणों में आसक्ति रखते हैं, नाना प्रकार के विचित्र परिग्रहों से युक्त हैं, बहुत विशेषतासहित उपकरणों के इच्छुक हैं, उन उपकरणों के संस्कार और प्रतीकार

1. तत्वार्थरा. अ.9, सूत्र 47, वार्तिक 4। 2. ''श्रावकादीनामुपकारोऽनेन भविष्यतीति छात्रादिकं रात्रौ भोजयतीति विराधकः स्यात्।'' (तत्त्वार्थवृत्ति अ.9, सूत्र 47)

को करने वाले हैं वे साधु उपकरण वकुश हैं। शरीर के संस्कार को करने वाले शरीर वकुश हैं।''

वकुश मुनि के लक्षण में तत्त्वार्थवृत्तिकार ने कहा है कि जो निर्ग्रंथमुनि व्रतों में दोष न लगाते हुये भी शरीर, उपकरण–पिच्छी, कमंडलु, पुस्तक आदि की शोभा चाहते हैं, ऋद्धि, सुख, वैभव की आकांक्षा करते हैं और असंयत शिष्यों से सहित हैं वे वकुश हैं।

तीर्थ की अपेक्षा से–''सभी तीर्थंकरों के तीर्थों में ये पाँचों प्रकार के मुनि होते हैं।''

''लिंग में–भावलिंग की अपेक्षा सभी पाँचों प्रकार के मुनि निर्ग्रंथलिंगी हैं। द्रव्यलिंग की अपेक्षा भाज्य हैं।''

इन सभी प्रकरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि मुनि के कदाचित् मूलगुणों में दोष लग जाता है या वे संघ में असंयत छात्रों को रखते हैं अथवा पिच्छी, कमण्डलु, शरीर आदि को संस्कारित करते रहते हैं, कदाचित् क्वचित् गर्मी के दिनों में जंघा प्रक्षालन आदि कर लेते हैं तो वे सब मुनि पुलाक, वकुश या कुशील भेदों में आते हैं वे भावलिंगी हैं। सामायिक तथा छेदोपस्थापना संयम के धारी हैं अतः पूज्य हैं।

आज के युग में निर्ग्रंथ और स्नातक मुनि नहीं हो सकते हैं।

## सरागी और वीतरागी मुनि

सराग और वीतराग चारित्र की अपेक्षा मुनियों के सरागी और वीतरागी ऐसे दो भेद भी हो जाते हैं। सिद्धांत की भाषा में ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में वीतरागता मानी है किन्तु अध्यात्म की भाषा में अथवा बुद्धिपूर्वक राग के न होने से सातवें से भी वीतरागता शुरू हो जाती है चूँकि सातवें में शुद्धोपयोग माना गया है।

जब कोई भी पुरुष दीक्षा लेता है तब उस समय उसके पहले गुणस्थान से या चौथे गुणस्थान से अथवा पाँचवें गुणस्थान से सातवें गुणस्थानरूप परिणाम होते हैं चूँकि छठा गुणस्थान गिरने से ही होता है।

तात्पर्य यह है कि दीक्षा लेकर मुनि एकदम सातवें गुणस्थान में सामायिक संयमरूप अभेद रत्नत्रय को प्राप्त कर लेते हैं। पुनः अंतर्मुहूर्त के बाद वहाँ ठहरने में असमर्थ होने से मूलगुणों में अपने को स्थापित करते हुये भेदरूप छेदोपस्थापना संयम में आ जाते हैं, चूँकि ये अट्ठाईस मूलगुण निर्विकल्प



सामायिकसंयम के ही भेद हैं। जैसे सुवर्ण के इच्छुक को यदि सुवर्ण न मिले तो वह उससे बनी अंगूठी आदि को ही ले लेता है उसे छोड़कर दोनों तरफ से रिक्तहस्त नहीं होता है। वैसे ही मुनि अभेदरूप सामायिक संयम में जब अधिक देर ठहर नहीं पाते हैं तो वे भेदरूप छेदोपस्थापना में आ जाते हैं[1]।''

इसमें जो सामायिक संयम में स्थित हैं वे वीतरागी कहलाते हैं क्योंकि बुद्धिपूर्वक उनके राग का अभाव है, वे शुद्धोपयोगरूप निर्विकल्पध्यान में स्थित हैं और छेदोपस्थापनारूप भेदचारित्र में प्रवृत्ति करते हैं वे सरागी मुनि माने जाते हैं चूँकि वे शुभोपयोगी हैं।

आगे इन्हीं के पर्यायवाची नाम को बतलाते हैं, उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। यथा–

उत्सर्ग और अपवाद का लक्षण कहते हैं–

''शुद्धात्मा से अतिरिक्त अन्य सभी बाह्य और आभ्यंतर परिग्रह का त्याग कर देना उत्सर्ग है। उत्सर्ग, निश्चयनय, सर्वपरित्याग, परमोपेक्षासंयम, वीतराग-चारित्र और शुद्धोपयोग, ये सब एक अर्थ वाले हैं। जो मुनि इसमें ठहरने में असमर्थ है वह शुद्धात्मभावना के लिये सहकारीभूत कुछ भी प्रासुक आहार और ज्ञान के उपकरण-शास्त्र आदि को ग्रहण करता है, सो यह अपवाद है। अपवाद, व्यवहारनय, एकदेश परित्याग, अपहृतसंयम, सरागचारित्र और शुभोपयोग ये सब एकार्थवाची हैं।''

श्री कुंदकुंददेव ने प्रवचनसार में अपवादमार्ग के आश्रय का विधान किया है। यथा–

''बाल, वृद्ध, श्रांत या व्याधिग्रस्त श्रमण मूल का छेद जैसे न हो उस प्रकार से अपने योग्य आचरण आचरो। यदि श्रमण आहार या विहार में देश, काल, क्षमता तथा उपाधि इनको जानकर प्रवृत्ति करता है तो वह अल्प ही कर्मों से बंधता है।[2]।

इन गाथाओं की टीका में श्री अमृतचंद्रसूरि ने उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री का अच्छा वर्णन किया है। वे कहते हैं कि यदि कोई साधु बाल, वृद्ध, श्रांत या रुग्ण अवस्था के निमित्त से आहार, विहार आदि में अल्पकर्मबंध के डर से प्रवृत्ति न करे अर्थात् अपवाद का आश्रय न लेवे, दृढ़तापूर्वक उत्सर्गरूप कठोर

1. ''एते निर्विकल्पसामायिकसंयमविकल्पत्वात् श्रमणानां मूलगुणा एव। तेषु यदानिर्विकल्पसामायिकाधिरूढत्वेनानभ्यस्तविकल्पत्वात्प्रमाद्यति तदा....विकल्पेनात्मानमुपस्थापयन्छेदोपस्थापकोभवति।'' (प्रवचनसार गा. 208, 209, अमृत. पृ.504।) 2. प्रवचनसार गाथा 230-231।

आचरण में ही लगा रहे तो वह अक्रम से शरीर का घात करके संयमरूपी अमृत का वमन करके देवलोक को प्राप्त होगा। तो वहाँ तप का अवकाश न होने से महान कर्मबंध होगा, इसलिये अपवाद निरपेक्ष उत्सर्ग श्रेयस्कर नहीं है। तात्पर्य यही है कि उत्सर्गसापेक्ष अपवाद और अपवादसापेक्ष उत्सर्ग ही श्रेयस्कर है अथवा यों कहिये कि निश्चय सापेक्ष व्यवहार और व्यवहार सापेक्ष निश्चय ही कल्याणकारी है। परस्पर निरपेक्ष होने से ठीक नहीं है।

आज के युग में मुनियों के छठा और सातवाँ ये दोनों गुणस्थान होते हैं। उत्तम संहनन के अभाव में इसके ऊपर श्रेणी में आरोहण करना संभव नहीं है। संघ में रहते हुये भी आचार्यों को या सामान्य साधुओं को सातवें गुणस्थान के योग्य शुद्धोपयोग होता है। उसे ही सामायिक संयम वीतराग चारित्र आदि भी कहते हैं चूँकि इन दोनों गुणस्थानों का पृथक-पृथक काल अंतर्मुहूर्त ही है। प्राचीनकाल में भी आचार्यों के संघ थे। वे ग्रंथ लिखते थे, पढ़ते थे, पढ़ाते थे, विहार करते थे और धर्मोपदेश करते थे। इन सभी कार्यों में कई-कई घंटे भी लग जाते होंगे। अतः यह निश्चित हो जाता है कि उस समय भी उनका गुणस्थान छठे से सातवाँ हो जाता था अन्यथा वे द्रव्यलिंगी माने जायेंगे।

## आज भी भावलिंगी दिगम्बर मुनि होते हैं

श्री कुंदकुंददेव कहते हैं–

**''भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।**
**तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी।।76।।**

इस भरतक्षेत्र में दुःषमकाल में मुनि को आत्मस्वभाव में स्थित होने पर धर्मध्यान होता है। जो ऐसा नहीं मानता है वह अज्ञानी है।

**अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं।**
**लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति।।77।।**

आज भी इस पंचमकाल में रत्नत्रय से शुद्ध आत्मा (मुनि) आत्मा का ध्यान करके इंद्रत्व और लौकांतिक देव के पद को प्राप्त कर लेते हैं और वहाँ से चयकर निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं।[1]

श्री पद्मनंदि आचार्य कहते हैं–

**''संप्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूडामणिः।**
**तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्द्योतिकाः।।**

1. मोक्षपाहुड़।



**सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तासां समालंबनं।**
**तत्पूजा जिनवाचि पूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः।।68।।**

इस समय भरतक्षेत्र में त्रैलोक्यचूड़ामणि केवली भगवान नहीं हैं। फिर भी लोक को प्रकाशित करने वाले उनके वचन तो यहाँ विद्यमान हैं और उनके वचनों का अवलंबन लेने वाले रत्नत्रयधारी श्रेष्ठ यतिगण भी मौजूद हैं। इसलिये उन मुनियों की पूजा जिनवचनों की पूजा है और जिनवचन की पूजा से साक्षात् जिनदेव की पूजा की गई है ऐसा समझना।''[1]

श्री कुंदकुंददेव नियमसार में निश्चय प्रतिक्रमण आदि छह आवश्यकों का वर्णन करते हुए अंत में कहते हैं–

**''जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं।**
**सत्तिविहीणो जो जइ सद्दहणं चेव कायव्वं।।154।।**

यदि करना शक्य हो तो ध्यानमय प्रतिक्रमण आदि करना चाहिए और यदि वैसी शक्ति नहीं हो तो तब तक (वैसी शक्ति आने तक) श्रद्धान ही करना चाहिए।''[2] टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारी देव कहते हैं–

''हे मुनि पुंगव! यदि संहनन शक्ति का प्रादुर्भाव हो तो तुम ध्यानरूप निश्चय प्रतिक्रमण आदि करो और यदि शक्तिहीन हो तो अर्थात् इस **'दग्धकालेऽकाले'** दुःषमकाल रूप अकाल में तुम्हें निजपरमात्मतत्त्व का केवल श्रद्धान ही करना चाहिए। पुनः टीकाकार कहते हैं–

**''असारे संसारे कलिविलसिते पापबहुले,**
**न मुक्तिर्मार्गेऽस्मिन्नघजिननाथस्य भवति।**
**अतोऽध्यात्मं ध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधियाम्।**
**निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतमिदम्।।264।।**

इस असार संसार में पाप से बहुल कलिकाल का विलास होने पर निर्दोष जिननाथ के इस मार्ग–शासन में मुक्ति नहीं है। अतः इस काल में अध्यात्म ध्यान कैसे हो सकता है ? इसलिये निर्मल बुद्धि वालों के लिये भव भय का नाश करने वाला यह निजात्मा का श्रद्धान करना ही स्वीकृत किया गया है।''[3]

इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जब मुनियों का निजात्म तत्त्व का ध्यान आज हीन संहनन में नहीं है उन्हें शक्ति के अभाव में श्रद्धान करने का आदेश श्री कुंदकुंददेव ने दिया है तथा टीकाकार ने तो बिल्कुल ही स्पष्ट

1. पद्मनंदिपंचविंशतिका पृ.30। 2. नियम. गा. 154। 3. नियम.गा.154, टीका।

कर दिया है। पुनः श्रावक व असंयत को 'आत्मध्यान' होता है ऐसा मानने वालों को इन पंक्तियों पर ध्यान देना चाहिए। हाँ, धर्मध्यान अर्थात् आज्ञाविचय आदि तथा पिंडस्थ आदि ध्यानों में पाँच परमेष्ठियों का अवलंबन ध्यान होता है उसका निषेध नहीं है।

तथा इसी कलशकाव्य से पंचमकाल में मुनियों का अस्तित्व भी स्पष्ट ही दिख रहा है।

श्री गुणभद्रस्वामी भी कहते हैं–

''जो स्वयं मोह को छोड़कर कुलपर्वत के समान पृथ्वी का उद्धार अथवा पोषण करने वाले हैं, जो समुद्रों के समान स्वयं धन की इच्छा से रहित होकर रत्नों की निधि–खान अर्थात् स्वामी हैं तथा जो आकाश के समान व्यापक होने से किन्हीं के द्वारा स्पर्शित न होकर विश्व की विश्रांति के लिये हैं, ऐसे अपूर्व गुणों के धारक चिरंतन महामुनियों के शिष्य और सन्मार्ग में तत्पर कितने ही साधु आज भी विद्यमान हैं[1]।''

## भगवान महावीर के तीर्थ में धर्मव्युच्छित्ति नहीं है

श्री यतिवृषभाचार्य कहते हैं–

''सुविधिनाथ को आदि में लेकर सात तीर्थों में उस धर्म की व्युच्छित्ति हुई थी और शेष सोलह तीर्थंकरों के तीर्थों में धर्म की परम्परा निरंतर बनी रही है। उक्त सात तीर्थों में क्रम से पावपल्य, अर्द्धपल्य, पौन पल्य, पल्य, पौन पल्य, अर्द्धपल्य और पावपल्य प्रमाण धर्मतीर्थ का व्युच्छेद रहा है। हुँडावसर्पिणी के दोष से यहाँ सात धर्म के विच्छेद हुये हैं। उस समय दीक्षा के अभिमुख होने वालों का अभाव होने पर धर्मरूपी सूर्यदेव अस्तमित हो गया था।[2]''

तात्पर्य यह है कि वृषभदेव से लेकर पुष्पदंतनाथ तक धर्म परम्परा अव्युच्छिन्नरूप से चली आई थी। पुनः पुष्पदंत के तीर्थ में पाव पल्य तक धर्म का अभाव रहा है, अनंतर जब शीतलनाथ तीर्थंकर हुये तब धर्मतीर्थ चला उनके तीर्थ में पौन पल्य, वासुपूज्य के तीर्थ में एक पल्य, विमलनाथ के तीर्थ में पौन पल्य, अनंतनाथ के तीर्थ में अर्द्धपल्य और धर्मनाथ के तीर्थ में पाव पल्य

1. सन्त्यद्यापि चिरंतनांतिकचराः सन्तः कियन्तोऽप्यमी।।33।। (आत्मानुशासन)

2. ''.....गाथा 1278-1279।

हुंडावसप्पिणिस्स य दोसेणं सत्त होंति विच्छेदा।

दिक्खाहिमुहाभावे अत्थमिदो धम्मरविदेओ।।1280।। (तिलोयपण्णत्ति अ.4, पृ.313)



तक धर्म का अभाव रहा है। अर्थात् कोई भी मनुष्य जैनेश्वरी दीक्षा लेने वाले नहीं हुए अतः धर्म का अभाव हो गया।

यहाँ पर यह बात समझने की है कि मुनिसंघ के बिना धर्म की परम्परा नहीं चल सकती है। इसी का स्पष्टीकरण और भी देखिये श्री यतिवृषभाचार्य के शब्दों में–

गौतमस्वामी से लेकर अंग-पूर्व के एक देश के जानने वाले मुनियों की परम्परा के काल का प्रमाण छह सौ तेरासी (683) वर्ष होता है। उसके बाद–

''जो श्रुततीर्थ धर्म प्रवर्तन का कारण है, वह बीस हजार तीन सौ सत्रह वर्षों में कालदोष से व्युच्छेद को प्राप्त हो जायेगा।''[1] अर्थात् 683 + 20317= 21000 इक्कीस हजार वर्ष का यह पंचमकाल है तब तक धर्म रहेगा, अंत में व्युच्छेद को प्राप्त हो जायेगा।

इतने पूरे समय तक चातुर्वर्ण्य संघ जन्म लेता रहेगा, किन्तु लोग प्रायः अविनीत, दुर्बुद्धि, असूयक, सात भय व आठ मदों से संयुक्त, शल्य एवं गारवों से सहित, कलहप्रिय, रागिष्ठ, क्रूर एवं क्रोधी होंगे[2]।''

इन पंक्तियों से बिल्कुल ही स्पष्ट है कि इक्कीस हजार वर्ष के इस काल में हमेशा चातुर्वर्ण्य संघ रहेगा ही रहेगा।

मुनि के अभाव में धर्म, राजा और अग्नि का भी अभाव हो जावेगा।यथा–

''इस पंचमकाल के अंत में इक्कीसवाँ कल्की होगा। उसके समय में वीरांगज नामक एक मुनि, सर्वश्री नामक आर्यिका तथा अग्निदत्त और पंगुश्री नामक श्रावक युगल होंगे। एक दिन कल्की की आज्ञा से मंत्री द्वारा मुनि के प्रथम ग्रास को शुल्करूप से माँगे जाने पर मुनि अंतराय करके वापस आ जायेंगे। उसी समय अवधिज्ञान को प्राप्तकर 'दुःषमाकाल का अंत आ गया है, ऐसा जानकर प्रसन्नचित्त होते हुए आर्यिका और श्रावक युगल को बुलाकर वे चारों जन चतुराहार का त्याग कर संन्यास ग्रहण कर लेंगे और तीन दिन बाद कार्तिक कृष्णा अमावस्या के स्वातिनक्षत्र में शरीर को छोड़कर देवपद प्राप्त करेंगे।

उसी दिन मध्याह्नकाल में क्रोध को प्राप्त हुआ कोई असुरकुमार देव राजा को मार डालेगा और सूर्यास्त के समय अग्नि नष्ट हो जावेगी।

1. तिलोय. प.अ. 4, गाथा 1493। 2. तेत्तियमेत्ते काले जम्मिस्सदि चाउवण्णसंघाओ।(तिलोय.अ.4, गा. 1494-1495)

इसके पश्चात् तीन वर्ष, आठ माह और एक पक्ष के बीत जाने पर महाविषम छठा काल प्रवेश करेगा[1]।''

इन वीरांगज मुनि के पहले-पहले हमेशा मुनियों का विहार इस पृथ्वीतल पर होता ही रहेगा।

**शंका**—अभी चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के पहले निर्दोष मुनि कहाँ थे ? अतः मुनि की अविच्छिन्न परम्परा कैसे मानी जा सकती है ?

**समाधान**—उस समय भी दक्षिण में मुनि विचरते थे। हाँ, इतना अवश्य है कि वे अधिक परिचित नहीं थे।

आजकल के मुनियों के प्रति श्रावकों का क्या कर्त्तव्य है? देखिये—

## श्रावकों के प्रति ग्रंथकर्त्ताओं के आदेश

**''कलौ काले चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।**
**एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः।।796।।**
**यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादिनिर्मितम्।**
**तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूज्याः संप्रति संयताः।।797।।**
**भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम्।**
**ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्ध्यति''।।798।।**

''इस कलिकाल में मनुष्यों का चित्त चंचल है, शरीर अन्न का कीड़ा बना हुआ है। फिर भी बड़े आश्चर्य की बात है कि आज भी जिनरूप को धारण करने वाले मनुष्य विद्यमान हैं। जैसे लेप, पाषाण आदि से निर्मित जिनेन्द्रप्रतिमायें पूज्य हैं वैसे ही आजकल के मुनियों को भी पूर्वकाल के मुनियों की प्रतिकृति मानकर पूजना चाहिये। 'आहार मात्र को देने के लिए तपस्वियों की परीक्षा क्या करना ? वे सज्जन हों या दुर्जन ? गृहस्थ तो दान से शुद्ध हो जाता है।' सब तरह से आरम्भ में प्रवृत्त हुए गृहस्थों का धन व्यय बहुत प्रकार से हुआ करता है अतः बहुत सोच-विचार नहीं करना चाहिये। मुनिजन जैसे-जैसे तप ज्ञान आदि गुणों से विशेष होवें, वैसे-वैसे गृहस्थों को उनकी अधिक-अधिक पूजा करना चाहिये। धन बड़े भाग्य से मिलता है अतः भाग्यशाली पुरुषों को आगमानुकूल कोई मुनि मिले या न मिले किन्तु उन्हें अपना धन जैन धर्माश्रितों में अवश्य खर्च करना चाहिए। जिनेन्द्रदेव का यह शासन प्रायः उच्च और हीन

1. तिलोयप., अ.4, पृ.344-345।



जनों से भरा हुआ है। जैसे एक खम्भे पर मकान नहीं ठहर सकता वैसे ही यह शासन भी एक पुरुष के आश्रय से नहीं ठहर सकता है[1]।''

अन्यत्र भी कहा है—

''जैसे पाषाण आदि की प्रतिमाओं में जिनेन्द्रदेव की स्थापना करके पूजते हैं वैसे ही आजकल के मुनियों में पूर्व के मुनियों की स्थापना करके भक्ति से उनकी अर्चा करिये, क्योंकि अति क्षोद-क्षेम करने वालों का हित कैसे हो सकता है?[2]''

## द्रव्यलिंग और भावलिंग

श्री इंद्रनंदि आचार्य कहते हैं—

''द्रव्यलिंग को धारण करके ही यति भावलिंगी होता है इसके बिना अनेकों व्रतों को धारण करने पर भी मुनि नहीं हो सकता। यह द्रव्यलिंग ही भावलिंग का कारण है क्योंकि भावलिंग तो अंतरंगकृत है वह नेत्र का विषय नहीं है। मुद्रा ही सर्वत्र मान्य होती है मुद्रारहित कोई भी मान्य नहीं होता जैसे कि राजमुद्रा को धारण करने वाला अत्यन्त हीन भी हो तो भी वह राजपुरुष माना जाता है।''[3]

वारिषेण मुनि का मित्र पुष्पडाल बारह वर्ष तक द्रव्यलिंग धारण करके भी अंतरंग में मुनि नहीं बन पाया। पुनः वारिषेण के द्वारा स्थितिकरण किये जाने पर प्रायश्चित लेकर शुद्ध हुआ। उसके पहले संघ में सभी मुनि उसके साथ वंदना करते थे या नहीं ? श्रावक उसे नवधाभक्ति करके आहार देते थे या नहीं ? कहना पड़ेगा कि साधुओं के संघ में बराबर वंदना प्रतिवंदना चल रही थी और श्रावक भी भक्ति से आहारदान आदि दे रहे थे क्योंकि भावों की स्थिति केवलीगम्य ही हुआ करती है। बाहर से तो द्रव्यलिंग ही दिखता है और बाह्य चर्या भी दिखती है उसी के अनुरूप पूज्य-पूजा की व्यवस्था चलती है।

मुनि द्रव्य से निर्ग्रंथ वेष रखते हैं, केशलोंच करते हैं, पिच्छी-कमण्डलु रखते हैं और स्नान आदि नहीं करते हैं। यही उनका द्रव्यलिंग है तथा उस वेष में छठे-सातवें गुणस्थानरूप भावों का होना भावलिंग है। कदाचित् उन मुनि के

1. उपासकाध्ययन गाथा 796 से 798, 818 से 822 तक।
2. विन्यस्यैदंयुगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव।
भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत् कुतः श्रेयाऽतिचर्चिनाम्।।64।। (सागार धर्मामृत)
3. द्रव्यलिंगं समास्थाय भावलिंगी भवेन्मुनिः। मुद्रा सर्वत्रमान्या स्यान्निर्मुद्रो नैव मन्यते।
राजमुद्राधरात्यंतहीनवच्छास्त्रनिर्णयः।। (नीतिसार, श्लोक 74 से 77)

पाँचवें, चौथे आदि गुणस्थानरूप भाव हो जावें तो भी वे द्रव्यलिंगी माने जायेंगे भावलिंगी नहीं। ऐसे ही यदि पहले गुणस्थान के भाव हो जाते हैं तब तो वे द्रव्यलिंगी हैं ही हैं। अभव्य मुनि ऊपर से निर्दोष, निरतिचार चर्या पालते हुए भी और ग्यारह अंग के ज्ञानी होते हुये भी भावों से मिथ्यात्वगुणस्थान में ही रहते हैं, अतः ये द्रव्यलिंगी ही हैं।

तथा मूलगुणों में कदाचित् दोष लग भी जावे किन्तु छठे-सातवें गुणस्थान में रहने वाले मुनि को पुलाक संज्ञा दी है, वे भावलिंगी हैं।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि भावलिंगी मुनि का निर्णय हम आप जैसे अल्पज्ञ जनों से परे है। हमें तो मुनि के द्रव्य वेष और बाह्य आचरण को देखकर ही मुनिमुद्रा को पूज्य मानकर उनका यथोचित सत्कार करना चाहिये।

## मुनियों की ये चर्यायें आगम के अनुकूल हैं या प्रतिकूल ?

**शंका**—निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि तो पूज्य होते हैं किन्तु वर्तमान के मुनियों में बहुत कुछ शिथिलाचार दिख रहा है इसलिए ये वर्तमान के मुनि पूज्य नहीं हैं ?

**प्रतिशंका**—आपकी दृष्टि में वे शिथिलाचार क्या-क्या हैं ?

**(1) शंका**—"अनेकों हैं। हाँ, देखिए—"

जहाँ पर वे पहुँचते हैं लोग उनके निमित्त से ही आहार बनाते हैं और वे उसे ग्रहण करते हैं अतः आजकल के सभी मुनि उद्दिष्ट आहार करते हैं ?

**समाधान**—इस विषय को आगम से समझने की आवश्यकता है। मूलाचार आदि ग्रंथों में क्या विधान है और पुराणों में महामुनियों की चर्या के कैसे-कैसे उदाहरण मिलते हैं। उन्हें अवश्य समझना चाहिए, देखिए—

'श्री कुंदकुंददेव कहते हैं कि कृत, कारित, अनुमोदना से रहित प्रासुक और प्रशस्त आहार जो कि पर के द्वारा दिया गया है उसे समभावों से ग्रहण करना एषणा समिति है।[1] श्री अमृतचंद्रसूरि भी कहते हैं—

'दाता के सात गुणों से युक्त गृहस्थ को स्व और पर के अनुग्रह के हेतु जातरूपधारी अतिथि के लिए द्रव्यविशेष का विधिवत् अवश्य ही भाग करना चाहिए। इसी का नाम अतिथिसंविभाग व्रत है। अर्थात् "अतिथि के लिए सम्यक् प्रकार से विभाग करना अतिथि संविभाग है।[2]" पुराणों में देखिए—पूर्वविदेह के वत्सकावती देश की प्रभाकरी नगरी के राजा प्रीतिवर्धन किसी समय निकट के पर्वत पर ठहरे थे। पुरोहित ने कहा कि राजन्! आज आपको

1. नियमसार अ. 4। 2. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।



विशेष लाभ का निमित्त है। .....पुनः राजाज्ञा से पुरोहित ने नगर में घोषणा करा दी कि 'आज राजा के महान् उत्सव का दिन होने से सभी लोग घर के आँगन को, नगर की गलियों को सुगन्धित जल से सींचकर इस प्रकार फूल बिखेर दो कि बीच में कहीं कोई रंध्र खाली न रहे।' .....एक मासोपवासी पिहितास्रव नाम के मुनि चर्या के लिये नगर में जा रहे थे। सर्वत्र पुष्पमय गलियों को देखकर वापस उसी पर्वत पर राजा के शिविर की तरफ आ गये। राजा ने पड़गाहन कर आहार दिया उस समय देवों ने पंचाश्चर्य वृष्टि की।"[1]

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि राजा ने मुनि के अपने यहाँ आहार हेतु ही उस दिन सारे नगर का मार्ग अप्रासुक करवाया और आहार दिया किन्तु इसमें मुनि की कृत, कारित, अनुमोदना आदि न होने से वे निर्दोष ही रहे।

अन्य उदाहरण और हैं—"नंदिषेण मुनिराज ग्यारह अंग के धारी थे और अनेक ऋद्धियों के स्वामी थे। एक दिन इंद्र द्वारा सभा में उनके वैयावृत्य गुण की प्रशंसा होने पर एक देव परीक्षा हेतु रुग्ण मुनि का रूप बनाकर वहाँ आया। नंदिषेण ने यथोचित परिचर्या करके उससे पूछा कि हे मुने! आपकी किस भोजन में रुचि है ? मुनि ने कहा—पूर्वदेश के धान का भात, पाँचाल देश के मूँग की दाल, पश्चिम देश की गायों का घी और कलिंग देश की गाय का दूध इत्यादि मिल जाये तो मैं स्वस्थ हो जाऊँ। मुनि नंदिषेण ने गोचरी बेला में जाकर अपनी ऋद्धियों के बल से उपर्युक्त चीजें उपलब्ध कराकर लाकर उन्हें आहार करा दिया।"[2]

इससे स्पष्ट है कि श्रावक मुनि वैयावृत्य हेतु अपनी ऋद्धियों का भी प्रयोग करते थे और मुनि द्वारा बताई हुई वस्तुओं का आहार प्रयोग भी कराते थे, इत्यादि।

"एक समय श्रीकृष्ण ने मुनिराज से पूछा—"भगवन्! आपके इस रोग में कौन-सी औषधि हितकर होगी। मुनिराज ने कहा यदि कापिष्ट चूर्ण मिल जाये तो यह रोग शांत हो जायेगा।".....श्रीकृष्ण ने अपने घर में औषधि आदि की व्यवस्था कराकर नगर में सर्वत्र उन मुनि को पड़गाहन करने की मनाही कर दी। .....मुनि चर्या हेतु भ्रमण कर अंत में वहीं आ गये। रुक्मिणी ने पड़गाहन कर विधिवत् आहार दिया। .....कुछ दिन बाद वह रोग समाप्त हो गया।"[3]

1. आदि पु. पर्व 8। 2. ...गत्वा गोचरवेलायामानीय सहसा ददौ।।164।। (हरिवंश पु., सर्ग 18) 3. श्रेणिक चरित सर्ग 11।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि श्रावक मुनि के उद्देश्य से भोजन, औषधि आदि बनाकर देते थे और साधु अनभिज्ञ रहकर आहार लेते थे अतः वे निर्दोष आहार के करने वाले ही रहते थे।

**(2) शंका**—आजकल के मुनि अधिकतर ग्राम या शहरों में ठहरते हैं ?

**समाधान**—भावसंग्रह, भद्रबाहु चरित, पद्मनंदिपंचविंशतिका आदि ग्रंथों में मुनियों को इस पंचमकाल में ग्राम या नगर के मंदिर, धर्मशाला आदि में ठहरने का विधान है।[1]

प्रथमानुयोग में भी अनेकों उदाहरण हैं।

"एक समय सात ऋषि अयोध्या में आहारार्थ आये। आहार करके मंदिर में गए। द्युति नामक भट्टारक ने उनकी वंदना की और रत्नत्रय कुशल पूछा।"[2]

ये 'द्युति' महान आचार्य थे पद्मपुराण में कई जगह इनके संघ सहित अयोध्या के मंदिर में रहने का प्रकरण आया है। इससे चतुर्थ काल में भी मुनि शहरों में रहते थे यह स्पष्ट है।

"देविल कुंभकार ने धर्मशाला में मुनि को ठहरा दिया"[3] ऐसा अभयदान के कथानक में आया है।

"मणिमाली मुनि के स्वस्थ हो जाने पर श्रावकों के आग्रह से उन्होंने उसी उज्जयिनी नगरी में उसी जिनदत्त सेठ के घर चौमासा किया।"[4]

**(3) शंका**—आजकल के मुनि एक स्थान पर महीनों रहते हैं जबकि पाँच दिन से अधिक नहीं रहना चाहिए ?

**समाधान**—"अनगार धर्मामृत, मूलाचार आदि ग्रंथों में एक मास तक एक ग्राम में रहने का विधान है[5]।" यह पाँच दिन रहने की चर्या तो विशेष मुनियों के लिए है।

**(4) शंका**—कुछ साधु डोली या नाव में बैठकर विहार करते हैं ?

**समाधान**—"डोली में बैठकर गमन करने से आचार्य उन्हें मार्गशुद्धि (मार्ग गमन प्रायश्चित) से दूनी शुद्धि दें।"[6]

इस कथन से अस्वस्थ अवस्था में डोली में बैठने का विधान स्पष्ट है।

1. भावसंग्रह...। भद्रबाहु च.स.4। "संप्रत्यत्र कलौ काले जिनगेहे मुनिस्थितिः।'
(पद्मनंदिपंचविंशतिका पृ.128।)
2. पद्मपुराण, पर्व 92। 3. आराधनाकथाकोश, कथा 112। 4. श्रेणिक चरित्र, सर्ग 11। 5. अनगार अ. 9, मूलाचार अ...। 6. प्रायश्चितचूलिका।



नाव का विधान भी मिलता है। यथा—"जल में प्रवेश करते समय मुनि धूलि को पिच्छी से साफ कर जल में प्रवेश करते हैं। कदाचित् बड़ी नदियों को पार करने में प्रत्याख्यान करके नौका पर चढ़ते हैं।"[1]

**(5) शंका**—आजकल के आचार्य बहुत बड़े संघ का परिकर रखते हैं ?

**समाधान**—यशस्तिलकचंपू में श्री सुदत्त नामक आचार्य के संघ वर्णन पढ़ते समय उसकी विशालता का परिचय हो जाता है।"[2]

**(6) शंका**—संघ के श्रावक लोग संघ में बहुत परिग्रह रखते हैं ?

**समाधान**—संघ में श्रावक-श्राविका और ब्रह्मचारीगण रहने से वे अपने भोजन, वस्त्र आदि की व्यवस्था करेंगे, गुरुओं को भी आहारदान देंगे, मार्ग में गुरुओं के लिए समुचित व्यवस्था करेंगे। अतः उनके पास सभी वस्तुएँ रह सकती हैं।

श्रावक पहले भी मुनिसंघ में रहते थे। यथा—सभा में स्थित श्रीरामचंद्र ने अर्हद्दास सेठ को देखते ही पूछा कि, "मुनिसंघ कुशलपूर्वक है ?" सेठ ने कहा कि—"हे महाराज! आपके इस कष्ट से पृथ्वीतल पर मुनि भी परम व्यथा को प्राप्त हुए हैं[3]।"

यदि वे सेठ संघ में न होते तो उन्हें देखते ही रामचंद्र मुनिसंघ का कुशल क्यों पूछते ?

**(7) शंका**—साधु वसतिका के किवाड़ स्वयं बंद करते और खोलते हैं जबकि वसतिका बिना किवाड़ की होनी चाहिए ?

**समाधान**—भगवती आराधना में मुनियों के लिए वसतिका किवाड़ सहित बताई है। यथा—"जिसकी दीवालें मजबूत हैं, जिसमें किवाड़ हैं, जिसमें बाल, वृद्ध आदि साधु आ जा सकते हैं, ऐसी वसतिका ग्राम के बाहर होवे। उद्यानगृह, गुफा और शून्यगृह भी वसतिका के योग्य माने गए हैं[4]।"

अन्यत्र भी वर्णन है कि "यदि साधु वसतिका का दरवाजा भूल से खुला छोड़कर चले जाएँ और उसमें कदाचित् बिल्ली आदि प्रवेश कर जाए तो गुरु

1. मूलाराधना सटीक पृ. 344। 2. यशस्तिलकचंपू।
3. अर्हद्दासनामानं श्रेष्ठिनं दुष्टुमागतं। कुशलं सर्वसंघस्य पप्रच्छेह सदःस्थितः।।10।।
उवाच स महाराज व्यससेन तवामुना। व्यथनं परमं प्राप्ता यतयोऽपि महीतले।।11।।
(पद्मपुराण पर्व 119)
4. घणकुड्डे सकवाडे गामबहिं बालबुड्ढगणजोग्गे।
उज्जाणघरे गिरिकंदरे गुहाए व सुण्णघरे।।639।।भगवती आराधना।

उन्हें प्रायश्चित देवें[1]।''

**(8) शंका**—ये बैठने-सोने के पाटा-घास चटाई आदि का उपयोग करते हैं?

**समाधान**—मूलाचार में मुनियों के लिए क्षितिशयन मूलगुण के प्रकरण में चार प्रकार के संस्तर बताए गए हैं—''भूमिसंस्तर, शिलासंस्तर, फलकसंस्तर और तृणसंस्तर[2]।'' औपचारिक विनय में ''शिष्य गुरु का संस्तर करे' ऐसा वर्णन है। उसमें चटाई का भी विधान है। यथा—**''संस्तरकरणं—चट्टिकादि-प्रस्तरणं[3]।''** अनगारधर्मामृत[4] में भी चटाई का वर्णन है।

**(9) शंका**—संघ में आर्यिका, ब्रह्मचारिणी व असंयत शिष्यों को रखते हैं?

**समाधान**—यशस्तिलकचम्पू में जो सुदत्ताचार्य के संघ का वर्णन है उसमें ''क्षुल्लक अभयरूचि और क्षुल्लिका अभयमति को आहार हेतु गाँव में भेजा।' इसमें आर्यिका, क्षुल्लिका आदि संघ में रहती थीं, यह स्पष्ट है।

मूलाचार में भी आर्यिका का आचार्यत्व कौन करे ? ऐसा प्रश्न होने पर उनके गुणों का वर्णन किया है। इससे आचार शास्त्रों का विधान भी स्पष्ट हो जाता है। अनंतमती कन्या आर्यिका के पास रहती थी। जब उसके पिता अयोध्या पहुँचे तब उन्होंने उसे पहचान लिया, इत्यादि उदाहरणों से असंयतजन भी संघ में रहते थे यह स्पष्ट हो जाता है। हाँ, एक मुनि के साथ एक आर्यिका अथवा ब्रह्मचारिणी का रहना विरुद्ध है।

**(10) शंका**—श्रावकों को व्रत, अनुष्ठान व मंत्र-तंत्रादि बताते हैं ?

**समाधान**—चतुर्थकाल में भी मुनियों ने श्रावक-श्राविकाओं के दुःखों को सुनकर उन्हें कुछ न कुछ व्रत-उपवास, विधि-विधान, मंत्र आदि करके संकट दूर करने का मार्ग दिखाया था। जैसे कि मैनासुंदरी को मुनिराज ने आष्टान्हिक व्रत करने का और सिद्धचक्र यंत्र के अनुष्ठान करने का उपदेश दिया था। दशलक्षण आदि व्रतों की कथाओं में तो मुनियों द्वारा ही व्रतों के देने का विधान है। यदि मुनि मंत्रादि का प्रयोग अपने लिए मिष्ट आहार आदि हेतु से करते हैं तो दोष है अन्यथा धर्मप्रभावना आदि के लिए करने में कोई दोष नहीं, ऐसा कथन मूलाचार, मूलाराधना आदि में पाया जाता है। यथा—

''जिसके द्वारा मार्ग को प्रभावशील किया जाता है वह प्रभावना है। शास्त्रार्थ, पूजामहोत्सव, दान, व्याख्यान और मंत्र-तन्त्रादि से तथा इनके

1. प्रायश्चितचूलिका। 2. संथारवासयाणं-संस्सारश्चतुर्विधा भूमिशिलाफलकतृणभेदात्। (मूला.सटीक पृ.148) 3. मूलाचार सटीक पृ. 298। 4. अनगार ध.अ.4, श्लोक 54।



समीचीन उपदेशों से मिथ्यादृष्टि के प्रभाव को रोककर अर्हंतदेव के शासन का उद्योत करना प्रभावना है[1]।''

ऐसे ही मूलाराधना में भी कहा है[2] कि 'धर्मप्रभावना आदि के लिए मंत्रादि का प्रयोग करने में कोई दोष नहीं है। आज के युग में बहुत से लोग रोग आदि किसी संकट के समय अनेकों प्रकार के मिथ्यात्व का सेवन करने लगते हैं। बहुत सी महिलाओं ने मिथ्या देवी-देवताओं के व्रत करना शुरू कर दिया है। ऐसी स्थिति में यदि साधुगण उन्हें रागादि की शांति के लिए कोई शांतिमंत्र आदि बता देते हैं तो कोई दोष नहीं है क्योंकि मिथ्यात्व से बढ़कर संसार में और कोई महापाप नहीं है ऐसे पाप से छुड़ाने में दोष नहीं प्रत्युत् गुण ही है। श्रावक यदि किसी धन आदि के लोभ से भी धर्म का नाम लेते हैं, जाप्य आदि करते हैं तो यह उनके लिए अच्छा ही है, बुरा क्या है ?

**(11) शंका**—वृत्तपरिसंख्यान लेकर आहारार्थ शहरों में घूमते हैं तथा उनके आहार देखने हेतु लोग एकत्रित हो जाते हैं ?

**समाधान**—वृत्तपरिसंख्यान में तो भीम मुनिराज ने भाले के अग्रभाग से आहार लेने का नियम लिया था जो कि छह महीने बाद मिला था। श्री रामचंद्र जी जिस समय आहार हेतु निकले इतनी भीड़ एकत्रित हुई और इतना कोलाहल हुआ कि हाथियों ने आलानस्तंभ तोड़ दिये[3]।'

राजा वज्रजंघ जब वन में आहार दे रहे थे तब देखने वाले मंत्री, पुरोहित व नकुल, वानर आदि ने भी दान की अनुमोदना से वैसा ही महान पुण्य संचित कर लिया था अतः आहारदान को देखने वाले भी पुण्य का संचय कर लेते हैं।

**(12) शंका**—प्रभावना के लोभ में आसक्त रहते हैं ?

**समाधान**—प्रभावना सम्यग्दर्शन का आठवां अंग है जो कि मुनि और श्रावक सभी के लिए ही उपादेय है।

श्री अमृतचंद्र सूरि कहते हैं—

**आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।**
**दानतपोजिनपूजा विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः।।**[4]

रत्नत्रयरूप तेज के द्वारा हमेशा अपनी आत्मा को प्रभावित करना चाहिए और दान, तप, जिनपूजा, विद्या, अतिशय आदि के द्वारा जिनधर्म की प्रभावना

1. प्रभावणाय.....वादपूजादानव्याख्यानमंत्रतंत्रादिभिः सम्यगुपदेशैर्मिथ्यादृष्टिरोधं कृत्वार्हत्प्रणीत-शासनोद्योतनं। (मूलाचार सटीक, पृ.174)। 2. मूलाराधना, पृ.400। 3. पद्मपुराण। 4. पुरुषार्थसिद्धिउपाय।

करना चाहिए।

मुनियों के लिए भी प्रभावना अंग में यह सभी बातें मूलाचार आदि ग्रंथों में कही गई हैं।

वज्रकुमार मुनि ने भी उर्विला रानी के जैन रथ को निकलवाने के लिए विद्याधरों को आदेश दिया था। श्री अकलंकदेव ने वाद के द्वारा धर्म का उद्योत किया है। श्री कुंदकुंददेव ने भी गिरनार पर्वत पर धर्म के अतिशय के द्वारा अम्बिका कूष्मिनी को बुलाकर धर्म की प्रभावना की थी इत्यादि अनेकों उदाहरण प्रसिद्ध हैं।

उपर्युक्त सभी शंकाओं के समाधान आचार ग्रंथ और प्रथमानुयोग ग्रंथों में दिख रहे हैं। इनको देखकर भी जो आजकल के सभी मुनियों को सदोष कहते हैं वे वास्तव में श्री रविषेणाचार्य के शब्दों के अनुरूप ही हैं। यथा – सप्तर्षि मुनियों में से प्रधान मुनि शत्रुघ्न महाराज को उपदेश देते हुए कह रहे हैं –

"हे शत्रुघ्न! आगे आने वाले कलिकाल में तीव्र मिथ्यात्व से युक्त मनुष्य व्रत और गुणों से संयुक्त दिगम्बर मुद्रा के धारक मुनियों को देखकर ग्लानि करेंगे

.....हंसी करने में उद्यत कितने ही मनुष्य शांतचित्त मुनियों को तिरस्कृत कर मूढ़ मनुष्यों के लिए आहार देवेंगे। इस प्रकार अनिष्ट भावना के धारक गृहस्थ उत्तम मुनियों का तिरस्कार करके तथा मोही मुनि को बुलाकर उसके लिए योग्य आहार आदि देंगे। जिस प्रकार शिलातल पर रखा हुआ बीज यद्यपि सींचा जाय तो भी उसमें फल नहीं लगता उसी प्रकार शीलरहित मनुष्यों के लिए दिया हुआ दान भी निरर्थक ही है। जो गृहस्थ मुनियों की अवज्ञा कर गृहस्थ के लिए आहार देता है वह मूर्ख चंदन को छोड़कर बहेड़ा ग्रहण करता है। .....हे राजन्। आगे आने वाले काल में थके हुए मुनियों के लिए भिक्षा देना अपने गृहदान के समान एक बड़ा भारी आश्रय होगा।"[1]

इस प्रकरण को पढ़कर आचार्यों की आज्ञानुसार इस पंचमकाल के मुनियों की अवज्ञा न करके उनकी विनय, भक्ति आदि करते हुए अपने सम्यक्त्व धन को सुरक्षित रखना चाहिए।

1. जातरूपधरान् दृष्ट्वा साधून् व्रतगुणान्वितान्। सञ्जुगुप्सां करिष्यन्ति महामोहान्विताः जनाः।।62।।
प्रशांतहृदयान् साधून् निर्भर्त्स्य विहसोद्यता। मूढा मूढेषु दास्यंति केचिदन्नं प्रयत्नतः।।64।।
इत्थमेतं निराकृत्य प्राहूयान्यं समागतम्। यतिनो मोहिनो देयं दास्यन्त्यहितभावनाः।।65।।
बीजं शिलातले न्यस्तं सिच्यमानं सदापि हि। अनर्थकं यथा दानं तथा शीलेषु गेहिनाम्।।66।।
अवज्ञाय मुनीन् गेही गेहिने यः प्रयच्छति। त्यक्त्वा स चंदनं मूढो गृण्हात्येव विभीतकम्।।67।।
आगमिष्यति काले सा श्रान्तानां त्यक्तवेश्मनाम्। भविष्यत्याश्रयो राजन्! स्वगृहाश्रयसम्मिता।।70।।
(पद्मपुराण पर्व 92)7



# आर्यिकाओं की चर्या

**प्रश्न** – आर्यिकाओं की क्या चर्या है ?

**उत्तर** – मूलाचार में अट्ठाईस मूलगुणों का वर्णन करके औघिक और पदविभागी समाचार विधि का वर्णन किया गया है। पुनः आचार्य कहते हैं कि "जिस प्रकार से यह सर्व समाचार नीति मुनियों के लिये बतलाई गई है, उसी प्रकार से आर्यिकाओं को भी अहोरात्र इन क्रियाओं का यथायोग्य पालन करते रहना चाहिये।"[1]

इसमें जो 'यथायोग्य' पद है उससे आर्यिकाओं के लिये वृक्षमूल, आतापन, अभ्रावकाश ये तीन योग और प्रतिमायोग आदि धारण करने का निषेध है तथा उन्हें एक वस्त्र धारण करने का और बैठकर करपात्र में एक बार आहार लेने का विधान है एवं आगे बतलाया है कि परस्पर में एक-दूसरे की अनुकूलता रखते हुए तीन, पाँच, सात आदि आर्यिकायें मिलकर ही वसतिका में रहें व आहार आदि के लिए जाते समय भी मिलकर ही विचरण करें।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यिकाओं की सभी चर्या मुनियों के अनुसार होती है। मात्र दो साड़ी रखती हैं और बैठकर आहार लेती हैं इतना ही व्यवहार चर्या में अंतर है तथा इनके भावसंयम न हो सकने से संयमासंयम ही माना गया है अतः ये उपचार से महाव्रती कहलाती हैं फिर भी क्षुल्लक व ऐलक के द्वारा भी पूज्य हैं।[2]

पूर्वकाल की आर्यिकायें ग्यारह अंग तक ज्ञान प्राप्त कर लेती थीं। यथा – 'आर्यिका सुलोचना ग्यारह अंग के ज्ञान की धारक हो गई।'[3]

प्रायश्चित ग्रंथों में आर्यिकाओं की प्रायश्चित विधि भी मुनियों के बराबर बताई है और क्षुल्लक, ऐलक आदि की उससे आधी कही है। इनकी दीक्षा विधि भी मुनिदीक्षा विधि के आधार से ही की जाती है। इन सभी बातों से स्पष्ट है कि आर्यिकायें मुनि के तुल्य नवधाभक्ति की पात्र हैं।

**शंका** – क्या आर्यिकाओं की पूजा की जा सकती है ?

**समाधान** – नवधाभक्ति में पूजा भी की जाती है तथा इसके लिए प्रमाण भी मौजूद हैं। यथा –

1. एसो अज्जाणं पि य सामाचारो जहाक्खिओ पुव्वं। सव्वह्मि अहोरत्ते विभासिदव्वो जहाजोग्गं।187।। मूलाचार अ. 4।
2. सागारधर्मामृत पृ.518। 3. एकादशांगभृज्जाता सार्यिकापि सुलोचना।।52।। हरिवंश पु.पृ.213।

'मंदिर में संघ के साथ जो 'वरधर्मा' नाम की गणिनी आर्यिका ठहरी हुई थीं। रामचंद्र ने सीता के साथ उनकी पूजा की।''[1]

आर्यिकाओं के लिए 'महाव्रतपवित्रांगा, श्रमणी, संयता, महाव्रतिनी, संयमिनी' आदि शब्दों के प्रयोग शास्त्रों में आये हुये हैं। अतः आर्यिकायें भी पूज्य हैं।

**शंका**—आर्यिकायें एक स्थान पर अधिक दिन रह सकती हैं क्या ?

**समाधान**—जैसे मुनिसंघ के लिये एक ग्राम में एक मास पर्यंत रहने का विधान है ऐसे ही आर्यिकाओं के लिये भी है।

विशेष प्रसंगवश मुनि व आर्यिका एक स्थान पर रहते थे ऐसे प्रमाण मिलते हैं। जैसे—द्युति नाम के आचार्य; जब रामचंद्र वन को चले गये हैं उस समय वे वहाँ मंदिर में थे। भरत ने उनके पास प्रतिज्ञा की कि रामचंद्र के वापस आते ही मैं दीक्षा ले लूँगा। वे ही आचार्य रामचंद्र के वापस आने के बाद शत्रुघ्न के मथुरा में राज्य करने पर वहीं थे और सीता के निर्वासन के बाद भी वहीं थे

ऐसे ही जीवंधरकुमार ने अपनी माता विजया और सुनंदा के दीक्षित हो जाने पर बार-बार उनके चरण छुये और यह याचना की कि इसी नगरी में आपको रहना चाहिये, अन्यत्र जाने का स्मरण भी नहीं करना चाहिए। उनके विनयबल से जब माताओं ने ''तथास्तु' कहकर वहीं रहना स्वीकृत कर लिया तब जीवंधर स्वामी उनको प्रणाम करके अपने स्थान पर लौट आये।''[1]

इस प्रकार से अनेकों शंकाओं के समाधान चरणानुयोग और प्रथमानुयोग से प्राप्त कर यह निश्चय कर लेना चाहिए कि पंचमकाल के अंत तक मुनि, आर्यिका और श्रावक-श्राविका ऐसा चातुर्वर्ण संघ निर्दोष चर्या का पालन करते हुये विचरण करता रहेगा।

(इस प्रकार पंचमकाल में मुनियों के अस्तित्व को कहने वाला यह सातवाँ परिच्छेद पूर्ण हुआ।)

1. ''वरधर्मापि सर्वेण संघेन सहितापरम्। राघवेण ससीतेन नीता तुष्टेन पूजनम्।।128।। (पद्म पु., पर्व 37।)

2. ''पुनः पुनः प्रगृह्य पादं प्रसवित्र्योः 'अत्र नगर्यामासिका कर्तव्या। न च स्मर्तव्यान्यत्र यात्रा।' इति ययाचे। ताभ्यां च तदीयप्रश्रयबलेन 'तथा' इति प्रतिश्रुते विश्रुतवीर्यः स विश्व-भरापतिः..... निजावसथमशिश्रियत्।'' (गद्यचिंतामणि लंब 11, पृ.400)

## तथ्य क्या है ?

1. आज इस पंचमकाल में जिनकल्पी मुनि नहीं होंगे क्योंकि उत्तम संहनन का अभाव है अतः आज स्थविरकल्पी मुनि ही होंगे और उनकी चर्या संघ में कही गई है।
2. संघपरम्परा और श्रुतपरम्परा भगवान महावीरस्वामी के अनंतर से अभी तक चली आ रही है। श्री कुंदकुंद ने अपने गुरु जिनचंद्र के पट्ट पर आरोहण किया, संघ सहित गिरनार की यात्रा की, अनंतर अपने पट्ट पर श्री उमास्वामी को आचार्य बनाया।
3. श्री धरसेनाचार्य तक श्रुतपरम्परा अविच्छिन्न गुरु परिपाटी से आयी है। पुनः उनके द्वारा श्रुत प्राप्त कर पुष्पदंत-भूतबलि ने षट्खण्डागम को लिपिबद्ध किया है। ऐसे ही कषायपाहुड़ की श्रुतपरम्परा अविच्छिन्न मानी गई है।
4. नीतिसार में कथित आचार्य और उनके द्वारा प्रणीत ग्रंथ प्रमाणभूत हैं।
5. पुलाक आदि लक्षणों से युक्त मुनि भी भावलिंगी हैं और पूज्य हैं।
6. मुनि, आर्यिकाओं के संघ को नगर या शहर के मंदिर, वसतिका या धर्मशाला में रहने के लिये शास्त्र में आज्ञा है।
7. श्रावकों को आहार मात्र देने के लिये मुनियों की परीक्षा करने का अधिकार नहीं है। उन्हें पूर्व मुनि के सदृश समझकर आहार आदि देना चाहिए।
8. जब महावीर प्रभु के शासन में इक्कीस हजार वर्ष तक चातुर्वर्ण संघ रहेगा ही रहेगा तब आज के मुनियों में किसी को भी भावलिंगी श्रमण नहीं मानना अज्ञान है।

## (8)

# ग्रंथों के अध्ययन-अध्यापन की शैली

**गुरूणां परिपाट्याहं, श्रुतं लब्ध्वा नयद्वयात्।**
**निर्देशयामि भव्येभ्यः, जिनशासनवृद्धये।।10।।**

गुरुओं की परम्परा से श्रुतज्ञान को प्राप्त करके मैं दोनों नयों के आश्रय से जिनशासन की वृद्धि के लिये भव्यों को उपदेश देऊँगा।

[ अध्ययन अर्थात् ग्रंथों को पढ़ना और उसका मनन करना तथा अध्यापन अर्थात् शिष्यों को पढ़ाना, अभ्यास कराना। किसी भी शास्त्र को गुरुमुख से ही पढ़ना चाहिये, तभी उसका समीचीन-संगत-निर्दोष अर्थ ग्रहण किया जा सकता है अन्यथा गलत अर्थ धारणा में बैठ जाने से प्रायः उसका दुराग्रह भी हो जाया करता है अतः कुछ मौलिक ग्रंथ तो गुरुमुख से ही पढ़ने चाहिये।

पुनः यदि किसी ग्रंथ का स्वाध्याय किया जाता है तो उसे एक बार पढ़कर दूसरी बार अवश्य पढ़ना चाहिए जिससे उसका आद्योपांत संदर्भ समझ में आ जाता है। हो सके तो तीन, चार या कई बार भी उस ग्रंथ का स्वाध्याय करना चाहिए। तब उसको किसी को पढ़ाना चाहिए और तभी उस ग्रंथ का प्रवचन करना चाहिए।

समयसार आदि ग्रंथों की गाथायें सूत्र रूप हैं। उनका संबंध आगे पीछे के सूत्रों से रहता ही रहता है। जैसे कि ''तत्त्वार्थसूत्र'' टीकाकार श्री पूज्यपाद स्वामी और अकलंकदेव आदि आचार्यों ने एक-एक सूत्र की टीका में कहीं पीछे के या कहीं आगे के सूत्रों से संबंध जोड़कर तथा पूर्वापर विरोध न हो जावे इस बात को ध्यान में रखकर ही विशेष अर्थ स्फुट किया है। उदाहरण के लिये 'न देवाः।।' इस सूत्र का अर्थ कोई भी यही करेगा कि 'देव नहीं हैं' किन्तु ऐसा अर्थ पूर्वापर-विरुद्ध होने से इसमें पूर्व के 'नारकसंमूर्च्छिनो नपुंसकानि'।। इस सूत्र से 'नपुंसक' शब्द का अध्याहार लेकर 'देव नपुंसक नहीं होते' ऐसा अर्थ किया जाता है। ऐसे ही सर्वत्र ग्रंथों में समझना चाहिए।

इस अध्ययन-अध्यापन की शैली में हमें किन-किन बातों को समझना है ? देखिये–

गुरु कैसे होने चाहिए ? शिष्य कैसा होना चाहिए ? गुरु परम्परा से पढ़ने का क्या महत्त्व है ? ग्रंथों को पढ़ते या पढ़ाते समय 'पापभीरुता' कैसी होनी चाहिए ? ग्रंथ को पढ़ाते समय पहले उसके रहस्य को कैसे समझाना चाहिए ?



श्रावक को क्या करना चाहिए ? पूर्वाचार्यों ने किस क्रम से उपदेश दिया है ? मुनियों के आशीर्वाद देने में क्रम क्यों है ? पहले मुनिधर्म का उपदेश देना,वह किसको ? मद्य, माँसादि के त्याग और दया, दान आदि का उपदेश क्या भगवान ने दिया है ? गृहस्थ रत्नत्रय का उपदेश दे सकते हैं क्या ? कैसी कथाओं का उपदेश देना चाहिये ? इन सब बातों को समझकर ही अध्ययन-अध्यापन अथवा प्रवचन करने से अर्थ का अनर्थ नहीं होता है।]

ग्रंथों को पढ़ाने वाले मुनि या विद्वान् श्रावक उपाध्याय, गुरु अथवा अध्यापक कहलाते हैं तथा उपदेश देने वाले भी उपाध्याय या गुरु होते हैं और विद्वान् पण्डितगण वक्ता कहलाते हैं। गुरु में क्या गुण होना आवश्यक हैं ? शिष्य या श्रोतागण कैसे होने चाहिये ? गुरुपरम्परा से अध्ययन करने या उपदेश सुनने का क्या महत्त्व है ? पहले इन सभी बातों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये पुनः गुरु या वक्ता बनना चाहिए।

## गुरु कैसे हों ?

**'ग्रंथार्थतो गुरुपरम्परया यथावत्, श्रुत्वावधार्य भवभीरुतया विनेयान्।**
**ये ग्राहयंत्युभयनीतिबलेन सूत्रं,रत्नत्रयप्रणयिनो गणिनः स्तुमस्तान्।।4।।**

जो गुरु परम्परा से ग्रंथ, अर्थ और उभयरूप से सूत्र को यथावत् सुनकर और उसे अवधारण करके स्वयं संसार से भयभीत होकर शिष्यों को उभय नीति-निश्चय-व्यवहारनय की पद्धति के बल से सूत्रों को पढ़ाते हैं उन रत्नत्रय के धारक आचार्यों की हम स्तुति करते हैं।

श्री अमृतचंद्रसूरि भी कहते हैं–

**मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः।**
**व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम्।।4।।**

जिन्होंने मुख्य-निश्चयनय और उपचार-व्यवहारनय अथवा मुख्य और गौण प्रतिपादन शैली से शिष्यों के दुस्तर अज्ञान को नष्ट कर दिया है ऐसे व्यवहार और निश्चय के ज्ञाता महामुनि ही जगत में धर्मतीर्थ का प्रर्वतन करते हैं अर्थात् मोक्षमार्ग को चलाते हैं[2]।

गुणभद्रसूरि ने और भी अनेकों लक्षण किये हैं कि 'जो बुद्धिमान हो, समस्त शास्त्रों के रहस्य को जानने वाला हो, प्रश्नों को सहने में समर्थ हो, हर एक प्रश्नों के उत्तर में कुशल हो, इत्यादि गुणों से युक्त आचार्य ही वक्ता होते हैं।[3]'

1. अनगार धर्मामृत अ.1, श्लोक 4। 2. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय। 3. आत्मानुशासन श्लोक 5, 6।

श्री गुणभद्रसूरि पुनः कहते हैं कि–

**लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुं च सुलभाः पुरा।**
**दुर्लभाः कर्तुमद्यत्वे वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभाः[1]।।143।।**

पूर्वकाल में उभय लोक में हितकर ऐसे व्याख्यान को करने के लिये तथा सुनने के लिये भी बहुत से जन सुलभ थे किन्तु तदनुकूल आचरण करने के लिए दुर्लभ ही थे परन्तु वर्तमान में ऐसे व्याख्यान को कहने के लिए व सुनने के लिए भी लोग दुर्लभ हैं पुनः वैसा आचरण करना तो बहुत ही दूर की बात हो गई है।

उभय लोक के लिए हितकर किन्तु कठोर भी गुरु के वचन कैसे होते हैं–

**विकाशयंति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः।**
**रवेरिवारविंदस्य कठोराश्च गुरूक्तयः[2]।।142।।**

कठोर भी गुरु के वचन भव्यों के मन को इस प्रकार से प्रफुल्लित करते हैं कि जिस प्रकार से सूर्य की कठोर किरणें भी कमल को खिला देती हैं।

## शिष्य कैसे हों ?

शिष्य भी दुराग्रह से रहित हो तथा श्रवण, धारण आदि बुद्धि के विभव से युक्त हो, इत्यादि गुणों से युक्त शिष्य ही 'शास्य'–उपदेश के लिए पात्र है।[3]

'जिनेन्द्रदेव के वचनों को सुनने का पात्र कौन है ?' उसका लक्षण श्री अमृतचंद्रसूरि बताते हैं–

**'अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।**
**जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः।।74।।[4]**

अनिष्ट और दुस्तर पाप के स्थानस्वरूप मद्य, माँस, मधु और पंच उदुंबर फल इन आठों का त्याग करके शुद्ध बुद्धि वाले जन ही जिनधर्म की देशना के पात्र होते हैं।

**'यावज्जीवमिति त्यक्त्वा महापापानि शुद्धधीः।**
**जिनधर्मश्रुतेर्योग्यः स्यात्कृतोपनयो द्विजः।।19।।[5]**

जीवन पर्यंत के लिए मद्य आदि आठ महापापों को छोड़कर जो शुद्ध बुद्धि हो गया है और जिसका उपनयन संस्कार हुआ है ऐसा श्रावक जिनधर्म को सुनने के लिए योग्य होता है।

1. आत्मानुशासन। 2. आत्मानुशासन। 3. आत्मानुशासन श्लोक 7। 4. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय। 5. सागार धर्मामृत अ. 2।



## गुरु परम्परा का महत्त्व

इस प्रकार आगम कथित गुणों से युक्त शिष्य या श्रोता गुरु परंपरा से ही तत्त्वों को समझने का उपाय करे अन्यथा अर्थ का अनर्थ हुये बिना नहीं रहता है। इस विषय में ज्ञानार्णव में कहा है कि–

**नहि भवति निर्विगोपक्रममनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम्।**
**प्रकटितपश्चिमभागं पश्यत नृत्यं मयूरस्य।।34।।[1]**

जिसने गुरुकुल की–गुरु समूह की उपासना नहीं की है उसका विज्ञान प्रशंसा करने योग्य नहीं है किन्तु निंदा सहित ही होता है। देखो! मयूर नृत्य करते समय अपने पृष्ठ भाग (मलद्वार) को उघाड़ कर नृत्य करता है अर्थात् मयूर ने नृत्य कला किसी गुरु से नहीं सीखी है इसलिये वह नृत्य करते समय उपर्युक्त रीति से नृत्य करता है। वैसे ही जो गुरुओं से अध्ययन नहीं करते हैं उनका अध्ययन विपरीत बुद्धि को भी उत्पन्न कर देता है।

आप आचार्यों की परम्परा देखो तो स्पष्ट हो जाता है कि सभी आचार्य गुरुमुख से ही ग्रंथों का अध्ययन करते थे। धरसेनाचार्य तक गुरु परिपाटी से ही ज्ञान आया और जैसा कि पुष्पदंत भूतबली आचार्यों ने भी आचार्य धरसेन से ज्ञान पाया तथा श्री कुंदकुंददेव ने भी इन ग्रंथों का ज्ञान परम्परा से प्राप्त किया। यथा–

**एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन्।**
**गुरुपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धांतः कुण्डकुंदपुरे।।160।।**
**श्री पद्मनंदिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः।**
**ग्रंथपरिकर्मकर्त्रा षट्खण्डाद्यत्रिखंडस्य।।161।।[2]**

कर्म प्राभृत (षट्खण्डागम) और कषायप्राभृत इन दोनों सिद्धान्तों का ज्ञान गुरु-परिपाटी से कुंदकुंदपुर के 'पद्मनंदि'[3] मुनि को प्राप्त हुआ और उन्होंने सबसे पहले षट्खंडागम के प्रथम तीन खण्डों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नाम की टीका रची।

जब महान अध्यात्म शिरोमणि श्री कुंदकुंददेव ने गुरु परम्परा से ज्ञान प्राप्त किया तब ग्रंथ रचना की। पुनः आज यदि उनके ग्रंथों का स्वाध्याय करने वाले लोग-गुरुओं के परम्परागत अर्थ की उपेक्षा करके मनमाना अर्थ करेंगे तो अनर्थ होना स्वाभाविक ही है।

1. ज्ञानार्णव पृ.160। 2. इंद्रनंदि श्रुतावतार। 3. कुंदकुंददेव के 5 नामों में एक नाम है।

गुरुओं की परम्परा से ज्ञान प्राप्त करने का महत्त्व गुर्वावली में बहुत ही अच्छी तरह से बताया गया है। उन गुर्वावली, पट्टावली आदि का भी मनन करना चाहिए।

## पूर्वाचार्यों की पापभीरुता

ग्रंथों को पढ़ाते समय विद्वान् के मुख से अथवा उपदेश करते समय वक्ता के मुख से पूर्वाचार्यों के प्रति श्रद्धा का निर्झर प्रवाहित हो जाना चाहिए। जैसे कि आचार्य विद्यानंदि, आचार्य वीरसेन और आचार्य वसुनंदि आदि के शब्दों में दिखता है। यथा–

"अब पुष्पदंत भट्टारक अंतिम गुणस्थान के प्रतिपादन हेतु, अर्थरूप से अर्हंत परमेष्ठी के मुख से निकले हुये, गणधर देव के द्वारा गूँथे गये शब्द रचना वाले, प्रवाहरूप से कभी भी नाश को नहीं प्राप्त होने वाले और सम्पूर्ण दोषों से रहित होने से निर्दोष आगे के सूत्र कहते हैं–"[1]

यहाँ श्री वीरसेनस्वामी को श्री पुष्पदंत आचार्य के प्रति कितनी श्रद्धा है और उनके वचनों को वे साक्षात् भगवान की वाणीरूप ही मान रहे हैं। यह स्पष्ट दिख रहा है। आगे और देखिये–

"हमारे यहाँ आर्षपरंपरा का विच्छेद भी नहीं है क्योंकि जिसका दोष–आवरण रहित अरहंत देव ने अर्थरूप से व्याख्यान किया है जिसको चार ज्ञानधारी, निर्दोष गणधर देव ने धारण किया है, जो ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न गुरु परम्परा से चला आ रहा है, जिसका पहले का वाच्य-वाचक भाव अभी तक नष्ट नहीं हुआ है और जो दोषावरण से तथा निष्प्रतिपक्ष सत्यस्वभाव वाले पुरुष के द्वारा व्याख्यात होने से श्रद्धा के योग्य है ऐसे आगम की आज भी उपलब्धि हो रही है।"

**शंका**–आधुनिक आगम अप्रमाण है क्योंकि अर्वाचीन पुरुषों ने इसका अर्थ किया है ?

**समाधान**–ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान-विज्ञान से सहित होने से प्रमाणता को प्राप्त इस युग के आचार्यों द्वारा इसके अर्थ का व्याख्यान किया गया है इसलिये आधुनिक आगम भी प्रमाण है।

**शंका**–छद्मस्थ सत्यवादी कैसे हो सकते हैं ?

**समाधान**–ऐसा नहीं है, क्योंकि श्रुत के अनुसार व्याख्याता आचार्यों को प्रमाण मानने में कोई विरोध नहीं है।

1. धवला पु. 1, पृ.193।



**शंका**–आगम का यह अर्थ प्रामाणिक गुरु परम्परा के क्रम से आया है यह कैसे निश्चय किया जाये ?

**समाधान**–"नहीं, क्योंकि....ज्ञान-विज्ञान से युक्त इस युग के अनेक आचार्यों के उपदेश से उसकी प्रमाणता जाननी चाहिए।....."[1] और भी देखिये–

कषाय प्राभृतकार पहले आठ कषाय का क्षय, पीछे सोलह प्रकृति का क्षय मानते हैं किन्तु सत्कर्मप्राभृतकार (षट्खंडागमकार) पहले सोलह का नाश मानकर आठ कषाय का नाश मानते हैं। इस पर चर्चा चली कि दोनों में से कोई एक ही वाक्य सूत्ररूप प्रमाणीक होना चाहिए। इस पर आचार्य वीरसेन दोनों आगम को सूत्र कह रहे हैं। वे कह रहे हैं कि–

"जिनका अर्थरूप से तीर्थंकरों ने प्रतिपादन किया है और गणधरदेव ने जिनकी ग्रंथ रचना की ऐसे द्वादशांग आचार्य परम्परा से निरंतर चले आ रहे हैं। परन्तु काल के प्रभाव से उत्तरोत्तर बुद्धि के क्षीण होने पर और उन अंगों के धारण करने वाले योग्य पात्र के अभाव में वे उत्तरोत्तर क्षीण होते हुय आ रहे हैं। इसलिये जिन आचार्यों ने आगे श्रेष्ठ बुद्धिवाले पुरुषों का अभाव देखा **जो अत्यन्त पापभीरु थे और जिन्होंने गुरु परम्परा से श्रुतार्थ ग्रहण किया था उन आचार्यों ने तीर्थ विच्छेद के भय से उस समय अवशिष्ट रहे हुए अंग संबंधी अर्थ को पोथियों में लिपिबद्ध किया, अतएव उनमें असूत्रपना नहीं आ सकता।**

**शंका**–यदि ऐसा है तो इन दोनों ही वचनों को द्वादशांग का अवयव होने से सूत्रपना प्राप्त हो जायेगा ?

**समाधान**–दोनों में कोई एक ही सूत्र हो सकता है, दोनों नहीं, क्योंकि दोनों में परस्पर विरोध है।

**शंका**–पुनः उत्सूत्र लिखने वाले आचार्य पापभीरु कैसे हो सकते हैं ?

**समाधान**–यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि दोनों प्रकार के वचनों में से किसी एक ही के वचन संग्रह करने पर पापभीरुता निकल जाती है किन्तु दोनों प्रकार के वचनों का संग्रह करने वाले आचार्यों के पापभीरुता नष्ट नहीं होती है अर्थात् बनी रहती है।

पुनः प्रश्न होता है कि–**"दोण्ह वयणाणं मज्झे कं वयणं सच्चमिदि चे ? केवली सुदकेवली वा जाणादि ण अण्णो तहा णिण्णयाभावादो। वट्टमाण-कालाइरिएहि वज्जभीरुहि दोण्हं पि संगहो कायव्वो अण्णहा वज्जभीरुत्त-विणासादो त्ति।"**

1. धवला पु. 1, पृ. 197, 198।

**शंका**–दोनों प्रकार के वचनों में से किसी वचन को सत्य माना जाये ?

**समाधान**–इस बात को केवली या श्रुतकेवली जानते हैं, दूसरा कोई नहीं जानता। क्योंकि, इस समय उसका निर्णय नहीं हो सकता है इसलिये पापभीरु वर्तमान के आचार्यों को दोनों का ही संग्रह करना चाहिये अन्यथा पापभीरुता का विनाश हो जायेगा।''[1]

ऐसे ही अन्यत्र भी दो मत आ जाने पर प्रश्नोत्तरमाला चलती है। पुनः शिष्य कहता है कि–

**शंका**–दोनों वचनों का संग्रह करने वाला संशय मिथ्यादृष्टि हो जायेगा ?

**समाधान**–नहीं, क्योंकि संग्रह करने वाले के 'यह सूत्र कथित ही है' इस प्रकार का श्रद्धान पाया जाता है, अतएव उसके संदेह नहीं हो सकता है।''[2]

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि–

**प्रश्न**–आर्ष को प्रमाण कैसे माना जाये ?

**उत्तर**–जैसे प्रत्यक्ष स्वभावतः प्रमाण है वैसे ही आर्ष भी स्वभावतः प्रमाण है''[3]।

आचार्य वीरसेन स्वामी तो स्पष्ट कहते हैं कि–''आगम केवलज्ञानपूर्वक उत्पन्न हुआ है, अतः आगम में अनुमान का प्रयोग नहीं हो सकता।''[4]

जहाँ कहीं भी दो मत के आने पर शंका उठी है वहीं पर धवलाकार ने ऐसा समाधान दिया है। यथा–

''यह सूत्र है, यह सूत्र नहीं है' ऐसा आगमनिपुणजन कह सकते हैं किन्तु हम यहाँ कहने के लिये समर्थ नहीं हैं, क्योंकि हमें वैसा उपदेश प्राप्त नहीं है।''[5]

इससे अधिक और पापभीरुता क्या होगी, कहिये ? जबकि वीरसेन स्वामी धवला, जयधवला टीकाकर्ता भी अपने को 'आगमनिपुण' नहीं मानते हैं।

आगे और देखिये–

**शंका**–बादर निगोद जीवों से प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित जीवों को यहाँ सूत्र में वनस्पति संज्ञा क्यों नहीं दी ?

**समाधान**–**'गोदमो एत्थ पुच्छेयव्वो।'** यहाँ गौतमस्वामी से पूछना चाहिए।''[6]

कषायप्राभृत में भी कहा है कि–

''प्रमाण के लिये प्रमाण नहीं चाहिये और आगम स्वयं प्रमाण है।[7]

1. धवला पु.1, पृ. 222, 223। 2. धवला पु. 1, पृ. 264। 3. धवला पु.1, पृ. 316। 4. धवला पु.6, पृ.151। 5. धवला पु.7, पृ. 507। 6. धवला पु. 7, पृ. 541।7. जयधवला पु.1, पृ.334।



मूलाचार में देवियों की आयु के बारे में गाथायें आई हैं। उन दोनों में अंतर है। यथा–

'सौधर्म स्वर्ग में देवियों की उत्कृष्ट आयु 5 पल्य, ईशान में 7, सानत्कुमार में 9, माहेन्द्र में 11, ब्रह्म में 13, ब्रह्मोत्तर में 15, लांतव में 17, कापिष्ठ में 19, शुक्र में 21, महाशुक्र में 23, शतार में 25, सहस्रार में 27, आनत में 34, प्राणत में 41, आरण में 48 और अच्युत में 55 पल्य है।

दूसरी गाथा में कहते हैं– सौधर्म-ईशान में 5 पल्य, सानत्कुमार युगल में 17, ब्रह्मयुगल में 25, लांतवयुगल में 45, शुक्रयुगल में 40, शतारयुगल में 45, आनतयुगल में 50 और आरण अच्युत में 55 पल्य है।

इसकी टीका में श्री वसुनंदि सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य कहते हैं–

**''.....द्वौ अपि उपदेशौ ग्राह्यौ सूत्रद्वयोपदेशात्, द्वयोर्मध्ये एकेन सत्येन भवितव्यं, नात्र संदेहमिथ्यात्वं, यदर्हत्प्रणीतं तत्सत्यमिति संदेहाभावात्। छद्मस्थैरुक्त विवेकः कर्तुं न शक्यतेऽतो मिथ्यात्वभयादेव द्वयोर्ग्रहणमिति।''**[1]

दोनों ही उपदेश ग्रहण करना चाहिये क्योंकि दोनों ही सूत्र के उपदेश हैं। यद्यपि यह निश्चित है कि दोनों में से कोई एक ही सत्य होना चाहिये। इस विषय में संशयमिथ्यात्व भी नहीं है क्योंकि 'जो अर्हंतदेव द्वारा प्रणीत है वही सत्य है' इस प्रकार से संशय का अभाव है क्योंकि छद्मस्थों को यह विवेक करना शक्य नहीं है इसलिये मिथ्यात्व के भय से ही दोनों को ग्रहण करना चाहिये।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में श्री विद्यानंदि महोदय तत्त्वार्थसूत्र को आप्तमूलक सिद्ध कर रहे हैं–

**''संप्रदायाव्यवच्छेदाविरोधादधुना नृणाम्।**
**सद्गोत्राद्युपदेशोऽत्र यद्वत्तद्वद्विचारतः।।6।।**
**प्रमाणमागमः सूत्रमाप्तमूलत्वसिद्धितः।।''**[2]

संप्रदाय–परम्परा के व्यवच्छेद का अविरोध होने से यह सूत्र आगम प्रमाण है क्योंकि यह आप्तमूलक सिद्ध है। जैसे–आजकल मनुष्यों के सद्गोत्र (काश्यप आादि) आदि का उपदेश प्रवाहरूप से पाया जाता है। उसी प्रकार से विचार करने से यह सूत्ररूप आगम पूर्णतया प्रमाणभूत ही है।

कषायप्राभृत ग्रंथ के प्रति श्रद्धा देखिये–

1. मूलाचार, पर्याप्त्यधिकार गा.79, 80। 2. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक मूल, पृ.8।

स्वयं जयधवलाकार प्रस्तुत ग्रंथ के गाथा सूत्रों और चूर्णिसूत्रों को किस श्रद्धा और भक्ति से देखते हैं, यह उन्हीं के शब्दों में देखिये। एक स्थान पर शिष्य के द्वारा यह शंका किये जाने पर कि यह कैसे जाना ? इसके उत्तर में श्री वीरसेनाचार्य कहते हैं–

**''एदम्हादो विउलगिरिमत्थयत्थवड्ढमाणदिवायरादो विणिग्गमिय गोदम-लोहज्ज-जंवुसामियादि आइरियपरंपराए आगंतूण गुणहराइरियं पाविय गाहास-रूवेण परिणमिय अज्जमंखुणागहत्थीहितो जयिवसहमुहणयिय चुण्णिसुत्तायारेण परिणददिव्वज्झुणिकिरणादो णव्वदे।** (जयध.आ.पत्र 313)

''विपुलाचल के शिखर पर विराजमान वर्धमान दिवाकर से प्रगट होकर गौतम, लोहाचार्य और जम्बूस्वामी आदि की आचार्य परम्परा से आकर और गुणधराचार्य को प्राप्त होकर गाथा स्वरूप से परिणत हो पुनः आर्यमंक्षु और नागहस्ती के द्वारा यतिवृषभ को प्राप्त होकर और उनके मुखकमल से चूर्णिसूत्र के आकार से परिणत दिव्यध्वनिरूप किरण से जानते हैं।''[1]

इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कषायप्राभृत ग्रंथ साक्षात् भगवान की दिव्यध्वनि तुल्य है ऐसा टीकाकार का कथन है। दूसरी बात यह है कि आचार्य परम्परा की महत्ता पर पूर्ण प्रकाश दिख रहा है। 'गुणधराचार्य ने आचार्य परम्परा से ज्ञान पाया और गाथारूप से परिणत किया। पुनः आचार्य परम्परा से ही आर्यमंक्षु और नागहस्ती मुनि को उसका ज्ञान मिला। अनंतर उनके चरण सानिध्य में ज्ञान प्राप्तकर यतिवृषभ ने चूर्णिसूत्रों की रचना की है।

जयधवलाकार ने तो इन 'कसायपाहुड़' की गाथाओं को '**अणंतत्थगब्भाओ**' अनंत अर्थ गर्भित कहा है।

इन प्रकरणों को देखकर ग्रंथों का अर्थ प्रतिपादित करते समय अथवा प्रवचन करते समय इसी प्रकार से पूर्वाचार्यों के प्रति आस्था व्यक्त करते हुए अपने और सुनने वालों के सम्यक्त्व को दृढ़ करना चाहिए।

## शास्त्र अध्यापन एवं विवेचन का क्रम

पहले तो विद्वान् या वक्ता को चारों अनुयोगों का ज्ञान होना आवश्यक है अन्यथा वह किसी न किसी एकांत को पकड़ लेंगे। पुनः नयविवक्षा और परस्पर में समन्वय की शैली का होना आवश्यक है। अनंतर जिस ग्रंथ का प्रतिपादन करना है उसको आद्योपांत पूरा पढ़ लेना, मनन कर लेना आवश्यक

1. कसायपाहुड़सुत्त प्रस्तावना से पृ.11।



है। इसके बाद यदि वे श्रोताओं को समझायेंगे तो अर्थ का अनर्थ नहीं होगा। जैसे–नियमसार को लीजिये, यह आध्यात्मिक ग्रंथ है। इसको समझने-समझाने के लिये पहले नयचक्र अथवा आलाप पद्धति के आधार से द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक तथा व्यवहार और निश्चय नयों के लक्षण समझकर अच्छी तरह श्रोताओं को समझा देना चाहिये। अनंतर पहले उस ग्रंथ के रहस्य को समझा देना चाहिये जैसे–

## नियमसार के अध्यापन का क्रम

''इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय क्या है ?''

''मार्ग और मार्ग का फल।''

''मार्ग क्या है ? और मार्ग का फल क्या है ?''

''मोक्ष का उपाय और निर्वाण।''

''मोक्ष का उपाय क्या है ?''

**''णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं।''**

''नियम से जो करने योग्य है वह नियम है, वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र है।''

''उसमें विपरीत–मिथ्यात्व का परिहार करने के लिये 'सार' शब्द लगाया है।''

''विपरीत का अर्थ आपने मिथ्यात्व कैसे किया ? क्योंकि इसमें तो निर्विकल्परूप निश्चयरत्नत्रय का वर्णन है अतः विपरीत का अर्थ विकल्प अर्थात् भेदरत्नत्रय करना चाहिये ?''

''यहीं पर अर्थ का अनर्थ हो रहा है। यदि विपरीत से भगवान कुंदकुंददेव को भेदरत्नत्रय का परिहार करना इष्ट होता तो वे स्वयं चार अधिकार तक इस व्यवहार रत्नत्रय का प्रतिपादन क्यों करते ? देखिये! चतुर्थ गाथा में वे ही कहते हैं कि **''एदेसिं तिण्हं पिय पत्तेयपरूवणा होइ।''** इन तीनों की भी प्रत्येक की प्ररूपणा करते हैं।

पुनः सम्यक्त्व का लक्षण करते हुए कहते हैं–

''आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है। पुनः आप्त, आगम और तत्त्वों का लक्षण स्वयं बताते हैं। पहले अधिकार में गाथा 19 तक जीव तत्त्व का वर्णन, द्वितीय अध्याय में गाथा 37 तक पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनका वर्णन करते हैं। यहाँ पर व्यवहार सम्यक्त्व के लिये श्रद्धान के विषयभूत छह द्रव्यों का वर्णन हो चुका है। आगे शुद्ध जीव तत्त्व का वर्णन करके नय विवक्षा खोलते हैं। यथा–

**जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीवतारिसा होंति।**
**जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण।।47।।**
**असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।**
**जय लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया।।40।।**
**एदे सव्वे भावा ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु।**
**सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा।।49।।**

जैसे सिद्धात्मा हैं वैसे भव में रहने वाले संसारी जीव हैं और इसी कारण से वे जरा, मरण, जन्म से रहित हैं और आठ गुणों से अलंकृत हैं।

जिस प्रकार से अशरीरी, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल, विशुद्धात्मा सिद्धलोक के अग्रभाग पर स्थित हैं वैसे ही जीव संसार में हैं ऐसा जानना।

पुनः तत्क्षण ही नय विवक्षा को स्पष्ट कर देते हैं–

पूर्वोक्त सभी भाव (स्थिति, अनुभाग, बंध, स्थान आदि) व्यवहारनय का आश्रय करके कहे गये हैं किन्तु शुद्धनय से संसार में सभी जीव सिद्ध स्वभाव वाले हैं।

यहाँ पर आचार्यदेव का अभिप्राय व्यवहारनय से असत्य का नहीं है। अन्यथा वे व्यवहार-निश्चय, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के द्वारा आत्मा को शुद्ध बनाने का उपाय क्यों प्रदर्शित करते। वे कह सकते थे कि 'वास्तव में मार्ग का फल निर्वाण है और मार्ग जो मोक्ष का उपाय है वह असत्य है।' क्योंकि मोक्ष का उपाय तो व्यवहारनय के आश्रित ही है किन्तु ऐसा न कहकर व्यवहार का उपदेश दिया है।

आगे पुनः अधिकार में पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति का कथन किया है। आचार्य कुंदकुंददेव ने महाव्रत और समिति में निश्चय को न घटाकर गुप्ति में अवश्य घटाया है। पुनः पंचपरमेष्ठी का लक्षण बताकर अंतिम गाथा में कहते हैं–

**एरिसयभावणाए ववहारणयस्स होदि चारित्तं।**
**णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि।।76।।**

इस पूर्वोक्त भावना में (गाथा 75 तक की भावना में) व्यवहारनय के अभिप्राय से चारित्र होता है; अब इसके आगे निश्चयनय के चारित्र को कहूँगा।

इसके आगे पाँचवें अधिकार से लेकर ग्यारहवें अधिकार तक निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय आलोचना, शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त, परमसमाधि, परमभक्ति और निश्चय परम आवश्यक इन सातों का वर्णन किया है जो ध्यान के आश्रित ही है।



आगे ग्यारहवें अधिकार के अंत में कहते हैं–

**सव्वे पुराणपुरिसा एवं आवासयं य काऊण।**
**अपमत्तपहुदिठाणं पडिवज्जय केवली जादा।।158।।**[1]

सभी पुराण पुरुष इसी प्रकार से आवश्यक क्रियाओं को करके अप्रमत्त आदि अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण आदि गुणस्थानों को प्राप्त करके केवली हो गयेहैं।

इसके आगे अंतिम बारहवें अधिकार में केवली भगवान का वर्णन करके अंत में निर्वाण को प्राप्त सिद्धों का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार से आचार्य महोदय ने अपने कहे अनुसार ग्यारह अधिकार में मार्ग और बारहवें अधिकार में मार्ग के फल को कहा है। उस मार्ग के व्यवहार-निश्चय दो भेद करके चार अधिकार तक व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग को कहकर पुनः आगे ग्यारहवें तक निश्चय मोक्षमार्ग को कहा है। इस तरह से स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहाररत्नत्रय, निश्चयरत्नत्रय के लिये साधन है। निश्चयरत्नत्रय साध्य भी है और मोक्ष के लिये साधन भी है।

इस प्रकरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रंथ मुनियों के चारित्र का ही वर्णन करता है। इसमें श्रावकों के चारित्र का कोई लेश नहीं है। इन्हीं कुंदकुंद आचार्य ने चारित्रपाहुड़ में तथा रयणसार में पृथक् से श्रावकों के सम्यक्त्व और चारित्र का वर्णन किया है। इस तरह से ग्रंथ के रहस्य को समझा देने के बाद ग्रंथ के किसी प्रकरण से अनर्थ की संभावना नहीं रहती है।

## समयसार के अध्यापन की शैली

ऐसे ही समयसार में भी समझना चाहिए। देखिये–निर्जरा अधिकार में सबसे प्रथम गाथा में कहा है कि 'सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के निमित्त हैं।' उसकी टीका में श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि–

शिष्य ने प्रश्न किया कि 'राग, द्वेष और मोह का अभाव हो जाने पर निर्जरा के निमित्त हैं, ऐसा आपने कहा किन्तु सम्यग्दृष्टि के तो रागादि हैं। पुनः किसीवस्तु का उपभोग उनके निर्जरा का कारण कैसे होगा ? आचार्य कहते हैं कि–

**''अत्र ग्रंथे वस्तुवृत्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं, यस्तु चतुर्थगुणस्थानवर्ती सरागसम्यग्दृष्टिस्तस्य गौणवृत्या ग्रहणं।''**

इस ग्रंथ में वास्तव में वीतराग सम्यग्दृष्टि का ग्रहण है चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टि का ग्रहण तो गौणरूप से है तथा मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा

1. नियमसार।

अविरतसम्यग्दृष्टि के भी अनंतानुबंधी कषायचतुष्क और मिथ्यात्वजनित रागादि नहीं है अतः उतने अंश में उसके भी निर्जरा है। आगे भी कहा है–

**''अत्र तु ग्रंथे पंचमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्या ग्रहणं, सरागसम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टि-व्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यं।''**

इस ग्रंथ में पंचम गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थान वाले वीतराग सम्यग्दृष्टियों का ही मुख्य रूप से ग्रहण है। सरागसम्यग्दृष्टियों का तो गौण रूप से ग्रहण है, सम्यग्दृष्टि के व्याख्यान के समय सर्वत्र ऐसा ही तात्पर्य समझना चाहिए।

श्री अमृतचंद्रसूरि द्वारा भी इसी अर्थ की पुष्टि हो रही है। देखिये–

श्री कुन्दकुन्ददेव ने गाथा 170 में कहा है कि **''अबंधो त्ति णाणी दु''**। ज्ञानी तो अबंधक ही है। पुनः आगे 171 वीं गाथा में कहते हैं कि–

'जिस कारण ज्ञानगुण पुनरपि जघन्य ज्ञानगुण से अन्यरूप परिणमन करता है इसी कारण वह ज्ञानगुण बंध करने वाला कहा गया है।''

इसकी टीका करते हुए श्री अमृतचंद्र सूरि कहते हैं कि–

**''स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात्।''**[1]

वह (ज्ञानगुण) यथाख्यात चारित्र के नीचे अवश्यंभावी राग-परिणाम का सद्भाव होने से बंध का कारण ही है।

श्री अमृतचंद्रसूरि की इस एक पंक्ति से ही सारे समयसार का अभिप्राय समझा जा सकता है कि ग्यारहवें गुणस्थान के पहले-पहले राग का सद्भाव रहने से अवश्यमेव बंध होता ही होता है। अतः चतुर्थ, पंचम गुणस्थानवर्ती गृहस्थ यदि अपने को वीतरागी और अबंधक मान रहे हैं सो कोरी असत् कल्पना ही है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समयसार में वीतराग सम्यग्दृष्टि को लक्ष्य करके ही सब कथन है। अतः इस ग्रंथ का विषय भी साधुवर्गों के लिये ही है न कि श्रावकों के लिये। यह इस समयसार का रहस्य हुआ।

श्रावकों के बारह व्रतरूप देशचारित्र में श्री कुंदकुंददेव ने निश्चयनय के आश्रय का प्रतिपादन नहीं किया है। किसी भी ग्रंथ में श्रावकों के व्रतों में निश्चयनय के आश्रय का विधान देखने में नहीं आया है।

**शंका–**बालकों की किन्हीं धार्मिक पाठ्य पुस्तकों में सात व्यसनों में भी

1. समयसार गा.171, टीका आत्मख्याति।



निश्चयनय को घटित करने की प्रक्रिया देखी जाती है ?

**समाधान–**कहीं, किसी भी आचार्यप्रणीत ग्रंथ में सप्त व्यसन, बारह व्रत तथा ग्यारह प्रतिमाओं में निश्चयनय का कथन देखने को नहीं मिला है क्योंकि जब मुनियों के चारित्र को भी व्यवहार कहा है तब श्रावकों का चारित्र तो व्यवहार चारित्र है ही है। यथा–

**''असुहोदा विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।**
**वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं।।45।।**

अशुभ से निवृत्ति होना और शुभ में प्रवृत्ति करना यह चारित्र है। यह व्रत, समिति और गुप्तिरूप है ऐसा व्यवहारनय से जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

इसके बाद कहते हैं–

**''बहिरब्भंतरकिरिया रोहो भवकारणपणासट्ठं।**
**णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं।।46।।**

ज्ञानी मुनि के भव के कारणों को नष्ट करने के लिये जो बाह्य और आभ्यंतर क्रियाओं का निरोध होता है वह जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित परम (निश्चय) सम्यक्चारित्र है।''[1]

यही बात पुण्य को हेय बताने के विषय में भी है। श्रावक के लिये तो पुण्य उपादेय है। मुनियों के लिये कथंचित् शुद्धोपयोग में हेय है, कथंचित् छठे गुणस्थान की सरागचर्या तक उपादेय है। श्रावक यदि पुण्य को हेय समझ लेगा तो पाप के सिवाय करेगा क्या ? क्योंकि उसे शुद्धोपयोग तो हो सकता नहीं।

श्री कुंदकुंददेव द्वादशअनुप्रेक्षा में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि–

**पुत्तकलत्तणिमित्तं अत्थं अज्जयदि पावबुद्धीए।**
**परिहरदि दयादाणं सो जीवो भमदि संसारे।।31।।**

जो जीव पाप बुद्धि द्वारा पुत्र, स्त्री के लिये धन कमाता है तथा दया और दान को नहीं करता है वह संसार में ही परिभ्रमण करता रहता है।

## श्रावक का कर्तव्य क्या है ?

श्रावक यदि समयसार, नियमसार, मूलाचार, गोम्मटसार, लब्धिसार, धवला आदि ग्रंथों को पढ़ता है तो उसे उनमें से मूलाचार से तो 'मुनियों की चर्या कैसी होती है ?' उसको समझना चाहिये। 'समयसार से' शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसे होगी ?' सो समझना चाहिये। पुनः उसे करना क्या चाहिए ?

1. द्रव्यसंग्रह।

श्रावक को कुंदकुंददेव के चारित्रपाहुड, रयणसार, श्री समंतभद्रस्वामी के रत्नकरण्डश्रावकाचार के अनुकूल अपना आचरण बनाना चाहिये। प्रथमानुयोग के अनुसार मर्यादापुरुषोत्तम रामचंद्र आदि के अनुरूप अपने जीवन को आदर्श बनाना चाहिए।

स्वामी समंतभद्राचार्य ने अपने श्रावकाचार में सम्यग्दर्शन का लक्षण बताया है पुनः उसके आठों अंगों का विवेचन किया है। अनंतर सम्यग्ज्ञान के अनुयोगों पर प्रकाश डालकर आगे कहा है कि–

**मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।**
**रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।।**

दर्शनमोहरूपी अंधकार के दूर हो जाने पर सम्यग्दर्शन का लाभ होने से ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। तब साधु रागद्वेष को दूर करने के लिए चारित्र को स्वीकार करता है। उसमें–

**सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानां।**
**अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंगानां।।**

चारित्र के सकल और विकल ऐसे दो भेद हैं। उसमें सकलचारित्र सर्वपरिग्रहत्यागी अनगारों को होता है और विकल चारित्र परिग्रहसहित गृहस्थों को होता है।

जब रत्नत्रय धर्म है और उसके अंतर्गत ही श्रावकों के सामायिक में 'पूजा, भक्ति' और अतिथिसंविभाग में 'दान', अहिंसाणुव्रत आदि में 'दया' इत्यादि पाये जाते हैं तो पुनः 'भक्ति, दान, दया' आदि को धर्म नहीं मानना यह कहाँ की बुद्धिमानी है ?

अतएव श्रावकों के लिये मुख्यरूप से श्रावकाचार और आदर्श पुरुषों व महिलाओं की जीवन गाथाएँ सुनाना चाहिये क्योंकि ग्यारह अंगों में सातवां अं उपासकाध्ययन नाम का है और मुनियों के लिये पहला अंग आचारांग नाम का है

## प्रवचन की शैली

मुनि-आर्यिका, श्रावक अथवा श्राविका जो आगम के आधार से उपदेश करते हैं। उसे 'प्रवचन' भी कहते हैं। प्रवचन करने वालों को चारों अनुयोगों का सर्वांगीण अध्ययन होना आवश्यक है पुनः कैसे पात्रों को कैसा उपदेश देना यह भी समझ लेना चाहिये।



## पूर्व के आचार्यों ने किस क्रम से उपदेश दिया है ?

पूर्वविदेह में मधु नाम के वन में भील को श्रीसागरसेन मुनिराज ने उपदेश दिया और मद्य, माँस, मधु इन तीनों का त्याग करा दिया जिसको पालन करके वह भील मरकर सौधर्म स्वर्ग में देव हो गया।

सिंह को चारणमुनियों ने सम्यक्त्व का उपदेश देकर पाँच अणुव्रत ग्रहण कराये।

खदिरसार भील को मुनि ने नमस्कार करने पर आशीर्वाद दिया 'धर्म लाभ हो' भील ने पूछा–धर्म क्या है ? मुनिराज ने कहा–"मद्य माँसादि का सेवन करना पाप है और इनको छोड़ देना धर्म है।"[1] उस धर्म की प्राप्ति ही धर्म लाभ है। उस धर्म से पुण्य होता है और पुण्य से स्वर्ग में अनुपम सुख मिलता है। तब भील ने कहा–ऐसे धर्म का अधिकारी मैं नहीं हो सकता। मुनिराज ने उसका अभिप्राय समझ लिया और पूछा–'हे भव्य! क्या तूने कभी कौवे का माँस खाया है ?' भील ने सोचकर कहा–'नहीं।' मुनि ने कहा–'तो उसे ही तू छोड़ दे।' तब उसने इस व्रत को ले लिया। कुछ दिन बाद उसे असाध्य रोग हो जाने पर वैद्य ने कौवे का माँस खाने को कहा। बहुतों के द्वारा अनेकों प्रयत्नों के किये जाने पर भी उसने नहीं खाया। अनंतर पाँचों व्रतों को ग्रहण कर मरण करके सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ वहाँ से आकर वह राजा श्रेणिक हो गया।

यहाँ पर माँस, मधु आदि के त्याग को धर्म कहा है। वह भील उतने मात्र के ही योग्य था अभी उसमें सम्यक्त्व के ग्रहण करने की क्षमता नहीं थी। आगे चलकर ये ही श्रेणिक क्षायिक सम्यक्त्वी हो गये और आगे महापद्म तीर्थंकर होने वाले हैं। उतने से धर्म ने उसकी आत्मा को उन्नति के पथ पर लगा दिया।

'मार्ग से थका धनदत्त सूर्यास्त हो जाने पर मुनियों के आश्रम में पहुँचा, वह प्यासा था। जल मांगा, तब एक मुनि ने समझाया कि रात्रि में अमृत पीना भी उचित नहीं फिर पानी की तो बात ही क्या ? मुनि के उपदेश से उसने रात्रिभोजन का त्याग कर दिया।[1] आयु पूर्ण होने पर मरकर सौधर्म स्वर्ग में देव हो गया। वहाँ से च्युत होकर पद्मरुचि नामक श्रावक हो गया। कालान्तर में ये ही रामचंद्र हुये हैं।

ऐसे ही अगणित उदाहरण प्रथमानुयोग में भरे पड़े हैं। इन प्रकरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुनिगण श्रोताओं की योग्यतानुसार ही उपदेश देते थे,

1. निवृत्तिमधुमांसादिसेवायाः पापहेतुतः।।392।।
स धर्मस्तस्य लाभो यो धर्मलाभः स उच्यते।। (उत्तर पुराण, पर्व 74)

तथा गुरु का उपदेश व उनके पास में ग्रहण किया गया छोटा सा भी व्रत परम्परा से मुक्ति का कारण हो जाता था।

## आशीर्वाद में क्रम

इसी प्रकार से मुनियों को नमस्कार करने पर वे मुनि क्रम से ही उनकी योग्यता के अनुसार आशीर्वाद देते हैं। जैसे–मुनियों को उनसे लघु मुनि नमोस्तु करते हैं तो वे मुनि या आचार्य उन्हें 'नमोस्तु' कहकर प्रतिवंदना करते हैं। यदि आर्यिकायें, क्षुल्लिकायें, ऐलक, क्षुल्लक और व्रतिक श्रावक-श्राविकायें नमोस्तु करते हैं तो वे मुनि और आचार्य उन्हें 'समाधिरस्तु' आशीर्वाद देते हैं। साधारण श्रावक-श्राविकायें नमोस्तु करते हैं तो वे उन्हें 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' ऐसा कहते हैं। जैनधर्म से बाह्य अन्य लोग नमस्कार करते हैं तो वे उन्हें 'धर्मलाभोऽस्तु' कहकर आशीर्वाद देते हैं तथा चांडाल आदि लोग नमस्कार करते हैं तो वे उन्हें 'पापंक्षयोऽस्तु' ऐसा आशीर्वाद देते हैं। ऐसा आगम[2] का विधान है।

## ऐसा भेदभाव मुनियों के मन में क्यों है ?

यह भेदभाव नहीं है प्रत्युत् व्यवस्था है। देखिये! मुनिलिंग सर्वथा पूज्य है अतः वे लघु मुनियों के नमोस्तु करने पर 'नमोस्तु' द्वारा ही प्रतिवंदना करते हैं। आर्यिका, क्षुल्लक आदि व्रतिकगण रत्नत्रय को धारण किये हुए हैं उनका अंत में समाधिपूर्वक मरण हो, अंत तक वे अपने व्रतों को पालन करते रहें अथवा धर्मध्यान और शुक्लध्यान का नाम समाधि है वह उनको प्राप्त होवें उनके लिये ऐसा आशीर्वाद उचित ही है। सामान्य श्रावक धर्म को धारण कर रहे हैं। उनके उस सच्चे धर्म की वृद्धि हो अतः 'सद्धर्मवृद्धिः' आशीर्वाद है। धर्म बाह्य लोगों को 'धर्मलाभोऽस्तु' आशीर्वाद उनके धर्म के लाभ में निमित्त बनता है तथा हिंसा आदि पाप में प्रवृत्त हुए लोगों का जब तक पाप क्षीण नहीं होगा तब तक वे धर्म को धारण करने के लिए पात्र नहीं हो पायेंगे अतः 'पापंक्षयोऽस्तु' आशीर्वाद उनके लिये ठीक ही है।

## पहले मुनिधर्म का उपदेश देना चाहिये

**शंका**–मुनियों के लिए उत्कृष्ट उपदेश देने का ही विधान आया है। जैसे–

**यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।**
**तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम्।।18।।**[3]

1. पद्मपुराण 106 पर्व, पृ.301। 2. आचारसार। 3. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।



जो अल्पमति मुनि यति धर्म का उपदेश न देकर गृहस्थ धर्म का उपदेश देता है उसको भगवान के शासन में प्रायश्चित का भागी बतलाया है पुनः मुनि गृहस्थधर्म का उपदेश कैसे दे सकते हैं ?

**समाधान**–यह सर्वथा एकांत नहीं है क्योंकि मुनि के पास कोई उच्चवर्णी श्रावक या राजा आदि पहुँचते हैं तो वे उन्हें वैसा ही उपदेश देते हैं क्योंकि वे पात्र हैंमुनिपद धारण कर सकते हैं। जैसे कि सोमदत्त ब्राह्मण गुरु के पास पहुँचकर उपदेश सुनेन की इच्छा व्यक्त करता है तब मुनि उपदेश देते हैं जिससे वह विरक्त होकर मुनि बन जाता है और अपनी गर्भवती पत्नी की भी परवाह नहीं करता है किन्तु ऐसे पात्र सब नहीं हैं अतः साधारणजन के लिए श्रावक धर्म का और जो श्रावक नहीं हैं उन्हें मद्य, माँस आदि के त्याग का ही उपदेश देना आगम सम्मत है।

## श्री कुंदकुंदस्वामी भी मुनि को पूजा आदि का उपदेश देने के लिए कहते हैं–

**दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।**
**चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य।।248।।**[1]

सम्यग्दर्शन, ज्ञान का उपदेश देना, शिष्यों का संग्रह करना और उनका पोषण करना तथा जिनेन्द्रदेव की पूजा का उपदेश देना यह सरागी मुनियों की चर्या है। यहाँ जिनेन्द्रपूजा का उपदेश श्रावक धर्म से ही सम्बन्ध रखता है।

## क्या मद्य, माँस आदि का त्याग और दया-दान का उपदेश भगवान ने दिया है?

श्री गौतमस्वामी ने स्पष्ट कहा है कि श्रावक के लिए मद्य, माँस, मधु का त्याग व बारह व्रतों का उपदेश भगवान महावीर ने दिया है।

वे कहते हैं कि–

"श्रुतं मे आयुष्मन्तः इत्यादि" हे आयुष्मन् भव्यों! मैंने सुना है कि भगवान महावीर ने मद्य, माँसादि का त्याग और पाँच अणुव्रत आदि गृहस्थ धर्म का "उपदेसिदाणि" उपदेश दिया है।"[2]

इसमें अहिंसाणुव्रत में दया और अतिथिसंविभाग में दान का उपदेश है ही है तथा श्री कुंदकुंददेव की गाथा से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आचार्यवर्ग संघ में शिष्यों का संग्रह भी करते हैं, उनका ज्ञान आदि के द्वारा तथा व्याधि के होने पर वैयावृत्य आदि के द्वारा पोषण भी करते हैं।

1. प्रवचनसार। 2. मुनि पाक्षिकप्रतिक्रमण।

## गृहस्थ रत्नत्रय का उपदेश दे सकते हैं क्या ?

इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि श्रावक या अविरत सम्यग्दृष्टिजन श्रावकों को रत्नत्रय का–मुनिधर्म का या शुद्धोपयोग का–उपदेश देने के अधिकारी नहीं है। वे तो अपने सदृश श्रावकों को श्रावक धर्म का ही उपदेश दे सकते हैं। पहली बात तो यह है कि कोई भी विद्वान पंडित यदि किसी को मुनिधर्म का उपदेश देता है तो वह हास्यास्पद ही प्रतीत होता है। दूसरी बात यह है कि आगम की भी उन्हें वैसी आज्ञा नहीं है–

यथा–'**दयाबुद्धीए साहूणं णाणदंसणचरित्तपरिच्चागो दाणं पासुअ–परिचागताणाम। ण चेदं कारणं घरत्थेसु संभवदि तत्थ चरित्ताभावादो। तिरयणुवदेसो वि ण घरत्थेसु अत्थि, तेसिं दिट्ठिवादादिउवरिमसुत्तोवदेसणे अहियाराभावादो। तदो एदे कारणं महेसिणं चेव होदि।**

"दया बुद्धि से साधुओं के द्वारा किये जाने वाले ज्ञान, दर्शन व चारित्र के दान का नाम प्रासुक परित्यागता है। यह कारण गृहस्थों में संभव नहीं है, क्योंकि उनमें चारित्र का अभाव है। **रत्नत्रय का उपदेश देना भी गृहस्थों में संभव नहीं है,** क्योंकि दृष्टिवाद आदि उपरिमश्रुत के उपदेश देने में उनका अधिकार नहीं है अतएव यह कारण महर्षियों के ही होता है।"[1]

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि विद्वान् लोग यदि उपदेष्टा बनते हैं तो वे श्रावकाचार और प्रथमानुयोग का ही उपदेश देवें, मूलाचार तथा समयसार का नहीं, चूँकि मूलाचार में मुनियों के व्यवहार रत्नत्रय का और समयसार, नियमसार, प्रवचनसार में तो मुख्यता निश्चयरत्नत्रय का व गौणतया व्यवहार रत्नत्रय का ही वर्णन है।

गुरु के गुण, शिष्य के लक्षण, पापभीरुता आदि जो भी बातें अध्ययन में बतलाई हैं वे सभी बातें प्रवचन करने वाले विद्वान में भी आवश्यक हैं। सर्वोत्तम उपदेशक तो मुनि ही होते हैं। यदि कोई विद्वान् पंडित हैं तो उन्हें भी देशचारित्रिधारी होना चाहिए। कम से कम पाँच अणुव्रत तो उन्हें भी अवश्य होना चाहिए। पुनः पूर्वाचार्यों की परम्परा के अनुसार किसी न किसी शास्त्र के आधार से पूर्वापर से अविरुद्ध अर्थ करते हुए प्रवचन करना चाहिए। प्रवचन करते समय मध्य में प्रश्नोत्तर की परम्परा न रखकर अंत में प्रश्नों के लिये श्रोताओं को अवकाश देना चाहिए। उपदेश के मध्य में प्रश्नोत्तर होने से सभा में उपदेश का क्रम भंग

1. धवला पु. 8, पृ.87।



हो जाने से सभा में अशांति हो जाती है। अनंतर भी प्रश्नों को सुनकर वक्ता को बहुत ही गंभीर मुद्रा में शांति से आगम के आधार से उत्तर देना चाहिये। उत्तर देते समय उत्तेजित नहीं होना चाहिए और न गलत शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।

उपदेश में क्या-क्या विषय लेना चाहिए ? इसके लिए धवलाकार ने भी चार प्रकार की कथाओं के कहने का आदेश दिया है।

## चार प्रकार की कथायें

धवला में चार प्रकार की कथाओं का वर्णन आया है–

प्रश्नव्याकरण नाम का दशवां अंग आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी इन चार प्रकार की कथाओं का वर्णन करता है।

**1. आक्षेपणी**–जो नाना प्रकार की एकांत दृष्टियों का और दूसरे समयों का निराकरणपूर्वक शुद्धि करके छह द्रव्य और नव पदार्थों का प्ररूपण करती है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं।

**2. विक्षेपणी**–जिसमें परसमय के द्वारा स्वसमय में दोष बतलाये जाते हैं अनंतर परसमय की आधारभूत अनेक एकांत दृष्टियों का शोधन करके स्वसमय की स्थापना की जाती है। छह द्रव्य और नौ पदार्थों का निरूपण किया जाता है उसे विक्षेपणी कहते हैं।

**संवेदनी**–पुण्य के फल का वर्णन करने वाली कथा को संवेदनी कथा कहते हैं।

**शंका**–पुण्य के फल कौन से हैं ?

**समाधान**–'तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धियाँ पुण्य के फल हैं।"[1]

**निर्वेदनी**–पाप के फल का वर्णन करने वाली कथा को निर्वेदनी कथा कहते हैं।

**शंका**–पाप के फल कौन से हैं ?

**समाधान**–नरक, तिर्यंच और कुमानुष योनियों में जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और दारिद्र्य आदि की प्राप्ति पाप के फल हैं अथवा संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य को उत्पन्न करने वाली कथा को निर्वेदनी कहते हैं।

इन कथाओं के कहते समय जो जिनवचन को नहीं जानता है ऐसे पुरुष को विक्षेपणी कथा का उपदेश नहीं करना चाहिए क्योंकि जिसने स्वसमय के

1. तित्थयर-गणहर-रिसिचक्कवट्टि-बलदेव-वासुदेव-सुर-विज्जाहररिद्धीओ। (धवला, पु१, पृ.106)

रहस्य को नहीं जाना है वह परसमय की प्रतिपादन करने वाली कथाओं के सुनने से व्याकुलचित्त होकर मिथ्यात्व को स्वीकार न कर लेवे, अतः उसके लिए इस कथा का निषेध है। उक्त तीन कथाओं द्वारा जिसने स्वसमय को अच्छी तरह समझ लिया है, जो पुण्य और पाप के स्वरूप को जानता है, जिस तरह मज्जा अर्थात् हड्डियों के मध्य में रहने वाला रस हड्डी से संसक्त होकर ही शरीर में रहता है उसी तरह जो जिनशासन में अनुरक्त है, जिनशासन में जिसको किसी प्रकार की विचिकित्सा नहीं रही है, जो भोग और रति से विरक्त है और जो तप, शील और नियम से युक्त है ऐसे पुरुष को ही पश्चात् विक्षेपणी कथा का उपदेश देना चाहिए। प्ररूपण करके उत्तमरूप से ज्ञान कराने वाले के लिये यह अकथा भी तब कथारूप हो जाती है। इसलिये योग्य पुरुष को प्राप्त करके ही साधु को कथा का उपदेश देना चाहिए।[1]

इससे यह तात्पर्य हुआ कि द्रव्यसंग्रह, तत्त्वार्थसूत्र, सवार्थसिद्धि, गोम्मटसार आदि ग्रंथ आक्षेपणी कथा में आ जायेंगे। न्याय कुमुदचंद्र, अष्टसहस्री आदि ग्रंथ विक्षेपणी कथा के अंतर्गत हो सकते हैं क्योंकि इनमें पर संप्रदाय के पूर्वपक्ष रखे जाते हैं पुनः उनका खंडन किया जाता है।

तिलोयपण्णत्ति, आदिपुराण, पद्मपुराण आदि ग्रंथों में पुण्य और पाप का फल तथा तीर्थंकर के महाकल्याणक व गणधरों की ऋद्धियों आदि के वर्णन होने से ये ग्रंथ संवेदनी और निर्वेदनी कथा के अंतर्गत आ जाते हैं।

उसी प्रकार से वसुनंदि श्रावकाचार, रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि में तथा भगवती आराधना, मूलाचार आदि में सम्यक्त्व, व्रत आदि के लक्षण व उनसे होने वाले देवगति, मोक्षगति आदि का वर्णन तथा उनके न पालने से या उनको ग्रहण कर भंग कर देने से नरक, निगोद आदि दुर्गति में जाने का भय दिखाया गया है। अतः ये आचार ग्रंथ भी इन दो कथाओं में गर्भित किये जा सकते हैं।

इस प्रकार इन चार कथाओं और प्रथमानुयोग आदि चार अनुयोगों के ग्रंथों का अध्ययन-अध्यापन व प्रवचन करना चाहिए। ये सभी केवलज्ञान प्रकट होने में साधन हैं और रत्नत्रय की प्राप्ति कराने वाले हैं।

(इस प्रकार ग्रंथों के अध्ययन-अध्यापन की शैली को कहने वाला यह आठवां परिच्छेद पूर्ण हुआ।)

1. धवला पु. 1, पृ. 106 से 108।

## तथ्य क्या है ?

1. यदि रत्नत्रयधारी गुरु से अध्ययन करने का या उपदेश सुनने का सुयोग मिले तो बहुत अच्छा, अन्यथा देव, शास्त्र, गुरु के प्रति श्रद्धावान् और पापभीरु ऐसे विद्वान् से ही जैन ग्रंथों को पढ़ना चाहिए या सुनना चाहिए।
2. अध्यापन कराते समय पूर्णतया आगम श्रद्धालु होकर उस ग्रंथ के रहस्य को समझाकर पुनः क्रम से उनका अध्ययन कराना चाहिए।
3. पढ़ाते समय शिष्य की योग्यता अवश्य देख लेनी चाहिए। उसके अनुरूप ही पढ़ाना चाहिए। जैसे – यदि शिष्य द्रव्यसंग्रह, तत्त्वार्थसूत्र और गोम्मटसार के ज्ञान से शून्य है तो वह धवलाग्रंथ या समयसार आदि ग्रंथ को पढ़ने का पात्र नहीं है।
4. प्रवचन करते समय श्रोताओं की योग्यता का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। यदि सार्वजनिक सभा है, अन्य सम्प्रदाय के लोग भी सभा में बैठे हैं तो वहाँ अहिंसा, सत्य आदि धर्म को प्रधान करके या सप्त व्यसन के त्याग पर विशेष बल देते हुए उपदेश करना चाहिए।
5. यदि सभा में धार्मिक लोग ही हैं तो उनमें प्रवचन करते हुए सम्यक्त्व व देशचारित्र पर विशेष बल देना चाहिए।
6. प्रवचन करते समय किसी पर आक्षेप करते हुए नहीं बोलना चाहिए, न किसी की निंदा ही करनी चाहिए।
7. प्रवचन करते समय किसी प्रश्न के आ जाने पर उत्तेजित नहीं होना चाहिए। अपनी मुद्रा को गंभीर और शांत रखते हुए आगम के आधार से उत्तर देना चाहिए।

## (9)

# ध्यान की आवश्यकता

**आर्तं रौद्रं च दुर्ध्यानं, निर्मूल्य त्वत्प्रसादतः।**
**धर्मध्यानं प्रपद्याहं, लप्स्ये निःश्रेयसं क्रमात्।।11।।**

हे भगवान! आर्त-रौद्र इन दो दुर्ध्यानों को आपके प्रसाद से निर्मूल करके मैं धर्मध्यान को प्राप्त करके क्रम से मोक्ष को प्राप्त करूँगा।

[ एकाग्रचिन्तानिरोध होना अर्थात् किसी एक विषय पर मन का स्थिर हो जाना ध्यान है। यह ध्यान उत्तम संहनन वाले मनुष्य के अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही हो सकता है। इस ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ऐसे चार भेद होते हैं। इसमें आर्तध्यान व रौद्रध्यान संसार के कारण हैं और "परे मोक्ष हेतू" सूत्र से धर्मध्यान व शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं। धर्मध्यान चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें तक कहा है। धवला में तो दसवें गुणस्थान तक भी धर्मध्यान माना है और शुक्लध्यान तो उत्तमसंहननधारी महामुनियों के तथा केवली भगवान के ही होता है।

इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज, वेदनाजन्य और निदान ये चार भेद आर्तध्यान के हैं। ऐसे ही हिंसानंद, मृषानंद, चौर्यानंद और परिग्रहानंद ये चार भेद रौद्रध्यान के हैं। गृहस्थाश्रम में प्रायः आर्त्तध्यान चलता ही रहता है और कभी-कभी रौद्रध्यान भी हो जाया करता है।

इन अप्रशस्त ध्यानों को हटाने व घटाने के लिये ही धर्मध्यान किया जाता है। यद्यपि गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है जैसा कि श्री शुभचंद्राचार्य ने कहा है कि 'आकाशपुष्प अथवा गधे के सीग हो सकते हैं किन्तु किसी भी देश या काल में गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है।'[1] फिर भी इस धर्मध्यान की सिद्धि के लिये गृहस्थाश्रम में ध्यान का अभ्यास और भावना तो करनी ही चाहिये। श्रावक जो दान, पूजा, शील और उपवास इन चार क्रियाओं को अथवा देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन षट्क्रियाओं को करते हैं। वह सब धर्मध्यान की भावना ही है।

आगे चलकर श्री शुभचंद्राचार्य ने यह भी कहा है कि "किन्हीं आचार्यों ने धर्मध्यान के असंयत सम्यग्दृष्टि, देशसंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत ऐसे चार स्वामी भी माने हैं।"[1]

1. ज्ञानार्णव पृ. 67।



अतः गृहस्थाश्रम की नाना चिन्ताओं में उलझे मन को कुछ विश्रान्ति देने के लिए श्रावकों को आज्ञाविचय आदि अथवा पिंडस्थ, पदस्थ आदि ध्यान का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। यद्यपि इन पिंडस्थ आदि ध्यान की सिद्धि कठिन है तो भी प्रतिदिन किया गया अभ्यास , भावना, संतति और चिंतन इन नामों की सार्थकता को तो प्राप्त ही कर लेता है और कालांतर में वही अभ्यास ध्यान की सिद्धि में सहायक बन जाता है।]

## धर्मध्यान

धर्मध्यान के चार भेद हैं–आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय।

जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित तत्त्व सूक्ष्म हैं उनका नाना प्रकार के तर्क कुतर्कों से खण्डन नहीं किया जा सकता है, आज्ञामात्र से ही वे ग्रहण करने योग्य हैं क्योंकि जिनेन्द्रदेव अन्यथावादी नहीं हैं। इस प्रकार आज्ञा का प्रमाण मानकर जो चिंतवन होता है वह आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

अपने और पर के कर्मों के नाश के उपाय का चिंतवन करना। अथवा 'मैं इन दुःखी जीवों को दुःख से निकालकर उत्तम सुख में कैसे पहुँचा दूँ'। इस प्रकार से चिंतवन करना अपायविचय धर्मध्यान है।

कर्मों के उदय से होने वाले सुख-दुःख का विचार करना अथवा कर्मों के बंध, उदय, सत्त्व का चिंतन करना विपाकविचय धर्मध्यान है।

तीन लोक के आकार का चिंतवन करना, अधो, मध्य और ऊर्ध्व लोक के आकार व तत्संबंधी जीवों के सुख-दुःख का चिंतवन करना संस्थानविचय धर्मध्यान है।

इस संस्थानविचय धर्मध्यान के पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ऐसे चार भेद होते हैं।

यहाँ पर पिंडस्थ ध्यान का किंचित् लक्षण बताया जा रहा है। इस ध्यान के अभ्यास के लिये ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यान का फल इन चार बातों को समझ लेना चाहिये। प्रसन्नात्मा भव्य जीव जो सम्यग्दृष्टि हैं, पापभीरुता आदि गुणों से सहित हैं ऐसे चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान तक के जीव धर्मध्यान के ध्याता होते हैं। पंचपरमेष्ठी, उनके वाचक अक्षर, दशधर्म व द्वादशांग के कोई भी वर्ण या पद ध्येय हैं और अपनी शुद्ध आत्मा भी ध्येय है।

1. ज्ञानार्णव पृ. 268।

एक विषय पर मन का रोक लेना ध्यान है और उसका फल परम्परा से मोक्ष है।

इस ध्यान के लिए सर्वप्रथम मंदिर या पवित्र स्थान में जाकर विधिपूर्वक 'देववंदना', करनी चाहिये। अनंतर योगमुद्रा से बैठकर निराकुल भाव रखते हुए आगे कथित पिंडस्थ ध्यान के अंतर्गत पाँच धारणाओं का क्रम से चिंतवन करना चाहिये।

## पिंडस्थध्यान

पिंड–शरीर में स्थित आत्मा का ध्यान करना पिंडस्थ ध्यान है। इसके लिए पाँच धारणायें होती हैं। पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी और तत्त्वरूपवती।

**1. पार्थिवीधारणा–**स्थिरयोग मुद्रा से बैठकर ध्यान करना कि स्वयंभूरमण समुद्र पर्यंत, मध्यलोक प्रमाण विस्तृत एक क्षीरसमुद्र है, यह निःशब्द और कल्लोल रहित है। इसके बीच में एक लाख योजन विस्तृत जम्बूद्वीप प्रमाण एक हजार पत्तों वाला सुवर्णमयी एक कमल खिला हुआ है। इसकी कर्णिका ऊपर को उठी हुई सुमेरु पर्वत के समान है। उस कर्णिका पर श्वेतवर्ण का ऊँचा सिंहासन है। उस पर मैं बैठकर अपनी आत्मा का ध्यान कर रहा हूँ। यह पार्थिवीधारणा है।

**2. आग्नेयीधारणा–**पुनः उसी तरह बैठे हुए ऐसा चिंतवन करना चाहिये कि मेरे नाभिस्थान में सोलह पत्तों वाला खिला हुआ एक श्वेत कमल है। उसकी कर्णिका पर 'हँ' ऐसा बीजाक्षर लिखा हुआ है और पूर्व दिशा के क्रम से दलों पर 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः' ये सोलह स्वर लिखे हुए हैं। इसी कमल के ठीक ऊपर हृदय स्थान में आठ पांखुड़ी वाला काले वर्ण का एक कमल है जिसके दलों पर क्रम से 'ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय ये आठ कर्म लिखे हुए हैं। यह कमल औंधे मुख वाला है। पुनः ऐसा चिंतवन करना कि नाभिकमल की कर्णिका के 'हँ' बीजाक्षर के रेफ से धुआं निकल रहा है, पुनः उसमें से अग्नि के स्फुलिंगे निकलने लगे, धीरे-धीरे अग्नि की लौ ऊपर उठी और उसमें से लपटें निकलने लगीं। वे लपटें ऊपर के कमल को जलाने लगीं। धीरे-धीरे वह अग्नि की लौ मस्तक के ऊपर पहुँच गई और ऊपर से उसकी एक लकीर दाईं ओर को और एक लकीर बाईं ओर को निकलकर आ गई। इन दोनों लकीरों ने नीचे आकर दोनों कोनों को मिलाकर त्रिकोणाकार अग्निमण्डल बना दिया। अब अंदर में धधगती अग्नि अंदर के कमल आदि को जला रही है और बाहर की अग्नि



औदारिक शरीर को भस्म कर रही है। इस त्रिकोणाकार में तीनों लकीरों में 'रं रं रं रं' ऐसे अग्नि बीजाक्षर लिखे हुए हैं तीनों कोणों में स्वस्तिक बना हुआ है तथा स्वस्तिक के पास भीतरी भाग में 'ऊँ रँ' ऐसे बीजाक्षर लिखे हुए हैं। इस त्रिकोणाकार अग्निमण्डल की अग्नि को जब जलाने को कुछ शेष नहीं रहा तो वह शांत हो जाती है और राल का पुंज इकट्ठा हो जाता है। यह आग्नेयी धारणा हुई।

**3. श्वसनाधारणा–**पुनः ऐसा चिंतवन करना कि आकाश में चारों तरफ से बहुत जोर से हवा चलने लगी जो कि मेरू को भी कंपाने में समर्थ है। ऐसा यह हवा का समूह एक गोलाकार वायुमण्डल बन गया है। इस मण्डल में 'स्वाय स्वाय' ऐसे वायुमण्डल के बीजाक्षर लिखे हुये हैं। यह वायुमण्डल आत्मा के ऊपर एकत्रित हुए सारे भस्मपुंज को उड़ा रहा है। तत्पश्चात् वह वायु स्थिर हो गई है। ऐसा चिंतवन करना श्वसना या वायवी धारणा है।

**4. वारुणीधारणा–**पुनः ऐसा सोचना कि आकाश में चारों तरफ मेघ छा गये हैं, बिजली चमक रही है, इंद्रधनुष दिख रहा है, बादल गरजने लगे। देखते ही देखते मूसलाधार वर्षा चालू हो गई है इस जल का अपने ऊपर अर्धचंद्राकार मण्डल बन गया है और उससे अमृतमय जल की सहस्र धारायें बरसती हुईं मेरी आत्मा के ऊपर लगी हुई कर्म की भस्म को प्रक्षालित कर रही हैं। इस वरुणमण्डल में 'प प प' ऐसे बीजाक्षर लिखे हुए हैं। वह वारुणीधारणा हुई।

**5. तत्त्वरूपवतीधारणा–**तत्पश्चात् ऐसा चिंतवन करना कि मेरी आत्मा सप्तधातु से रहित, पूर्णचंद्र के सदृश प्रभावशाली सर्वज्ञ समान हो गई है। अब मैं अतिशयों से युक्त और कल्याणकों की महिमा से समन्वित होकर देव, दानव, धरणेन्द्र आदि से पूजित हो गया हूँ, ऐसा ध्यान करना तत्त्वरूपवती धारणा है।

इस पिंडस्थ ध्यान का निश्चल अभ्यास करने वाले योगीजन मोक्षसुख को भी प्राप्त कर लेते हैं। इस ध्यान के प्रभाव से शाकिनी, ग्रह, भूत, पिशाच आदि कुछ भी उपद्रव करने में समर्थ नहीं होते।

**शंका–**इस ध्यान में पाँच धारणाओं में बहुत सा विषय आ जाने से इसका अभ्यास दुष्कर प्रतीत होता है। अतः किसी एक पद या एक विषय के ध्यान को बताइये ?

**समाधान–**आगे के पदस्थ ध्यान में किसी एक पद या मंत्र के ध्यान का

उपदेश है किन्तु इस पिंडस्थ को उसके पहले क्यों रखा है ? यह भी समझने की बात है। वास्तव में गृहस्थाश्रम के अनेकों प्रपंचों में उलझे हुये मन को कोई भी एक मंत्र पर किंचित् क्षण के लिये भी टिका नहीं सकता है और मन को खाली बैठना भी आता नहीं, अतः वह इधर-उधर के चक्कर में ही पुनः घूमने लगता है। अतः उसके लिए जितनी अधिक सामग्री दी जायेगी उतना ही अच्छा है। उतनी देर तक तो कम से कम बाहर के विषयों से अपने को हटाकर इन धारणाओं के चिंतन में ही उलझेगा सो तो अच्छा ही है। यदि एक पद पर ही मन को स्थिर करना सरल होता तो आचार्य पहले पदस्थ को कहकर फिर पिंडस्थ को कहते। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पिंडस्थ ध्यान का ही पहले अभ्यास करना चाहिए। अनंतर अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर पदस्थ ध्यान का भी अभ्यास करना चाहिये।

## पदस्थध्यान

पवित्र मंत्रों के अक्षर पदों का अवलम्बन लेने वाला ध्यान पदस्थध्यान है। इसके बहुत भेद हो जाते हैं।

1. 'ॐ' यह प्रणव मंत्र है, यह पंचपरमेष्ठी वाचक मंत्र समस्त वाङ्मय द्वादशांग श्रुत को प्रकाशित करने में दीपक के समान है। इसको हृदय-कमल की कर्णिका पर या ललाट आदि पवित्र स्थानों में स्थापित कर इसका श्वेत वर्ण के समान चिंतवन करना चाहिए।

2. हृदय में आठ दल के कमल की कर्णिका पर 'णमो अरहंताणं', पूर्वादि दिशाओं के दलों पर 'णमो सिद्धाणं', णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं' इन चार पदों को तथा विदिशा के दलों पर क्रम से 'सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः, सम्यक्तपसे नमः' इन चार पदों को स्थापित करके, इन नव मंत्र पदों का ध्यान करना चाहिये।

3. 'ह्रीं' इस बीजाक्षर में ऋषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकर स्थित हैं। वे अपने-अपने वर्णों से युक्त हैं। उनका ध्यान करना चाहिए।

## जाप्य

यदि ध्यान करने की क्षमता न हो तो महामंत्र आदि मंत्रों का जाप करना चाहिए। जप के वाचिक, उपांशु और मानस ऐसे तीन भेद होते हैं। वाचिक जप में मंत्र के शब्दों का उच्चारण स्पष्ट रहता है उपांशु में शब्द भीतर ही भीतर कंठ



स्थान में गूँजते रहते हैं बाहर नहीं निकल पाते हैं।

किन्तु मानस जप में बाहरी और भीतरी शब्दोच्चारण का प्रयास रुक जाता है। हृदय में ही मंत्राक्षरों का चिंतवन चलता रहता है। यह मानस जप ही एकाग्रचिंतानिरोधरूप होने से ध्यान का रूप ले लेता है।

वाचिक जाप से सौ गुणा अधिक पुण्य उपांशु जाप से होता है और उससे हजार गुणा पुण्य मानस जाप से होता है।

महामंत्र के पाँच पदों के उच्चारण में तीन श्वासोच्छ्वास होते हैं। अतः 9 बार महामंत्र के जाप में 27 उच्छ्वास हो जाते हैं। मुनियों के देववंदना आदि क्रियाओं में इन उच्छ्वासों से ही गणना बताई गई है। इस विधि से जाप करने में सहज ही प्राणायाम का अभ्यास हो जाता है।

## रूपस्थध्यान

अरहंत भगवान के स्वरूप का चिंतवन करना रूपस्थ ध्यान है। इसमें समवसरण में स्थित अर्हंत परमेष्ठी का ध्यान किया जाता है।

### रूपातीत

सिद्धों के गुणों का चिंतवन करते हुये लोकाग्र में स्थित सिद्धों का ध्यान करना रूपातीत ध्यान है अथवा सिद्ध का ध्यान करना रूपातीत ध्यान है अथवा सिद्ध का ध्यान करते हुये अपनी आत्मा को सिद्ध समझकर उसी में तन्मय हो जाना रूपातीत ध्यान है।

इन ध्यानों के अभ्यास से योगीजन निर्विकल्प ध्यान में पहुँचने की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं।

**शंका**—सम्यग्दृष्टि को तो मात्र अपनी शुद्ध आत्मा का ध्यान करना चाहिये क्योंकि पर का अवलम्बन तो अनादिकाल से लेते हैं ?

**समाधान**—यदि असंयत सम्यग्दृष्टि को गृहस्थाश्रम में रहते हुये सवस्त्र अवस्था में शुद्धात्मा का ध्यान हो जाता तो आचार्य सप्तम गुणस्थान तक इन ध्यानों को क्यों मानते ? बल्कि ज्ञानार्णव में तो स्पष्ट कहा है कि मुख्य रूप से इस ध्यान के ध्याता अप्रमत्त मुनि ही हैं, इसके नीचे के जीव गौणरूप से हैं।

शुद्धात्मा का ध्यान तो सप्तम गुणस्थान में निर्विकल्प अवस्था में ही शुरू होता है चूँकि वहीं से शुद्धोपयोग की शुरुआत है। यह बात पहले 'निश्चय-व्यवहार' के परिच्छेद में कही जा चुकी है किन्तु सविकल्प अवस्था तक तो पंचपरमेष्ठी आदि के या इन धारणाओं के अथवा मंत्र पद आदि के आश्रय से

ही ध्यान हो सकता है यह नियम है। हाँ, शुद्धात्म तत्त्व का श्रद्धान करना और उसकी भावना करना तो ठीक ही है किन्तु उसे ध्यान नाम नहीं दे सकते हैं। यह बात नियमसार की गाथा 154 के आधार से व टीकाकार के शब्दों से कही जा चुकी है कि ''पंचमकाल में हीन संहनन में ध्यानमय प्रतिक्रमण आदि शक्य नहीं है और इस काल में शुद्धात्म तत्त्व का ध्यान भी सम्भव नहीं है अतः उस अवस्था को प्राप्त करने तक आत्मतत्त्व का श्रद्धान ही करना चाहिये।''[1]

निष्कर्ष यह निकला कि पिण्डस्थध्यान के द्वारा आत्मा को शुद्ध करने का पुरुषार्थ करते हुए पदस्थ आदि ध्यान के द्वारा शुद्ध हुए और साधक ऐसी आत्माओं का और उनके नाम के पदों का आश्रय लेकर ध्यान करना चाहिए।

(इस प्रकार ध्यान की आवश्यकता को कहने वाला यह नवमाँ परिच्छेद पूर्ण हुआ।)

1. अतोऽध्यात्मध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधियां। निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतमिदम्।।264।।

## तथ्य क्या है ?

1. आर्तध्यान और रौद्रध्यान से बचने के लिए धर्मध्यान का अवलम्बन लेना चाहिए।
2. पूजा, दान, शील और उपवास अथवा देवपूजा, गुरूपास्ति आदि षट्कर्म में 'धर्मध्यान' होता है अतः ये सभी मोक्ष के कारण हैं।
3. आज्ञाविचय आदि चार धर्मध्यान और पिंडस्थ आदि ध्यान सभी मोक्ष के कारण हैं क्योंकि 'परे मोक्षहेतू' सूत्र है।
4. पिंडस्थ ध्यान का अभ्यास करने से ही पदस्थ ध्यान का अभ्यास सम्भव है अन्यथा नहीं।
5. पिंडस्थ आदि ध्यानों का चिंतवन ही एकाग्रचिन्ता निरोधरूप ध्यान के अभ्यास में कारण बनेगा।
6. इन ध्यानों के अभ्यास से कर्मों की निर्जरा के सिवाय नाना प्रकार के रोग, शोक, संकट, भय, भूत, पिशाच, क्रूरग्रह आदि भी शांत हो जाते हैं।

# सरस्वती स्तोत्र

बारह अंगंगिज्जा दंसणतिलया चरित्तवत्थहरा।
चोद्दसपुव्वाहरणा ठावे दव्वाय सुयदेवी।।1।।
आचारशिरसं सूत्र-कृतवक्त्रां सुकंठिकाम्।
स्थानेन समवायांग-व्याख्याप्रज्ञप्तिदोर्लताम्।।2।।
वाग्देवतां ज्ञातृकथो-पासकाध्ययनस्तनीम्।
अंतकृद्दशसन्नाभिमनुत्तरदशांगतः।।3।।
सुनितंबां सुजघनां प्रश्नव्याकरणश्रुतात्।
विपाकसूत्रदृग्वाद-चरणां चरणांबराम्।।4।।
सम्यक्त्वतिलकां पूर्व-चतुर्दशविभूषणाम्।
तावत्प्रकीर्णकोदीर्ण-चारुपत्रांकुरश्रियम्।।5।।
आप्तदृष्टप्रवाहौघ-द्रव्यभावाधिदेवताम्।
परब्रह्मपथादृप्तां स्यादुक्तिं भुक्तिमुक्तिदाम्।।6।।
निर्मूलमोहतिमिरक्षपणैकदक्षं,
न्यक्षेण सर्वजगदुज्ज्वलनैकतानम्।
सोषेस्व चिन्मयमहो जिनवाणि! नूनं,
प्राचीमतो जयसि देवि! तदल्पसूतिम्।।7।।
आभवादपि दुरासदमेव,
श्रायसं सुखमनन्तमचिंत्यम्।
जायतेऽद्य सुलभं खलु पुंसा,
त्वत्प्रसादत इहांब! नमस्ते।।8।।
चेतश्चमत्कारकरा जनानां,
महोदयाश्चाभ्युदयाः समस्ताः।
हस्ते कृताः शस्तजनैः प्रसादात्,
तवैव लोकांब! नमोस्तु तुभ्यम्।।9।।
सकलयुवतिसृष्टेरंब! चूणामणिस्त्वं,
त्वमसि गुणसुपुष्टेधर्मसृष्टेश्च मूलम्।
त्वमसि च जिनवाणि! स्वेष्टमुक्त्यंगमुख्या,
तदिह तव पदाब्जं भूरिभक्त्या नमामः।।10।।

1. प्रतिष्ठातिलक से।



# प्रशस्ति

सिद्धेः सौधस्य सोपानं, प्रथमं कथितं जिनैः।
तत्सम्यग्दर्शनं मेऽन्तः, नित्यमेव विराजताम्।।1।।

पंचविंशतमे ख्याते, वीराब्दे चतुरुत्तरे।
अनंताख्यचतुर्दश्यां, मासे भाद्रपदे शुभे।।2।।

हस्तिनागपुरे क्षेत्रे, शांतिनाथजिनालये।
कृतिः प्रवचनस्येयं, पूर्णा निर्देशिकाभवत्।।3।।

प्रोक्तं प्रवचनं जैनं, वचः प्रवचनं त्विति।
तस्योपदेशका मुख्या, गणेशाश्चानुसूरयः।।4।।

आरातीयाश्च विद्वान्सः, सन्तोऽप्यार्षानुसारतः।
यदीच्छन्त्युपदेष्टुं ते, पापभीरुतया जनान्।।5।।

तेषां निर्देशनार्थं तर्ह्यागमाधारतो मया।
सम्यक् प्रवचनस्यैषा, निर्देशिका ह्यलिख्यत।।6।।

जैनं प्रवचनं यावत्, वर्तेत पृथिवीतले।
सेयं निर्देशिका तावत्, विदुषां हृदि वर्तताम्।।7।।

सन्मार्गदेशिका भूयात्, मिथ्याध्वान्तमपाक्रियात्।
दद्यात् सर्वार्थसिद्धिं मे, पुष्यात् 'ज्ञानमतिं' श्रियम्।।8।।

*।।वर्धतां जिनशासनम्।।*

# भजन

**–प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी**

*तर्ज-फूलों सा चेहरा तेरा.....*

**इस युग की माँ शारदे, तू धर्म की प्राण है।**
**ज्ञानमती नाम है, ज्ञान की तू खान है, चारित्र परिधान है।।टेक.।।**

**महावीर प्रभु के शासन में अब तक,**
**कोई भी नारी न ऐसी हुई।**
**साहित्य लेखन करने की शक्ति,**
**तुझमें न जाने कैसे हुई।।**

**शास्त्र पुराणों में, भक्ति विधानों में, तेरा प्रथम नाम है विश्व में-2**
**कलियुग की माँ भारती, पूनो का तू चांद है,**
**ज्ञानमती नाम है, ज्ञान की तू खान है, चारित्र परिधान है।।**
**इस युग.....।।1।।**

**तीर्थंकरों की जन्मभूमि का,**
**उत्थान माता तुमने किया।**
**हस्तिनापुरी में जंबूद्वीप को,**
**साकार माता तुमने किया।।**

**तीर्थ अयोध्या की, कीर्ति प्रसारित की, मस्तकाभिषेक आदिनाथ का हुआ-2**
**तू जग की वागीश्वरी, धरती का सम्मान है,**
**ज्ञानमती नाम है, ज्ञान की तू खान है, चारित्र परिधान है।।**
**इस युग.....।।2।।**

**गणिनी शिरोमणि तेरी तपस्या,**
**का लाभ इस वसुधा को मिला।**
**चारित्र चक्री गुरु के सदृश ही,**
**''चंदना'' इक पुष्प जग में खिला।**

**पुष्प महकता है, चाँद चमकता है, ज्ञानमती माता के रूप में-2**
**युग युग तू जीती रहे, हम सबके अरमान हैं,**
**ज्ञानमती नाम है, ज्ञान की तू खान है, चारित्र परिधान है।।**
**इस युग.....।।3।।**



# भजन

**–प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी**

*तर्ज-पंखिड़ा.....*

**वंदना.....वंदना.....**
**वंदना करूँ मैं गणिनी ज्ञानमती की।**
**बीसवीं सदी की पहली बालसती की।।वंदना.....**

**इनके मात-पिता का, गुणानुवाद मैं करूँ।**
**इनकी जन्मभूमि का भी, साधुवाद मैं करूँ।।**

**मिलके आओ, मिलके गाओ, मिलके करो जी।**
**वन्दना चरण में करके, पुण्य भरो जी।।वंदना...।।1।।**

**इनके ज्ञान की प्रशंसा, सारी दुनिया करती है।**
**इनके नाम की प्रशंसा, पुस्तकों में मिलती है।।**

**मिलके आओ, मिलके गाओ, मिलके करो जी।**
**वंदना चरण में करके, पुण्य भरो जी।।वंदना....।।2।।**

**वीर के युग की ये, लेखिका पहली हैं।**
**ढाई सौ ग्रंथों की, लेखिका साध्वी हैं।।**

**मिलके आओ, मिलके गाओ, मिलके करो जी।**
**वंदना चरण में करके, पुण्य भरो जी।।वंदना....।।3।।**

**इनके वात्सल्य में, माँ की ममता भरी।**
**इनके सानिध्य में, मुझको समता मिली।।**

**मिलके आओ, मिलके गाओ, मिलके करो जी।**
**वंदना चरण में करके, पुण्य भरो जी।।वंदना....।।4।।**

**इनके तप त्याग में, लाभ लेते सभी।**
**''चन्दना'' भाग्य से, भक्ति करते सभी।।**

**मिलके आओ, मिलके गाओ, मिलके करो जी।**
**वंदना चरण में करके, पुण्य भरो जी।।वंदना....।।5।।**